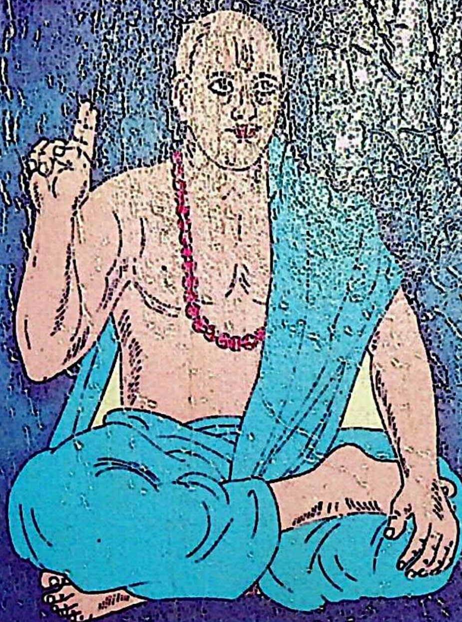
लौगाक्षिभास्करकृतः

अर्थसङ्ग्रहः

सटिप्पण 'मीमांसार्थसङ्ग्रहकौमुद्यर्थबोधिनी' -
व्याख्याद्वयविभूषितः



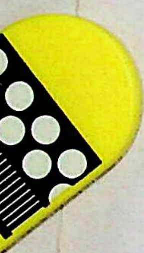
हिन्दीव्याख्याकारः

डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री



2-2

V.R.Tripathi



॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१८०

***

लौगाक्षिभास्करकृतः

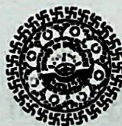
अर्थसङ्ग्रहः

सटिप्पण 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुद्यर्थबोधिनी'-
व्याख्याद्वयविभूषितः

हिन्दीव्याख्याकारः

डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री

एम०ए०, पी-एच०डी० आचार्य
अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
डी०बी०एम० कालेज, कानपुर



चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण 2008 ई०
मूल्य : 100.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 32996391

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

गौरव-आशीर्वाद

'अर्थसंग्रह' मीमांसा का उत्कृष्ट प्राथमिक ग्रन्थ है। इसकी उपयुक्त हिन्दी व्याख्या की आवश्यकता को देखकर मेरे प्रिय शिष्य डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री ने इसकी 'अर्थबोधिनी' नामक अच्छी व्याख्या लिखी। 'अर्थबोधिनी' नामानुरूप गुणयुक्त है, इसका प्रबल प्रमाण यही है कि विवेकी जिज्ञासुओं ने इसे इस तरह अपनाया कि कुछ ही दिनों में इसका द्वितीय संस्करण आवश्यक हो आया।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि इसे शिक्षित समाज में इतना आदर मिल रहा है। प्रसन्नता का दूसरा कारण यह है कि मैंने व्याख्याता डॉ० दयाशङ्कर को जिस प्रकार पढ़ाया था, उसका अच्छा प्रतिबिम्ब 'अर्थबोधिनी' में देखने को मिल रहा है। इससे मीमांसा की वैज्ञानिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता दिखाई दे रहा है। अत: एतदर्थ व्याख्याता डॉ० शास्त्री एवं प्रकाशक भारतीय प्रकाशन दोनों को आशीर्वाद है। इति।

आनन्द झा
का० सिं० द० सं० वि० वि०
दरभङ्गा (बिहार)

PROFESSOR A.P. MISRA
VICE-CHANCELLOR

Senate House
Allahabad University
Dated 17-3-80

डॉ० दयाशङ्करशास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्यकृत 'अर्थबोधिनी' व्याख्या के साथ अर्थसंग्रह का द्वितीय संस्करण पूर्वमीमांसा के विवित्सुओं के लिये बड़ा ही उपादेय एवं उपयोगी है। हमें हार्दिक सुख एवं सन्तोष हुआ है, इस सुबोध एवं स्पष्ट व्याख्या से। हिन्दी के माध्यम से संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों को सुबोध बनाने की दिशा में यह व्याख्या एक आदर्श उपस्थित करती है। एतदर्थ हम इसके विद्वान् लेखक को हार्दिक बधाई देते हैं।

आशा है, दर्शन के जिज्ञासुओं में इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होगा।

चैत्र शुक्ल प्रतिपद्, २०३६ विक्रमाब्द

अ० प्र० मिश्र

डॉ० शिवशेखर मिश्रः
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

संस्कृत-विभागः
लखनऊ विश्वविद्यालयः

अस्मच्छिष्येण दयाशङ्करशास्त्रिणा प्रणीतामन्वर्थनामधेयाम् 'अर्थबोधिनी'ति समाख्यातां सुविशदां मूलग्रन्थार्थावबोधिनीं व्याख्याम् अर्थसंग्रहनामप्रकरणग्रन्थस्य श्रीमल्लौगाक्षिभास्करकृतस्य वीक्ष्य यन्नितरां मोदतेऽस्माकं मनस्तत्र प्रणीतव्याख्यानगुणगौरवं साकल्येन सौष्ठवेन च विवेच्यपदार्थानां विवेचनमेव हेतुतामावहति। छात्राणां कृते त्वेषा व्याख्यापरिहार्येत्यपि वक्तुं शक्यते।

शिवशेखरमिश्रः
विभागाध्यक्षः

अभिप्रायः

अतिगभीरं मीमांसाशास्त्रं वैदिककर्मणां विरलप्रचारतया सुतरामिदानीं दुरवबोधं संवृत्तम्। शास्त्रस्यास्य प्रकरणग्रन्थोऽयमर्थसंग्रहो नाम। जैमिनिशास्त्रसागरे प्रविविक्षूणां ग्रन्थोऽयं नौकायते। लघुभूतस्यापि अर्थगौरवगर्भितस्यास्य प्रबन्धस्य हिन्दीभाषायामनुवादम्, अन्वर्थामर्थबोधिनीनाम्नीं व्याख्यां च प्रणीय डॉ० दयाशङ्करशास्त्रिभिः सुतरामुपकृता जिज्ञासवः।

व्याख्यायामत्र तत्र तत्र श्रुतिलिङ्गादिनिरूपणप्रसङ्गे 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इत्यादिमन्त्रभागम्, अपेक्षितस्थलेषु उपयुक्तानि वेदवचनानि च साकल्येनोद्धृत्य ससन्दर्भं प्रबन्धानुकूल्येन विवृतानि। विशेषतो मीमांसाशास्त्रे विशिष्टार्थभाजां भावनादिपदानां सोदाहरणं सप्रमाणं च विवरणं, ग्रन्थान्ते संगृहीतः अर्थसंग्रहशब्दार्थकोषोऽपि च पिपठिषूणामत्यन्तमुपकुरुत इत्यत्र नैव सन्देहः। सर्वात्मना प्रशस्यतमा श्रीदयाशङ्करशास्त्रिणामियं कृतिरिति परितुष्यामो वयम्।

13/2/75

Dr. K. KRISHNAMOORTHY
Prof. and Head of the Department of Sanskrit
KARNATAK University
DHARWAR

'You have presented the work in well divided sections and each is well introduced and clearly explained and the matter therein adequately discussed. The introduction is scholarly.'

7/2/1975

S. VENKITASUBRAMONIA IYER
M. A. Ph. D.
Professor and Head of the Department of Sanskrit
University of KERALA

'................Your Hindi Commentary has gone a long way to help the students of the Mīmāṁsā philosophy to understand some difficult places of the book with ease.

I hope the book will be appreciated by the scholars of Indian philosophy.

10/1/1976

Dr. D. C. GUHA
M.A., D. Litt.
Department of Sanskrit
University of Calcutta

समर्पण

पूज्य गुरुदेव

आचार्य पं० आनन्द झा जी

को

सादर



दो शब्द

संवत् २०२८ में साहित्य भण्डार, मेरठ से प्रकाशित ग्रन्थ का प्रथम संस्करण लगभग २ वर्षों से अप्राप्त था। अब दूसरा संस्करण आपके सामने प्रस्तुत है। लेखक को इससे बढ़कर और अधिक क्या सन्तोष हो सकता है कि पुस्तक के अध्येता एवं अध्यापक दोनों ने इसे पसन्द किया।

स्वर्गीय गुरुदेव प्रोफेसर को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर की विद्वत्ता से लेखक लाभान्वित होता रहता था। अब वे हमारे बीच नहीं हैं। लेखक श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करता है। माननीय गुरु डॉ० शिवशेखर जी मिश्र ने भूमिका में कुछ प्रतिष्ठित मीमांसकों के विषय में विस्तृत सामग्री के समावेश की इच्छा व्यक्त की थी। उनकी आज्ञा का पालन करने का प्रयास किया गया है। माननीया दीदी जी (श्रीमती डॉ० इन्दुमती जी मिश्र) का सतत कर्मठ जीवन लेखक के लिये उत्साह का स्रोत है।

जिन विद्वद्वरेण्य गुरुदेव आचार्य पं० आनन्द झा जी (भूतपूर्व अध्यक्ष—प्राच्य संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) के चरणों में बैठकर लेखक ने वर्षों अध्ययन किया है, उन्हीं को यह ग्रन्थ समर्पित है। आदरणीय गुरुदेव डॉ० शिवशेखर जी मिश्र तथा डॉ० मातृदत्त जी त्रिवेदी लेखक को सदा सस्नेह प्रेरणा देते रहे हैं। इन सभी गुरुजनों के प्रति लेखक आभार प्रकट करता है।

डॉ० बाबूराम जी पाण्डेय (कानपुर) लेखक के विशेष शुभचिन्तकों में हैं, उन्हें हार्दिक धन्यवाद। इस अवसर पर मैं डॉ० आद्याप्रसाद जी मिश्र (उपकुलपति, प्रयाग विश्वविद्यालय) के प्रति विशेष कृतज्ञताज्ञापन करना चाहूँगा, जो लेखक को उच्चकोटि के ग्रन्थों के प्रणयनहेतु प्रेरणा देते रहे हैं। उन्हीं के प्रेरणास्वरूप न्यायभाष्य के प्रथम अध्याय की व्याख्या निकट भविष्य में आपके सम्मुख आ सकती है।

सतत् अध्ययनशील विद्वान् अग्रज श्रद्धेय पं० इन्द्रदत्त जी शर्मा (कमलापुर, सीतापुर) के सम्पर्क से लेखक में बचपन से ही संस्कृत के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। लेखक की कृतियों में उस वातावरण के संस्कारों की छाप है। सर्वप्रथम वर्णों का परिचय कराने वाली मातृतुल्य स्नेहमयी परमपूज्या भाभी जी के लिये कुछ कहने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। इन दोनों विभूतियों के लिये मेरा श्रद्धापूर्वक नमन।

व्याख्या के विषय में अमूल्य सम्मतियाँ देने वाले विद्वानों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन। कार्यसम्पादन में उत्साहशील एवं व्यवहार में स्वच्छ भारतीय प्रकाशन के योगक्षेम की सतत् कामना।

लेखक

दिनाङ्क : १०-५-१९८०

भूमिका-विषयसूची

विषय-पृष्ठ



भूमिका

मीमांसा दर्शन का उद्भव एवं विकास

मीमांसा शब्द—मीमांसा' शब्द का अर्थ 'विचार' होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम सिद्धान्तरूप में तर्क का उपयोग योगसम्पादन-विधि के विषय में किया गया। वैदिक साहित्य में, यहाँ तक कि मन्त्रभाग में **मीमांसते** शब्द का प्रयोग मिलता है।[१] ब्राह्मणग्रन्थों के विभिन्न स्थलों में यागक्रियाविषयक विचार-विमर्श के अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस अर्थ में 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग कौषीतकि-जैसे परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थों में अधिक मिलता है—

Not rarely in the Brahmanas in later texts the Kausitaki, The term 'Mīmāṁsā' occurs as the designation of a discussion on some point of ritual practise[2].

मीमांसा का उद्भव—ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों की यागपरक व्याख्या हैं। यागविधान का उदय कब और कैसे हुआ, ब्राह्मणग्रन्थों में उनका अवतार कहाँ से हुआ, यह कहना कठिन है। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में यागसम्पादनविधियों का ही सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है, किन्तु वह भी स्वयं में पूर्ण नहीं है। अवश्य ही कोई मौखिक परम्परा रही होगी, जिसके आधार पर परम्परा से विभिन्न शाखाओं में निहित यागप्रक्रिया के विवेचन को समझा और समझाया जाता होगा। शनैः शनैः यागविज्ञान में समृद्धि होती गई होगी, तद्विषयक अनेक समस्यायें उठी होंगी, जिनका समाधान होता रहा होगा और मौखिक परम्परा द्वारा प्रभूत यागविज्ञान अनेक पीढ़ियों से सक्रान्त हुआ होगा। मौखिक परम्परा के ह्रासोन्मुख होने के भय से उस कर्मकाण्डविषयक ज्ञानराशि को, जो ग्रन्थ का आकार देने का प्रयास हुआ, वही स्मृतिसाहित्य है।[३] ज्यों-ज्यों कर्मकाण्ड का प्रचार बढ़ता गया तद्-विषयक अनेक समस्यायें भी उत्पन्न हुईं।

कर्मकाण्ड के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ ही अनेक प्रकार के प्रश्न उठ खड़े हुए थे—क्या सभी वैदिक वाक्यों का सम्बन्ध याग से है? मन्त्र एवं ब्राह्मणग्रन्थों में

१. उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः। (तैत्तिरीयसंहिता ७-५.७.१)

2. Keith : The karma Mīmāṁsā–Page 1

3. The old rules regularions began to be collected probably as tradition had it, and this it seems gave rise to the Smrti literature (Dasgupta : A History of India Philosophy vol. I pp. 370-71)

क्रियाओं के पूर्वापरभाव के सम्बन्ध में होने वाले विरोधप्राप्तिस्थल में दोनों में कौन मान्य होगा? अनेक प्रमाण एक ही साथ पदार्थविशेष को अनेक क्रियाओं में विनियुक्त कर रहे हों तो उनमें से कौन मान्य होगा और कौन अमान्य? क्या याग के अनुष्ठान के लिए किन्हीं अर्हताओं की आवश्यकता होती है अथवा कोई भी व्यक्ति किसी भी याग का सम्पादन करके उसका फल प्राप्त कर सकता है? क्या यागानुष्ठान की आज्ञा या प्रेरणा वेद के स्वयं अपने शब्दों द्वारा मिलती है? यदि हाँ तो किस प्रकार? किस क्रिया का अनुष्ठान कौन व्यक्ति करेगा? कौन-सी क्रिया मुख्य है और कौन उसकी अङ्गभूत? जिन यागों के विधान अपूर्ण हैं, उनकी पूर्ति कैसे की जायेगी? इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर देना था और वह भी तर्कसङ्गत—श्रुतिसङ्गत न्याय पर आधारित—कारण-निर्देशपूर्वक।

याज्ञिकों को ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तर्क का सहारा लेना पड़ा। तर्कनिष्ठ सिद्धान्तों का निर्माण हुआ और उन सिद्धान्तों को कम से कम मौखिक परम्परा के रूप में संगृहीत किया गया। उक्त प्रकार के सिद्धान्तों का निर्माण करने वाले व्यक्तियों में कुछ ऐसे भी थे, जो अनेक पीढ़ियों बाद भी नहीं भुलाये जा सके, जिनके सिद्धान्त सदैव के लिये कर्मकाण्डविज्ञान के आधार बन गये। हो सकता है, उन्होंने कुछ ग्रन्थों की भी रचना की हो, किन्तु उनके ग्रन्थों की प्राप्ति आज हमें नहीं हो रही है।

जैमिनिपूर्व मीमांसक—मीमांसा के उन गण्यमान दार्शनिकों में, जिनके ग्रन्थों की प्राप्ति आज हमें नहीं होती, अथ च जिनके द्वारा अन्विष्ट सिद्धान्तों का प्रभाव मीमांसा दर्शन के मूलभूत प्राप्त ग्रन्थ **मीमांसासूत्र** पर महनीय रूप में हैं, मुख्य हैं—**बादरि, आत्रेय, लाबुकायन** और **ऐतशायन** आदि। इन मीमांसकों के ग्रन्थ प्राप्त न होने के कारण हमारे पास यह जानने का साधन नहीं है कि प्राप्त जैमिनि-सूत्रों में कितना अंश जैमिनि का अपना मौलिक है और कितना पूर्ववर्ती आचार्यों से गृहीत। जैमिनि-सूत्रों की प्रौढ़ता से भी ज्ञात होता है कि सूत्रों का बहुत अधिक अंश पूर्वाचार्यों की देन है[१]।

मीमांसा के मुख्य आचार्यों एवं कृतियों का संक्षिप्त विवरण

जैमिनि

१. मीमांसासूत्र—मीमांसा दर्शन का प्राप्त मूलभूत ग्रन्थ **मीमांसासूत्र** है। इसे **जैमिनिसूत्र** भी कहा जाता है। दर्शनजगत् में सूत्रप्रणाली की उद्भावना का श्रेय जैमिनि को

1. 'The Mimamsa Sutra of Jaimini Presupposes a long history of Vedic interpretation, since it sums up the general rules (nyayas) which were in use.
(Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, vol. 2 p. 376)

ही मिलना चाहिए; क्योंकि दर्शनसूत्रसाहित्य में सर्वप्रथम सूत्ररचना 'जैमिनिसूत्र' ही है, जिनका अनुकरण अन्य सूत्रकारों ने किया।

डॉ० दासगुप्त का मत है कि मीमांसासूत्रों का सम्बन्ध एक शाखाविशेष से प्रतीत होता है, अन्य शाखाओं के सूत्रों का लोप हो गया होगा। जैमिनि ने अनेक आचार्यों का उल्लेख मीमांसा-सूत्रों में किया है, किन्तु उनकी कृतियाँ अप्राप्त हैं। अधिक सम्भव है, उन कृतियों का सम्बन्ध अन्य शाखाओं से हो।[१] परन्तु डॉ० दासगुप्त का यह कथन इसलिए मान्य नहीं प्रतीत होता कि यदि शाखाभेद से मीमांसा का भेद होता और मीमांसा दर्शन में वर्णित वे आचार्य, जिनकी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं, डॉ० दासगुप्त के कथनानुसार अन्य शाखा से सम्बद्ध मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य होते तो भला उनकी चर्चा इस मीमांसा में, जो डॉ० दासगुप्त की दृष्टि में एकमात्र शाखा की मीमांसारूप में मान्य है, कैसे होती? क्योंकि वे विभिन्न शाखाओं की विभिन्न मीमासायें मानते हैं। तदनुसार एक मीमांसागत एक शाखासम्बद्ध मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य का अन्य शाखासम्बद्ध मीमांसा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता है। अत: प्रकृत मीमांसा में होने वाले अन्य आचार्यों का उल्लेख ही यह बतलाता है कि उल्लिखित सभी आचार्य प्रकृत मीमांसा से ही सम्बद्ध हैं; अत: उन आचार्यों के उल्लेख के आधार पर मीमांसा को शाखाभेद से भिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता।

सम्भव है कि डॉ० दासगुप्त को इस प्रकार लिखने की प्रेरणा इससे मिली हो कि जैमिनि के नाम पर हमें सामवेद की जैमिनीय शाखा में **जैमिनीय संहिता, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय श्रौतसूत्र** एवं **जैमिनीय गृह्यसूत्र** भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शाखाविशेष के साथ ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है; परन्तु मीमांसा दर्शन के अन्दर सभी वेदों से सम्पृक्त विचार उपलब्ध होने के कारण भी प्रकृत मीमांसा को किसी एक वेद की एकमात्र शाखा की मीमांसा नहीं माना जा सकता।

जैमिनि को स्वसूत्ररचना में प्रभूत सामग्री पूर्वाचार्यों से मिली होगी। वे मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक नहीं सङ्कलनकर्त्ता हैं।[२]

जैमिनि ने मीमांसा-सूत्रों की रचना १२ अध्यायों में की है। इसीलिए इसे द्वादशलक्षणी

---

1. '..........and it is probable that there were different schools of this thought. That Jaimini's Mimamsa sutras (which are with us the foundations of Mimamsa) are only a comprehensive and systematic compilation of one school is evident from the references he gives to the views in different matters of other preceding writers who dealt with the subject.'
(Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy Vol. p. 370)
2. Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy. Vol. I p. 370)

भी कहा जाता है।[1] तृतीय, षष्ठ एवं दशम अध्यायों को छोड़कर अन्य सभी अध्यायों में से प्रत्येक में ८ पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ६० पाद प्राप्त होते हैं। सूत्रों की संख्या एक गणना के अनुसार २६५२ हैं, दूसरी गणना के अनुसार २७४२ मानी जाती हैं। सूत्रो का विभाजन विषय की दृष्टि से अधिकरणों में भी है। सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या ९१५ मानी जाती है।[2] मीमांसासूत्र के प्रत्येक अध्याय में जिन विषयों का विवेचन किया गया है। उनका संक्षिप्त विवरण विभागसंख्या २ की अर्थबोधिनी में देखना चाहिये।

२. सङ्कर्षण काण्ड—कतिपय विद्वान् सङ्कर्षणकाण्ड को जैमिनि की रचना मानते हैं। सङ्कर्षणकाण्ड को देवताकाण्ड भी कहा जाता है। 'सङ्कर्षणकाण्ड' पूर्वमीमांसा का ग्रन्थ है। इसमें उपासना का विवेचन प्राप्त होता है। उपासना का भी विधान वेद में प्राप्त होता है।[3] इसीलिए उपासना को ही सर्वाधिक महत्त्व देने वाले आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के अपने **श्रीभाष्य** में मीमांसादर्शन को षोडशाध्यायी कहा है; क्योंकि अध्यायचतुष्टयात्मक सङ्कर्षणकाण्ड को भी वे जैमिनिकृत एवं प्रकृतमीमांसादर्शन के अन्तर्गत मानते हैं।

समय—कीथ एवं डॉ० दासगुप्त के अनुसार मीमांसासूत्रों की रचना का काल लगभग २०० वर्ष ईसापूर्व है।[4] डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार ये सूत्र ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी के पूर्व रचित नहीं माने जा सकते।

जैमिनि का जीवनवृत्त—जैमिनि के जीवनवृत्त के विषय में प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य मौन है। बौद्ध एवं जैन साहित्य से भी जैमिनि के जीवनवृत्त पर प्रकाश नहीं पड़ता। महाभारत में जैमिनि का उल्लेख अवश्य है, किन्तु दार्शनिक रूप में नहीं। पाञ्चरात्र में एक हाथी द्वारा जैमिनि की मृत्यु का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त आश्वलायन एवं सांखायन गृह्यसूत्रों में भी जैमिनि का उल्लेख हुआ है; किन्तु इस प्रकार के उल्लेखों द्वारा उनके व्यक्तित्व के विषय में हमारा ज्ञान नगण्य ही रहता है।

मीमांसासूत्र के प्राचीन व्याख्याता—भर्तृमित्र, भवदास, हरि, उपवर्ष और वृत्तिकार मीमांसादर्शन के उन आचार्यों में हैं, जिनकी व्याख्यायें मीमांसासूत्रों पर थीं; किन्तु वे सभी अप्राप्य हैं।[5] उक्त आचार्यों में सर्वप्रथम **वृत्तिकार** हैं। शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र (१.१.५) के भाष्य में एक उद्धरण प्रस्तुत किया है और उसे वृत्तिकार का बतलाया है। वृत्तिकार के उक्त उद्धरण में बौद्धमत का खण्डन मिलता है। कुमारिल भट्ट ने वृत्तिकार के उद्धरण की

१. सा हि मीमांसा द्वादशलक्षणी। (सर्वदर्शनसंग्रह)
2. Keith : The Karma Mīmāṁsā p. 4
3. Dr. Radhakrishnan : Indian philosophy. Vol 2 p. 376.
4. Keith : The Karma Mīmāṁsā p. 7 and
Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy Vol. I. p. 370.
5. Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy Vol. 2, pp. 376-77

अन्य प्रकार से व्याख्या की है।[1] कीथ वृत्तिकार के उद्धरण में बौद्धों के केवल शून्यवाद का ही खण्डन मानते हैं, विज्ञानवाद का नहीं। अतएव वृत्तिकार का समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद न मानने के पक्ष में हैं, अन्यथा यदि वृत्तिकार का समय उक्त काल के बाद होता तो वे विज्ञानवाद का खण्डन अवश्य करते।[2]

मीमांसासूत्र पर वृत्ति लिखने के कारण मीमांसकविशेष को वृत्तिकार कहा गया होगा। वृत्तिकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। कुछ लोग भवदास को और कुछ लोग उपवर्ष को वृत्तिकार मानते हैं। जेकोबी के अनुसार बोधायन ने पूर्व एवं उत्तर—दोनों मीमांसादर्शनों पर वृत्ति लिखी थी।[3]

शबरस्वामी—'मीमांसासूत्र' पर प्राप्त सर्वप्रथम व्याख्या का नाम 'शाबरभाष्य' है। इसके रचयिता शबरस्वामी हैं। डॉ० गङ्गानाथ झा के अनुसार राजा विक्रमादित्य शबरस्वामी के पुत्र थे। विक्रमादित्य की माता क्षत्रियवंशीया थीं। अतएव इस प्रमाण से शबरस्वामी का समय लगभग ५७ वर्ष ईसापूर्व होना चाहिये। शबरस्वामी का असली नाम आदित्यदेव एवं भर्तृहरि तथा वराहमित्र को इनका पुत्र माना जाता है। जैनों के उत्पीडन के कारण आदित्यदेव ने वनवासी शबर का वेश धारण कर लिया था, इसीलिए इन्हें शबरस्वामी कहा जाता है। शबरस्वामी के सम्बन्ध में उक्त सभी सूचनाओं को कीथ महाशय कोरी कल्पना मानते हैं। इनके अनुसार शबरस्वामी का समय ४०० ईसवी सन् के पूर्व नहीं होना चाहिए।

वार्तिककार—डॉ० गङ्गानाथ झा के अनुसार 'शाबरभाष्य' पर एक व्याख्या 'वार्तिक' थी। यह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है; इसके रचयिता को वार्तिककार ही कहा जाता है, क्योंकि उनका नाम अज्ञात है। डॉ० झा के अनुसार इसी व्याख्या को आधार मानकर प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर 'बृहती' नामक व्याख्या लिखी थी।[4]

प्रभाकर—शबरस्वामी के पश्चात् प्रभाकर तथा कुमारिल—इन दो मीमांसकों ने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों को जन्म दिया। इस प्रकार शाबरभाष्य के पश्चात् मीमांसादर्शन की दो भिन्न-भिन्न शाखायें बन गईं। डॉ० गङ्गानाथ झा के समान कीथ महाशय प्रभाकर मत का उद्भावक प्रभाकर को न मानकर वार्तिककार को मानते हैं, जिनकी कृति का अनुसरण करके उन्होंने बृहती नामक अपनी व्याख्या लिखी।

---

१. वृत्तिकारस्त्वन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार, तस्य निमित्तपरीष्टिरित्येवमादि'रिति भाष्यं, तनादिशब्दं केचित् लुप्तमकारं पठन्ति, तत् दूषयति आदिशब्द इति।

2. Keith : The karma Mīmāṁsā p. 7

3. (J. A. O. S. 1911)

4. Dr. Dasgupta : A History of Indian Philosophy. Vol. p. 370.

परम्परा प्रभाकर को कुमारिल का शिष्य मानती है। प्रभाकर के मत को गुरुमत भी कहा जाता है। कीथ प्रभाकर को कुमारिल का परवर्ती मानने को तैयार नहीं। उनकी उक्ति है कि कुमारिल ने प्रभाकर के मतों की आलोचना की है और स्वतन्त्र मत स्थिर किये हैं; जबकि प्रभाकर शाबरभाष्य का अनुमोदन करते हुए चलते है और कहीं भी कुमारिलमत की आलोचना करते नहीं पाये जाते हैं।[१]

प्रभाकर ने सम्भवतः केवल 'बृहती' एवं 'लघ्वी' दो वृत्तियाँ लिखी हैं। 'लघ्वी' को 'विवरण' भी कहा जाता है। इनकी शैली सरल है। समस्त पदों का यत्र-तत्र ही प्रयोग मिलता है। भाषा स्पष्ट है, प्रायः एक ही वाक्य में अनेक विचारों को प्रश्रय नहीं दिया गया है। ग्रन्थ प्रायः प्रश्नोत्तर रूप में हैं; अतएव कहीं-कहीं पूर्वोत्तर पक्ष समझने में सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

कुमारिल भट्ट[२]—कुमारिल भट्ट एक प्रतिभसम्पन्न मीमांसक थे। दर्शन जगत् में कुमारिल अपनी मौलिक विचारधारा, प्रखर प्रतिभा तथा सूक्ष्म विवेचन के कारण प्रख्यात हैं। इनका समय ७०० ई० सन् माना जाता है। इनके समय में भारत में बढ़ता हुआ बौद्धों का प्रभाव हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना करके उसे हतप्रभ करने में सक्रिय था। कुमारिल ने बौद्ध-धर्म के इस प्रभाव को क्षीण करने का श्लाघनीय प्रयास किया। कहा जाता है कि कुमारिल पहले बौद्ध थे, बाद में मीमांसक हो गये। इन्हें आचार्य शङ्कर की अपेक्षा कही अधिक बौद्ध दर्शन का सूक्ष्म ज्ञान था।

कुमारिल के निवास-स्थान के विषय में मतवैभिन्न्य है। एक मत के अनुसार ब्राह्मण कुमारिल बिहार प्रान्त (मिथिला) के निवासी थे। दूसरे मत के अनुसार इन्हें दक्षिण भारत का निवासी माना जाता है। तिब्बती साहित्य के अनुसार कुमारिल पारिवारिक जीवन भी व्यतीत करते थे। उनके पास ५०० दासियाँ तथा बहुत से धान के खेत थे।

कुमारिलरचित तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। तीनों ग्रन्थ शाबरभाष्य के विभिन्न अंशों की व्याख्यायें हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—१. श्लोकवार्तिक, २. तन्त्रवार्तिक, ३. टुप्टीका।

१. श्लोकवार्तिक—जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है कि प्रकृत ग्रन्थ की रचना श्लोकों में की गई है। यह ग्रन्थ 'शाबरभाष्य' के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या है। इस पाद का नाम 'तर्कपाद' है। तर्कसङ्गत दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करने के कारण इसे 'तर्कपाद' कहा जाता है। इसमें अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों की आलोचना के साथ ही बौद्धदर्शन की विशेष रूप से आलोचना की गई है। ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा—दोनों ही दृष्टियों से 'श्लोकवार्तिक' एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरीज

1. Keith : The karma Mīmāṁsā pp. 7
2. देखिये—नारायणकृत मानमेयोदय : एक अध्ययन (श्रीमती प्रेमा अवस्थी)

बनारस से प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकाशन में पार्थसारथिमिश्र-विरचित श्लोकवार्तिक की व्याख्या—'न्यायरत्नाकर' भी समाविष्ट है। 'श्लोकवार्तिक' पर अन्य व्याख्या सुचरित मिश्र की 'काशिका' नामक व्याख्या है, जो त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त उम्बेक की 'तात्पर्यटीका' नामक व्याख्या भी 'श्लोकवार्तिक' की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसका भी प्रकाशन हो चुका है।

२. **तन्त्रवार्तिक**—'शाबरभाष्य' के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तृतीय अध्याय-पर्यन्त लिखी गई गद्यबहुल व्याख्या का नाम 'तन्त्रवार्तिक' है। ग्रन्थकार ने प्रकृत ग्रन्थ में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ में वेद, अनुभव, प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों को मीमांसा का आधार बतलाया गया है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा परमाणुओं को भी वेद के समान नित्य कहा गया है।

कुमारिल द्रविड़ भाषा के ज्ञाता थे, किन्तु लोगों का यह कथन कि कुमारिल द्रविड़ थे, निस्सार है। कुमारिल ने शबरस्वामी की आलोचना करते हुए एक स्थल पर शबरस्वामी द्वारा छः महत्त्वपूर्ण सूत्रों की व्याख्या, जिनका सम्बन्ध शब्द से था, छोड़ देने का उल्लेख किया है।

तन्त्रवार्तिक पर अनेक व्याख्यायें लिखी गईं, जो इस प्रकार हैं—१. सोमेश्वर की 'न्यायसुधा' नामक व्याख्या। इसके दो अन्य नाम भी हैं—राणक तथा सर्वोपहारिणी। यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसका प्रकाशन चौखम्बा बनारस से हो चुका है। २. कमला की 'भावार्थ' नामक व्याख्या। ३. गोपालभट्ट की 'मिताक्षरा' नामक व्याख्या। इस व्याख्या के प्रकाशन के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं प्राप्त हुई। यह व्याख्या, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, संक्षिप्त होगी। ४. अन्नम्भट्ट की सुबोधिनी नामक व्याख्या। इस व्याख्या के दो और नाम हैं—'सुधाधारा' एवं 'राणकोज्जीवनी। ५. परितोषमिश्र की 'अजिता' नामक व्याख्या। यह व्याख्या अभी तक अप्रकाशित ही है। ६. गङ्गाधरमिश्र की 'न्यायपारायण' नामक व्याख्या।

३. **टुप्टीका**—यह शाबरभाष्य के शेष ९ अध्यायों (अध्याय ४ से १२) की व्याख्या है। इस व्याख्या में 'श्लोकवार्तिक' तथा 'तन्त्रवार्तिक' के समान विशद विवेचन नहीं हुआ; अतएव यह अतिसंक्षिप्त व्याख्या है। 'टुप्टीका' पर पार्थसारथिमिश्र ने (१) 'तन्त्ररत्न' नामक व्याख्या लिखी। (२) उत्तमश्लोकतीर्थ की 'लघुन्यायसुधा' नामक व्याख्या है। (३) वेङ्कटेशविरचित 'वार्तिकाभरण' नामक व्याख्या है।

कुमारिल के दो अन्य ग्रन्थ—बृहद् टीका तथा मध्यमटीका भी प्राप्त होते हैं। पार्थसारथिमिश्र के अनुसार कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' के ५वें सूत्र (अर्थापत्तिपरिच्छेद)

के नवें श्लोक में 'बृहद् टीका' का उल्लेख किया है[1]—अर्थापत्त्यन्तराणामप्युदाहरणप्रपञ्चः पक्षदोषावसरे 'श्रोत्रादिनास्तिताया'मित्यादिना 'बृहट्टीकायां' दर्शित इत्याह—पक्षदोषेष्विति।

कुमारिल की मौलिकता एवं विद्वत्ता से प्रभावित होकर मीमांसकों का एक वर्ग उनके सिद्धान्तों का अनुयायी हो गया। यह सम्प्रदाय भाट्टमत अथवा कौमारिलमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मण्डन मिश्र—मण्डन मिश्र मीमांसादर्शन में भाट्टमत के अनुयायी थे। वेदान्त तथा मीमांसा दोनों ही दर्शनों का सूक्ष्म ज्ञान इन्हें था। महामहोपाध्याय एस० कुप्पूस्वामी इनका समय ईसवी सन् ६१५ से ६९५ के मध्य मानते हैं; किन्तु पी० वी० काणे इनका समय ई० सन् ६९० से ७१० के बीच मानते हैं। विद्वानों का एक सम्प्रदाय मण्डन मिश्र को शङ्कराचार्य का समकालीन मानता है, दूसरी परम्परा इन्हें कुमारिल का शिष्य बताती है। 'शङ्करदिग्विजय' के अनुसार मण्डन मिश्र पहले मीमांसक थे। एक बार शङ्कराचार्य के साथ मण्डनमिश्र का शास्त्रार्थ होने पर मण्डन पराजित हो गये और तभी से शङ्कराचार्य के सिद्धान्त—अद्वैत वेदान्त को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् ये 'सुरेश्वराचार्य' नाम से प्रसिद्ध हो गये। वेदान्त दर्शन पर इनका 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ है। ये भर्तृहरि के शब्दाद्वैतमंत के भी समर्थक थे। इनका 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ इस मत की पुष्टि करता है। इन्होंने शङ्कराचार्य के उपनिषद्भाष्य पर 'बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक' तथा 'तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक' नामक वार्तिकग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' 'दक्षिणामूर्तितोत्रवार्तिक' तथा 'पञ्चीकरणवार्तिक'-संज्ञक वेदान्तग्रन्थ भी लिखे।

मण्डन को ही सुरेश्वर मानने को सभी विद्वान् तैयार नहीं। मण्डन प्रखर मीमांसक थे। उन्होंने महत्त्वपूर्ण मीमांसाग्रन्थों की रचना की, जो इस प्रकार हैं—

१. विधिविवेक—प्रकृत ग्रन्थ में सूक्ष्मतया विधि का विवेचन किया गया है। विधि-विवेचन के साथ ही अन्य वैकल्पिक मतों को भी प्रस्तुत किया गया है तथा प्राभाकर तथा कौमारिल दोनों ही मतों की आलोचना की गई है। वाचस्पति ने इस ग्रन्थ पर 'न्यायकणिका' नामक व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

२. भावनाविवेक—भावना मीमांसा दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस ग्रन्थ पर दो व्याख्यायें प्राप्त होती हैं—एक उम्बेक की तथा दूसरी व्याख्या नारायण भट्ट की।

३. विभ्रमविवेक—प्रकृत ग्रन्थ में ख्यातिपञ्चक का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

४. मीमांसानुक्रमणिका—इस ग्रन्थ की रचना अधिकरणों के क्रम से की गई है।

---

1. Dr. Umesh Misra (Bibliography p. 22) in Purva-Mima sa in its Sources. Dr. Ganga Nath Jha.

यह ग्रन्थ श्लोकों में रचित है। इस पर डॉ० गङ्गानाथ झा ने 'मीमांसामण्डन' नामक व्याख्या लिखी है।

उम्बेक[1]—कहा जाता है कि उम्बेक कुमारिल के शिष्य थे। विद्वन्मण्डली में यह विवादास्पद विषय है कि उम्बेक, मण्डनमिश्र एवं उत्तररामचरित नाटक के रचयिता भवभूति एक ही व्यक्ति है अथवा नहीं। कारण, शङ्करदिग्विजय (५.१११-११७) नामक स्वकीय रचना में विद्यारण्य ने यह उल्लेख किया है कि मण्डनमिश्र तथा उम्बेक एक ही व्यक्ति हैं। उम्बेक तथा भवभूति के एक होने का प्रमाण यह है कि भवभूतिकृत 'मालतीमाधव' नाटक का एक श्लोक उम्बेककृत 'तात्पर्यटीका' का मङ्गल श्लोक है। यह श्लोक अक्षरशः मिलता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'मालतीमाधव' और 'तात्पर्यटीका' दोनों का प्रणेता एक ही व्यक्ति है। तब तो भवभूति और उम्बेक को एक ही मान लेना उचित प्रतीत होता है। 'मालतीमाधव' तथा 'तात्पर्यटीका' का समान श्लोक इस प्रकार है—

ये नाम केचिदिहि नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैव यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

(मालती माधव-१.६ तथा तात्पर्यटीका मङ्गलश्लोक)

परन्तु उम्बेक, मण्डन मिश्र तथा भवभूति सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। कारण, मण्डन मिश्र की 'भावनाविवेक' नामक कृति पर उम्बेक ने एक व्याख्या लिखी है। 'भावनाविवेक' के अनेक पाठों से उम्बेक सहमत नहीं हैं। यथा—एक स्थान पर उम्बेक ने लिखा है 'इति तु समीचीनः पाठः' एवं दूसरे स्थान पर 'स साधुरेव' ऐसा लिखा है। यदि मण्डन तथा उम्बेक एक ही व्यक्ति होते तो पाठभेद की यह समस्या न उठ खड़ी होती। इस प्रकार उम्बेक तथा मण्डन के विभिन्न व्यक्तित्व की सिद्धि होती है।

उम्बेक तथा भवभूति भी भिन्न व्यक्ति ही प्रतीत होते हैं। दोनों की कृतियों में किसी समान श्लोक के मिल जाने भर से उनके प्रणेताओं का समान व्यक्तित्व सिद्ध नहीं होता। हो सकता है कि 'तात्पर्यटीका' में भवभूति का श्लोक प्रक्षिप्त हुआ हो अर्थात् उम्बेक के बाद किसी अन्य व्यक्ति ने भवभूति के श्लोक को मङ्गलाचरण के रूप में जोड़ दिया हो; क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित सूक्तिरूप श्लोक को किसी दूसरे ग्रन्थ में स्थान प्राप्त होना सम्भव नहीं।

उम्बेक द्वारा रचित दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—

१. **तात्पर्यटीका**—यह ग्रन्थ कुमारिलकृत 'श्लोकवार्तिक' की व्याख्या है। इस ग्रन्थ की रचना केवल 'स्फोटसिद्धि' अंश तक ही हो सकी है। यह ग्रन्थ मद्रास से प्रकाशित हो गया है।

1. देखिये—नारायणकृत मानमेयोदय : एक अध्ययन।

२. मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' नामक ग्रन्थ की व्याख्या। यह इनका दूसरा ग्रन्थ है, जिसका प्रकाशन बनारस से हो गया है।

शालिकनाथ मिश्र—प्रभाकर मिश्र के मत के परम समर्थक शालिकनाथ मिश्र का मीमांसा जगत् में विशेष स्थान है। इन्होंने प्रभाकर के सिद्धान्तों का विकास किया। इनका समय महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री के अनुसार नवीं शताब्दी है। पण्डित गोपीनाथ कविराज के अनुसार शालिकनाथ मिश्र और उदयनाचार्य—दोनों का समय एक ही है। शालिकनाथ मण्डन मिश्र तथा वाचस्पति मिश्र के मध्यकालीन प्रतीत होते हैं; क्योंकि शालिकनाथ ने मण्डन मिश्र की कृति 'विधिविवेक' से श्लोक उद्धृत किये हैं तथा शालिकनाथ की 'ऋजुविमला' से वाचस्पति मिश्र ने स्वकीया कृति 'तत्त्वविन्दु' में उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। शालिकनाथरचित तीन ग्रन्थ हैं, जिनके नामों के अन्त में 'पञ्चिका' शब्द प्राप्त होता है; अतः शालिनाथ का नाम 'पञ्चिकाकार' भी है। तीन ग्रन्थ ये हैं—

१. **ऋजुविमलापञ्चिका**—इसे संक्षेप में 'ऋजुविमला' भी कहा जाता है। 'ऋजुविमला' प्रभाकरकृत 'बृहती' ग्रन्थ की व्याख्या है।

२. **दीपशिखापञ्चिका**—इसे 'दीपशिखा' भी कहते हैं। यह प्रभाकर द्वारा रचित 'लघ्वी' ग्रन्थ की व्याख्या है। 'लघ्वी' अभी तक अप्रकाशित ही है।

३. **प्रकरणपञ्चिका**—प्रभाकरमत का पोषक यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त का स्थापन पूर्ण कौशल के साथ किया गया है। यदि यह कहा जाय कि प्रभाकरसम्प्रदाय के ग्रन्थों में इसका सर्वोच्च स्थान है तो अत्युक्ति नहीं होगी।

उक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ है, जिसे शालिकनाथरचित माना जाता है। इस ग्रन्थ का नाम है—मीमांसाभाष्यपरिशिष्ट।

वाचस्पति मिश्र—दर्शन जगत् में वाचस्पति मिश्र का अपना विशेष स्थान है। इनकी प्रतिष्ठा का कारण मौलिक ग्रन्थों की रचना न होकर दर्शन के मूलभूत ग्रन्थों की विशद व्याख्या है। वैशेषिक के अतिरिक्त सभी आस्तिक दर्शनों पर इनकी व्याख्यायें प्राप्त होती हैं।

वाचस्पति मिश्र मिथिला के निवासी माने जाते हैं। इनके आश्रयदाता का नाम 'नृग' तथा गुरु का नाम 'त्रिलोचन' था। ये निःसन्तान थे। इनकी पत्नी का नाम 'भामती' था। अपनी पत्नी 'भामती' की स्मृति में इन्होंने शाङ्करभाष्य के ऊपर 'भामती' नामक टीका लिखी। 'न्यायसूचीनिबन्ध' में उन्होंने जिस समय का उल्लेख किया है, वह ८४१ ईसवी के आस-पास ठहरता है। अतः वाचस्पति मिश्र का समय ८४१ ईसवी के लगभग माना जाना चाहिए। वाचस्पति मिश्र ने मीमांसादर्शन के दो ग्रन्थ लिखे—**१. न्यायकणिका—**

यह ग्रन्थ मण्डन मिश्र की 'विधिविवेक'-संज्ञक कृति की टीका है। इस ग्रन्थ में अनेक मौलिक दार्शनिक विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। असत्कार्यवाद तथा सत्कार्यवाद पर अधिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। ख्यातियों का विवेचन, अन्धकार के अतिरिक्त पदार्थत्व की मान्यता एवं स्वाप्नज्ञान की वास्तविकता ग्रन्थ में परिपुष्ट हुई है। इस ग्रन्थ में बौद्धदर्शन के अनेक सिद्धान्तों का भी उल्लेख हुआ है। 'न्यायकणिका' पर एक व्याख्या भी लिखी गई थी, जिसके लेखक परमेश्वर नामक विद्वान् माने जाते हैं। **२. तत्त्वबिन्दु**— इस ग्रन्थ में कुमारिल के मत का अनुकरण किया गया है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त (मीमांसादर्शनातिरिक्त) जिन ग्रन्थों की रचना वाचस्पति मिश्र ने की है, वे ये हैं—

३. सांख्यतत्त्वकौमुदी—यह सांख्यकारिकाओं की व्याख्या है, जो अत्यधिक विशद एवं सारगर्भित है।

४. योगवैशारदी—यह ग्रन्थ 'योगभाष्य' की व्याख्या है, जिसका योगदर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' पर लिखी गई इस व्याख्या ने प्राचीन न्याय के गिरते हुए वैभव को पुनः स्थापित किया।[1]

६. भामती—जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि अपनी पत्नी भामती की स्मृति में इन्होंने शाङ्करभाष्य पर 'भामती' नामक व्याख्या लिखी है, जो कि अत्यधिक प्रौढ़ता, विशदता एवं सूक्ष्मता के लिए प्रसिद्ध है।

सुचरित मिश्र—इन्होंने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर 'काशिका' नामक व्याख्या लिखी है।

सोमेश्वर भट्ट—इन्होंने 'तन्त्रवार्तिक' की व्याख्या की है, जिसे 'न्यायसुधा' अथवा 'राणक' कहा जाता है।

भवनाथ—इनका समय ईसा की दसवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने प्रभाकर के मत की पुष्टि करते हुए 'नयविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है।

मुरारि—मीमांसाजगत् में प्रभाकर एवं कुमारिल के मतों के द्वारा दो विभिन्न सम्प्रदाय हो गये थे। एक तीसरा सम्प्रदाय मुरारि मिश्र का भी था; किन्तु मुरारि की कोई भी कृति प्राप्त नहीं होती है।

पार्थसारथि मिश्र—कुमारिल भट्ट के पश्चात् भाट्ट सम्प्रदाय में पार्थसारथि मिश्र का

1. विशेष विवेचन के लिये देखिये—'उद्योतकर का न्यायवार्तिक : एक अध्ययन' डॉ० दयाशङ्कर शास्त्री।

स्थान माना जाता है। इनके सभी ग्रन्थ भाट्ट मत के समर्थक हैं। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या चार है। पार्थसारथि अतीव मेधावी मीमांसक थे, जिन्होंने भाट्ट सम्प्रदाय को नवीन सिद्धान्तों का उपहार दिया। प्रतिपक्षियों की आलोचनाओं का प्रबल खण्डन करके दर्शन जगत् में भाट्ट मीमांसा को प्रतिष्ठित किया। उन्हें सभी दर्शनों का प्रौढ ज्ञान था। डॉ० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त के अनुसार इनका समय नवीं शताब्दी है, जबकि डॉ० गोपीनाथ कविराज के अनुसार १३ वीं शताब्दी। इन्होंने जिन ग्रन्थरत्नों का प्रणयन किया, उनका विवरण इस प्रकार है—

१. न्यायरत्नमाला—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें मीमांसा के अन्य विषयों के अतिरिक्त 'अध्ययनविधि' का विवेचन प्राप्त होता है, जो कि अधिक विस्तृत है। अध्ययनविधि का विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। दूसरे अध्याय के अन्तर्गत स्वत:प्रामाण्यवाद का विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में विधिनिर्णय पर विचार किया हैं। चौथे में व्याप्ति का विवेचन तथा पञ्चम में प्रतिज्ञा का विवेचन प्राप्त होता है। षष्ठ अध्याय में नित्य तथा काम्य कर्म का विवरण प्राप्त होता है। सातवें से लेकर ग्याहरवें तक में अङ्गत्व का विवेचन उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ ११ अध्यायों में समाप्त होता है।

तन्त्ररत्न—कुमारिलप्रणीत 'टुप्टीका' की व्याख्या का नाम 'तन्त्ररत्न' है। अपनी इस व्याख्या का प्रणयन पार्थसारथि ने अपनी एक दूसरी कृति 'न्यायरत्नमाला' की रचना के बाद किया है; क्योंकि 'तन्त्ररत्न' में ही 'इति न्यायरत्नमालायां दर्शितम्' ऐसा उल्लेख मिलता है। चूँकि यह ग्रन्थ बाद में लिखा गया है; अत: इसमें विचारों की प्रौढ़ता प्राप्त होनी स्वाभाविक है।

३. शास्त्रदीपिका—मीमांसा दर्शन के सकल विषय का विशद विवेचन मीमांसा के इस प्रौढ़ ग्रन्थ में प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि 'शास्त्रदीपिका' पार्थसारथिप्रणीत ग्रन्थों में ही नहीं; अपितु मीमांसा दर्शन की प्राप्त ग्रन्थराशि में सर्वश्रेष्ठ है तो अतिशयोक्ति न होगी। भाषा, विवेचनशैली, तर्क, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष के स्थापन की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। भावों की सूक्ष्मता, भाषा की सरलता एवं विवेचनशैली की आकर्षकता द्रष्टव्य है। विद्वत्समुदाय का ऐसा मत है कि शास्त्रदीपिका का अध्ययन करके भाट्टसम्प्रदाय का सम्यक् ज्ञान शक्य है। पार्थसारथि की गति अन्य दर्शनों में भी अप्रतिहत सिद्ध हुई है।

इन्होंने सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष माना है। श्रोत्र को दिक् माना गया है। ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष का विषय नहीं। शब्द द्विविध होता है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय। आप्तवाक्य को पौरुषेय कहते हैं और वेदवाक्य को अपौरुषेय। शक्ति स्वतन्त्र पदार्थ है। 'शास्त्रदीपिका' पर लगभग १४ व्याख्यायें हैं। उदाहरण के लिये सोमनाथकृत

'मयूखमालिका', अप्पयदीक्षितकृत 'मयूखावलि' राजचूडामणिकृत 'कर्पूरवर्तिका', यज्ञनारायणकृत 'प्रभामण्डल', अनुभवानन्दयतिकृत 'प्रभामण्डल' आदि।

४. न्यायरत्नाकर—कालक्रम से 'न्यायरत्नाकर' ग्रन्थकार की अन्तिम रचना है। इस ग्रन्थ में 'न्यायरत्नमाला' तथा 'शास्त्रदीपिका' का उल्लेख है। यह ग्रन्थ कुमारिलकृत 'श्लोकवार्तिक' की व्याख्या है। भाषा में सरलता एवं प्रवाह दर्शनीय है। बौद्ध आदि दार्शनिकों के सिद्धान्तों के खण्डन में ग्रन्थकार का कौशल दृष्टिगोचर होता है।

रामकृष्ण भट्ट (सन् १९४३ ई०)—इन्होंने पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' पर व्याख्या लिखी है, जिसका नाम 'युक्तिस्नेहपूरणी' है। ये माधव के पुत्र हैं।

सोमनाथ—इनके पिता का नाम सूरभट्ट है। ये आन्ध्र ब्राह्मण थे। 'शास्त्रदीपिका' पर 'मयूखमालिका' नामक व्याख्या की रचना की है।

भट्टदिनकर—इन्होंने 'शास्त्रदीपिका' की व्याख्या लिखी है।

कमलाकर—'शास्त्रदीपिका' के व्याख्याकारों में कमलाकर भी अन्यतम हैं।

विद्यानाथ (१७१० ईसवी सन्)—इनके पिता का नाम रामचन्द्र था। इन्होंने भी 'शास्त्रदीपिका' पर व्याख्या लिखी है।

माधव—इनका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी है। इन्होंने 'जैमिनीयन्यायमाला-विस्तर' नामक अति प्रसिद्ध मीमांसाग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ मीमांसासूत्रों की व्याख्या है। इसमें पद्यभाग में व्याख्या करने के पश्चात् उसे गद्य द्वारा स्पष्ट किया है।

वेंकट दीक्षित—इन्होंने कुमारिल के 'टुप्टीका' नामक ग्रन्थ की व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'वार्तिकाभरण' है।

अप्पय दीक्षित (ई० सन् १५५२-१६२६)—इन्होंने अपने (१) 'विधिरसायन' संज्ञक कृति में कुमारिल पर आक्रमण किया है। इनकी दूसरी कृति का नाम (२) 'उपक्रमपराक्रम' है।

आपदेव (ईसा की १७वीं शताब्दी)—आपने 'मीमांसान्यायप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसे 'आपोदेवी' भी कहा जाता है। ये मराठा ब्राह्मण थे।[1] इन्होंने अपने पिता अनन्तदेव से ही विद्या का अध्ययन किया, अन्य किसी से नहीं। कीथ ने आपदेव को 'गोविन्द' का शिष्य माना है; किन्तु चिन्नस्वामिशास्त्री एवं एजर्टन आदि विद्वान् कीथ की इस धारण को निस्सार मानते हैं।[2] चिन्नस्वामिशास्त्री के अनुसार आपदेव द्वारा सदानन्द के

1. Edgertion : Mimamsanyayaprakasa P. 17
2. चिन्नस्वामी शास्त्री : 'मीमांसान्यायप्रकाश'।

वेदान्तसार की 'दीपिका' नामक व्याख्या एवं आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की एक व्याख्या लिखी जाने की सूचना मिलती है। इनके दो विद्वान् पुत्र हुए—अनन्तदेव एवं जीवदेव[1]।

अनन्तदेव—आपदेव के पुत्र अनन्तदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' की व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'भाट्टालङ्कार' है। इन्होंने 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ की भी रचना की।

जीवदेव—अनन्तदेव के भ्राता जीवदेव ने 'भाट्टभास्कर' ग्रन्थ की रचना की।

लौगाक्षिभास्कर (ईसा की १७वीं शताब्दी)—'अर्थसंग्रह' ग्रन्थ के रचयिता लौगाक्षिभास्कर के विषय में विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

खण्डदेव—इनकी मृत्यु वाराणसी में ई० सन् १६६५ में हुई मानी जाती है। इन्होंने १. 'भाट्टदीपिका' एवं २. 'मीमांसाकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ लिखे।

शम्भुभट्ट (ई० सन् १७०८)—ये खण्डदेव के शिष्य माने जाते हैं। इन्होंने अपने गुरु के 'भाट्टदीपिका' ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है।

गोपालभट्ट—अप्पयदीक्षित के 'विधिरसायन' का खण्डन इन्होंने अपने 'विधिरसायन-भूषण' नामक कृति में किया है।

शंकरभट्ट—अपनी १. 'विधिरसायनदूषण' संज्ञक रचना में इन्होंने अप्पयदीक्षित के 'विधिरसायन' का खण्डन किया है। २. 'मीमांसाबालप्रकाश' इनकी दूसरी कृति है।

केशव—विश्वनाथ के पुत्र केशव ने शंकरभट्ट के 'मीमांसाबालप्रकाश' पर व्याख्या लिखी है।

राघवानन्द—इनकी कृति का नाम 'मीमांसासूत्रदीधिति' है।

रामेश्वर—इन्होंने 'मीमांसासूत्र' की व्याख्या लिखी। इस व्याख्या का नाम 'सुबोधिनी' है।

विश्वेश्वर—इन्हें गागाभट्ट भी कहते हैं। इन्होंने 'भाट्टचिन्तामणि' संज्ञक ग्रन्थ की रचना की।

कृष्णयज्वा—इन्होंने 'मीमांसापरिभाषा' नामक लघुकाय ग्रन्थ की रचना।

रघुनाथ—इनकी कृति का काम 'मीमांसारत्न' है। इन्होंने सुचरितमिश्रकृत 'काशिका' का उपयोग किया है।

नारायणतीर्थमुनि—इन्होंने 'भट्टभाषाप्रकाश' ग्रन्थ की रचना की।

रामकृष्ण उदीच्य भट्टाचार्य—इनके ग्रन्थ का नाम 'अधिकरणकौमुदी' है।

वल्लभाचार्य—१. 'पूर्वमीमांसाकारिका'? नामक कृति में ४२ कारिकायें हैं, जिनमें जैमिनिसूत्रों का सार ग्रथित है। इनके द्वारा रचित दूसरे ग्रन्थ का नाम, २. 'जैमिनिसूत्रभाष्य'? है।

---

1. Keith : The Karma-Mimansa p. 13

वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य—कीथ के अनुसार इन्होंने १. 'मीमांसापादुका' संज्ञक कृति में तर्कपाद के विषय को छन्दोबद्ध किया है एवं २. 'सेश्वरमीमांसा' में पूर्व एवं उत्तर दोनों मीमांसामतों का सम्मेलन कराया है।

वेंकटाध्वरि—इन्होंने १. 'विधित्रयपरित्राण' में तीन प्रकार की विधियों की एवं २. 'मीमांसामकरन्द' में अर्थवाद की प्रामाणिकता प्रतिपादित की है।

नारायण[1]—ये केरलनिवासी थे। इन्होंने कुमारिलामतानुसारी 'मानमेयोदय'-संज्ञक ग्रन्थ की रचना की।

लौगाक्षिभास्कर एवं उनका अर्थसंग्रह

लौगाक्षिभास्कर का नाम—इनका नाम भास्कर था। लौगाक्षि इनके परिवार का नाम था। अर्थसंग्रह के उपसंहारश्लोक में इन्होंने अपने को 'भास्कर' कहा है। वहाँ 'लौगाक्षि' शब्द का प्रयोग नहीं किया है—

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

इसी प्रकार 'तर्ककौमुदी' के उपान्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'भास्करशर्मा' कहा है—

विद्वद्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
यथाकणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम् ।।

यद्यपि अर्थसंग्रह के मङ्गलाचरण श्लोक में एवं तर्ककौमुदी के मङ्गलाचरणगत द्वितीय श्लोक में इन्होंने अपने लिये 'लौगाक्षि' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु 'लौगाक्षि' वंशनाम ही प्रतीत होता है, जैसा कि अन्य विद्वानों का भी मत है—

'Bhaskara of the Laugaksi family flourished towards the end of the 16th Century[2]' and 'His proper name was Bhaskara, his surname being laugaksi[3].

लौगाक्षिभास्कर का वंश—जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, इनके वंश का नाम 'लौगाक्षि' था। इनके पिता का नाम मुद्गल एवं पितामह का नाम रुद्र था। रुद्र कवि थे।[4]

---

1. विशेष विवरण के लिए देखिये—'नारायणकृत मानमेयोदय : एक आलोचनात्मक अध्ययन' (भूमिका)।
2. Dr. G. Jha : Purva-Mimamsa in its Sources, Bibliography p. 53.
3. Dr. Vidyabhusan; A Histroy of Indian Logic p. 395.
4. 'The author was son of Mudgala, and grandson of the peot Rudra.' (Keith; Indian Logic and Atomism, p. 38)

डॉ० विद्याभूषण के अनुसार लौगाक्षिभास्कर रुद्र के भतीजे थे[1]।

लौगाक्षिभास्कर का स्थान—इनके स्थान के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। इन्होंने मणिकर्णिका (वाराणसी) का उल्लेख किया है[2] किन्तु वाराणसी के उल्लेखमात्र से उन्हें वाराणसी का निवासी और वहीं जन्म लेने वाला मान लेना समुचित नहीं प्रतीत होता। दूसरे मत के अनुसार इन्हें दक्षिण भारत का निवासी माना जाता है।[3]

लौगाक्षिभास्कर का व्यक्तित्व—लौगाक्षिभास्कर वासुदेव एवं रमा के उपासक थे। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थों—अर्थसंग्रह एवं तर्ककौमुदी के मङ्गलाचरण एवं तर्ककौमुदी से एक उपसंहारश्लोक में भी वासुदेव एवं रमा को प्रणाम किया है—

१. वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः।

(अर्थसंग्रह-मङ्गलाचरणश्लोक)

२. श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम्।

(तर्ककौमुदी : प्रथम मङ्गलश्लोक)

३. श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालिङ्गितसुन्दराङ्गम्।

(तर्ककौमुदी : अन्तिम उपसंहारश्लोक)

इनके वासुदेव एवं रमा पौराणिक प्रतीत होते हैं। कारण, इन्होंने अपने वासुदेव को मत्स्य आदि अवतार लेकर संसार को सन्तुष्ट करने वाले पौराणिक ईश्वर के रूप में उल्लेख किया है—

श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम्।
मत्स्यादिरूपैः कृतलोकतोषं विद्यानिदानं परमं नमामि।।

इसी विषय की पुष्टि तर्ककौमुदी के अन्तिम मङ्गलाचरणश्लोक में प्रयुक्त 'वासुदेवम्' के विशेषणों से भी होती है—

श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालङ्कृतसुन्दराङ्गम्।
पादाब्जसम्भूतपवित्रमङ्गं नमामि तं वारितदोसषङ्गम्।।

लौगाक्षिभास्कर को अपनी विद्वत्ता पर गर्व था। अनेक संस्कृत विद्वानों की भाँति इन्होंने अपनी विद्वत्ता का उल्लेख अपने शब्दों में किया है। तर्ककौमुदी के उपसंहारगत उपान्तिम श्लोक में प्रयुक्त 'विद्वद्भास्करशर्मा' पद एवं अर्थसंग्रह में 'सुमेधसा' पद इनके अपने विद्याभिमान को सूचित करते हैं।

---

1. 'Laugakisi Bhaskara, well versed in Nyaya, Vaisika and Mimaṃsa philosophịes, was son of Mudgala and nephew of poet Rudra'
(A History of Indian Logic, p. 395)
2. Keith : Indian Logic and Atomism, p. 38.
3. Dr. G. Jha The Purva-Mimamsa in its Sources, Bibligraphy. p. 53.

अर्थसंग्रह का निर्माण करते समय इन्होंने जैमिनि को प्रणाम नहीं किया; किन्तु तर्ककौमुदी के मङ्गलश्लोक में अक्षपाद और कणाद को नमस्कार किया है—

अक्षपादं मुनिं नत्वा कणादं च ततः परम्।
लौगाक्षिणा भास्करेण तन्यते तर्ककौमुदी॥

लौगाक्षिभास्कर के स्थितिकाल के विषय में दो मत

(क) आपदेव से पूर्ववर्ती—कुछ विद्वानों का मत है कि आपदेव ने अपने 'मीमांसान्यायप्रकाश'-संज्ञक ग्रन्थ की रचना लौगाक्षिभास्कर के 'अर्थसंग्रह' को आधार बनाकर की है। अतएव लौगाक्षिभास्कर पूर्ववर्ती हैं, आपदेव परवर्ती। इस मत के समर्थकों में अन्यतम प्रबल समर्थक एजर्टन महोदय हैं। इन्होंने मीमांसान्यायप्रकाश का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में इनके विचार इस प्रकार प्रतीत होते हैं—

१. 'मीमांसान्यायप्रकाश' में बहुत से अंश ऐसे हैं, जो अर्थसंग्रह के प्रासङ्गिक स्थलों से अधिक समीप हैं, न कि 'न्यायरत्नमाला' के अंशों से। यद्यपि चिन्नस्वामी ने कुछ ऐसे समान अंशों की तुलना दिखलाकर न्यायरत्नमाला को मीमांसान्यायप्रकाश की रचना का आधार माना है; किन्तु वे अंश जितने समीप अर्थसंग्रह से हैं, उतने न्यायरत्नमाला से नहीं। इस विषय में सन्देह नहीं कि आपदेव ने न्यायरत्नमाला का उपयोग किया था; किन्तु साम्य के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि बहुत से ऐसे अंश है, जो सीधे न्यायरत्नमाला से नहीं गृहीत हुए हैं; अपितु 'अर्थसंग्रह' से[1]।

२. अर्थसंग्रह लघुकाय ग्रन्थ है, अनेक स्थलों पर अस्पष्ट भी है। आपदेव ने विषय

---

1. 'The Nyayaratnamala is not named but was certainly used by Apadeva. Chinnaswami. Introduction p. 2. Lists a number of passages in which the two works agree almost verbatism. The force of most of these comparison is greatly weakened by the fact that they are also found in the Arthasamgraha, and as a rule in forms which are closer to the A podevi than is the Nyayaratnamala. I shall show presently that there is some reason to believe that the Arthasamagraha was older than the Apodevi and served as a source for it instead of vice versa, as Chinnaswami believes. It it, therefore, at least possible that Apadeva took those passages from the Arthanamgraha, and not from the Nyayaratnamala directly. but that he had some direct knowledge of the latter is proved by the fact that he follows it verbally in some passages which are lacking in the Arthasamgāraha.

(Mimamsanyayaprakasa. Introduction, p. 20)

को सुस्पष्ट करने के लिए अर्थसग्रह को आधार बनाकर वर्ण्य विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है[१]।

२. मीमांसान्यायप्रकाश में कुछ ऐसे अंश हैं, जिनमें अर्थसंग्रह के मत का खण्डन मिलता है, किन्तु इस प्रसङ्ग में अर्थसंग्रहकार ने आपदेव के मत पर विचार नहीं किया, अपितु पूर्णतः मौन हैं। एजर्टन ने ऐसे कई अंशों का निर्देश किया है। उनके मत में ऐसे अंशों में से 'मीमांसान्यायप्रकाश' का निम्नलिखित अंश भी है—

न तन्मात्रसङ्कोचार्थत्वादुपसंहारस्य, तदन्यमात्रसङ्कोचार्थत्वात् पर्युदासस्येति केचित्। अन्ये तु..........[२]।

एजर्टन महाशय यहाँ अर्थसंग्रह के 'उपसंहारो हि तन्मात्रसङ्कोचार्थः।........ पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति ततो भेदात्'[३] इस अंश का खण्डन मानते हैं। उनके अनुसार 'केचित्' एवं 'अन्ये' पदों में क्रमशः सोमेश्वर एवं पार्थसारथि मिश्र के मत को नहीं लिया जा सकता, जैसाकि चित्रस्वामिशास्त्री[४] ने लिया है। कारण, इनकी कृतियों में प्रासङ्गिक मत नहीं प्राप्त होता है।[५]

आपदेव से परवर्ती—कीथ[६] एवं डॉ० राधाकृष्णन्[७] आदि विद्वान् लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से परवर्ती मानते हैं। इन विद्वानों के अनुसार लौगाक्षिभास्कर ने मीमांसान्यायप्रकाश को आधार मानकर अर्थसंग्रह ग्रन्थ की रचना की है। इस प्रकार लौगाक्षिभास्कर का समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी निश्चित होता है।

एजर्टन महोदय के उक्त विचार सारहीन प्रतीत होते हैं। कारण—

१. मीमांसान्यायप्रकाश के अंशों की समानता न्यायरत्नमाला के अंशों की अपेक्षा अर्थसंग्रह के अंशों से अधिक होने पर आपदेव को अर्थसंग्रह का अनुगमन करने वाला

1. Mimamasanyayaprakasa, Intuduction. p. 22.
२. मीमांसान्यायप्रकाश।
३. अर्थसंग्रह, विभागसंख्या-८३।
४. 'केचिदिति न्यायसुधाकृत इत्यर्थः।' अत्रैव पार्थसारथिमिश्रमतमाह अन्ये त्विति'। (सारविवेचिनी)
5. Edgertion : The Mimamasanyayaprakasa. p. 174.
6. Even better known, perhaps, is the Arthasamgraha of Laugaksi Bhaskara, which seems to be based in part on the work of Apadeva, and if so must belong to the seventeenth century. (Keith : The karma-Mimamsa, p. 13)
7. Laugakzi Bhaskara's Arthasamgraha, which is also popular, is based on padeve's work. (Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol II. p. 378)

मान लेना उचित नहीं। ऐसा मानना तर्कसङ्गत होगा कि आपदेव ने न्यायरत्नमाला से जिन अंशों को ग्रहण किया, उनमें स्वाभिमत परिवर्तन भी किया होगा। अर्थसंग्रहकार ने मीमांसान्यायप्रकाश से प्राय: शब्दश: सामग्री ग्रहण की, अतएव दोनों ग्रन्थों में अधिक समानता है।

२. अर्थसंग्रह लघुकाय ग्रन्थ है, अधिक स्थानों पर अस्पष्ट है, सम्भवत: उसे स्पष्ट और बोधगमय बनाने के लिए ही आपदेव ने मीमांसान्यायप्रकाश की रचना की, यह युक्ति भी सारहीन इसलिये प्रतीत होती है कि सत्रहवीं शताब्दी मीमांसायुग के ह्रास का काल है। ह्रासकाल में रचित ग्रन्थों का कलेवर उत्तरोत्तर प्राय: कम होता जाता है। मीमांसान्यायप्रकाश भी मीमांसा का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों के लिये बड़ा पड़ रहा होगा, अतएव उसी को संक्षेप करके अर्थसंग्रह ग्रन्थ की रचना की गई। यह दूसरी बात है कि एक-आध स्थलों पर अर्थसंग्रहकार ने विषय को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट कर दिया है।

३. ऐसा प्रतीत होता है कि एजर्टन महाशय ने कतिपय उद्धरणों की ओर सङ्केत करके मीमांसान्यायप्रकाश में अर्थसंग्रह का खण्डन माना है, वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, जिस मत का खण्डन मीमांसान्यायप्रकाश में हुआ है, वह प्राचीन है; अत: वह अवश्य किसी ग्रन्थ का मन्तव्य होना चाहिये, भले ही एजर्टन महोदय को वह मत ढूँढ़ने पर न मिल सका हो। चिन्नस्वामी ने प्राय: उन स्थलों में प्रासङ्गिक मतों के उद्भावकों का उल्लेख भी किया है। जहाँ तक मेरा अपना विचार है, अर्थसंग्रहकार ने किसी नवीन मत को जन्म नहीं दिया। उन्होंने सरल भाषा में परम्परागत मीमांसा को संक्षेपमात्र कर दिया है। किन्तु प्रतिपादित मत किसी विद्वान् की दृष्टि में उपयुक्त हो सकते हैं, दूसरे की दृष्टि में अनुपयुक्त। यद्यपि 'मीमांसान्यायप्रकाश' का मत अर्थसंग्रहकार के मत के विरुद्ध है, किन्तु फिर भी अर्थसंग्रह में न तो उसका खण्डन मिलता है न ही मण्डन। यह आवश्यक नहीं था कि अर्थसंग्रहकार प्रतिपद मीमांसान्यासप्रकाश का ही अनुकरण और समर्थन करते। एक-आध स्थलों में उन्होंने पूर्वपरम्परागत अन्य मत का ही आदर किया होगा, आपदेव द्वारा प्रतिपादित मत का नहीं। अर्थसंग्रह संक्षिप्त ग्रन्थ है। उसमें सर्वत्र या बहुत्र मतों के खण्डन-मण्डन का स्थान नहीं सुलभ हो सकता। अतएव यदि अर्थसंग्रहकार ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' के खण्डनीय मत का खण्डन नहीं किया तो उन्हें आपदेव से पश्चाद्वर्ती नहीं मान लिया जाना चाहिये।

इस प्रकार लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से परवर्ती मानना चाहिये एवं जैसा अधिकांश विद्वानों ने निर्णय किया है, इनका समय ईसा की सत्रहवीं शताब्दी प्रतीत होता है।

लौगाक्षिभास्कर की कृतियाँ

लौगाक्षिभास्कर की दो कृतियाँ प्राप्त होती हैं—

(क) तर्ककौमुदी　　　(ख) अर्थसंग्रह

(क) तर्ककौमुदी—तर्ककौमुदी न्याय-वैशेषिक दर्शन का लघुकाय ग्रन्थ है। सर्वप्रथम दो मङ्गलश्लोक पूर्वोल्लिखित 'श्रीवासुदेवं' एवं 'अक्षपादं मुनिं' आदि मिलते हैं।

तर्ककौमुदी प्रशस्तपाद के भाष्य का अनुसरण करती है[१]। मङ्गलाचरण के अनन्तर ग्रन्थ का प्रारम्भ वैशेषिक के पदार्थों के उल्लेख से इस प्रकार होता है—

तत्राभिधेयाः पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तैव। तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

किन्तु जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, इस ग्रन्थ में न्यायसम्मत पदार्थों का भी विवेचन किया गया है। मणिकण्ठकृत 'न्यायरत्न' के उपोद्घात में वि० सुब्रह्मण्य शास्त्री ने तर्ककौमुदी के विषय में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

लौगाक्षिभास्करशर्मणा वैशेषिकतन्त्रसिद्धपदार्थजातत्वं, नैयायिकसिद्धं चतुर्विधं प्रमाणं, पञ्चविधान् हेत्वाभासांश्च संक्षेपेण निरूपयन्ती न्यायवैशेषिकदर्शनव्युत्पित्सूनामुपकाराय तर्ककौमुदी विरचिता। व्याप्तिग्राहकस्य, पक्षत्वस्य, अनैकान्तिकत्रैविध्यस्य च गङ्गेशोपाध्यायाभिमतस्य निरूपकोऽयं चिन्तामणिकारादर्वाचीन इति निश्चिनुमः। बुद्धिनामकस्य गुणस्य निरूपणप्रसङ्गेन चतुर्विधं प्रमाणं, तस्य चतुष्ट्वप्रामाण्यस्य परतस्त्वञ्च सुनिरूपितमत्र। बालानामनुपयोगात् परीक्षा न कृतेति ब्रुवन्, उक्तपदार्थतत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्ववचनेन तर्ककौमुदीमुपसञ्जहार[२]।

तर्ककौमुदी के अन्त में उपसंहाररूप में 'विद्वद्भास्करशर्मा' एवं 'श्रीवासुदेवं' आदि दो श्लोक प्राप्त होते हैं।

(ख) अर्थसंग्रह—लौगाक्षिभास्कर की दूसरी कृति अर्थसंग्रह है। यह निर्णय करना कठिन है कि लौगाक्षिभास्कर ने पहिले तर्ककौमुदी की रचना की अथवा अर्थसंग्रह की।

अर्थसंग्रह पूर्वमीमांसा का ग्रन्थ है, वह भी कर्मकाण्डपरक। यह ग्रन्थ प्रमाणमीमांसा अथवा तत्त्वमीमांसा-जैसे दार्शनिक विषयों का स्पर्श नहीं करता। इस ग्रन्थ में केवल कर्मकाण्डपरक विषयों पर विचार किया गया है, न कि 'मानमेयोदय' आदि ग्रन्थों की भाँति वैदिकक्रियातिरिक्त दार्शनिक तत्त्वों पर भी। मीमांसादर्शन के मूलभूत ग्रन्थ जैमिनीय सूत्रों पर आधारित होने के कारण कर्मकाण्डपरक विचार को भी दर्शन माना जाता है। वस्तुतः कर्मकाण्ड पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार प्रस्तुत करने के कारण 'अर्थसंग्रह' एवं

---

1. 'More recent, doubtless, is the Tarka-Kaumudi of Laugaksi Bhaskara, which is a clear and elegant exposition of the syncretist school, following the bhaasya of Prasastapada.
(Keith : Indian Logic and Atomism. P. 58)
2. न्यायरत्नम्; Government Oriental Manuscripts Library Madras. 1953.

मीमांसान्यायप्रकाश' आदि ग्रन्थों के विचार को 'दर्शन' शब्द से अभिहित करना समीचीन ही है और इसीलिये इन ग्रन्थों को भी दर्शनग्रन्थ माना जाता है। विश्व में स्यात् कोई ऐसी संस्कृति हो, जिसमें कर्मकाण्ड पर ऐसा वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किया गया हो।

अर्थसंग्रह लिखने का प्रयोजन—सत्रहवीं शताब्दी में मीमांसादर्शन की स्थिति और भी दयनीय हो गई थी। विद्वद्वर्ग विशेषतः न्याय एवं वेदान्तदर्शन के पठन-पाठन में संलग्न था। अतएव मीमांसादर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये दीर्घकाय ग्रन्थ उपादेय नहीं थे। आवश्यकता थी ऐसे लघुकलेवर ग्रन्थ की, जिसके माध्यम से सरलतापूर्वक छात्र का मीमांसादर्शन में प्रवेश हो सकता। सम्भवतः इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये लौगाक्षिभास्कर ने अर्थसंग्रह नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना की। लौगाक्षिभास्कर ने ग्रन्थ के 'वासुदेवं रमा-कान्तं' आदि मङ्गलश्लोक एवं 'बालानां सुखबोधाय' आदि उपसंहारश्लोक में स्वयं कहा है कि वे बालकों (अव्युत्पन्न विद्यार्थियों) का जैमिनिशास्त्र में प्रवेश हो सके, इसलिये 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

अर्थसंग्रह का मीमांसादर्शन में स्थान—कर्मकाण्डपरक मीमांसादर्शन पर 'अर्थसंग्रह' जैसा दूसरा लघुकाय एवं बोधगम्य ग्रन्थ नहीं है। 'मीमांसापरिभाषा' आदि ग्रन्थ अर्थसंग्रह की समानता नहीं कर सकते। यद्यपि चिन्नस्वामी शास्त्री ने 'मीगासांन्यायप्रकाश' को निम्नलिखित शब्दों में सर्वोत्कृष्ट कहा है—

सुदृढमिदमभिधातुं शक्यते शास्त्रेऽस्मिन् नैतादृशः प्रकरणग्रन्थोऽद्ययावत् प्रकाशं नीतः। किं बहुना नाद्याप्येतादृशो ग्रन्थो विरचित इत्यपि वक्तुं शक्यते।...... योऽयमिदानीमुप-लभ्यतेऽस्माभिरर्थसंग्रहाख्यो ग्रन्थः स प्रायेणास्य प्रतिकृतिरेवेति करबदरसमानमेतत्।[१]

और उनका कथन यथार्थ भी है; किन्तु मीमांसान्यायप्रकाश अर्थसंग्रह की अपेक्षा बड़ा ग्रन्थ है, अतएव मीमांसादर्शन में प्रवेश की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए जितना उपादेय ग्रन्थ अर्थसंग्रह है, उतना मीमांसान्यायप्रकाश नहीं। अर्थसंग्रह की लोकप्रियता का मुख्य कारण इसकी सरल भाषा एवं शैली है—

It is an elementary book which is so very useful for the beginners. Duwe to its easy and simple style the book has become so very popular amongst the Sanskritists[2].

अर्थसंग्रह की व्याख्यायें—अर्थसंग्रह पर सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत व्याख्या रामेश्वरशिवयोगिभिक्षु ने लिखी है। इस व्याख्या का नाम कौमुदी है[३]। इनके गुरु का नाम

1. मीमांसान्यायप्रकाश-भूमिका।
2. Dr. G. Jha : Purva-Mimamsa in its Sources, Bibliography p. 53.
3. श्री जैमिनिनये ग्रन्थः प्रवेशाय निरूपितः।
   विदुषा तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते।। (कौमुदी व्याख्या का प्रस्तावनाश्लोक)

सदाशिवेन्द्र सरस्वती था एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वती के गुरु का नाम गोपालेन्द्र सरस्वती था। यह व्याख्या बनारस में लिखी गई थी, जो कलकत्ते से प्रकाशित हो चुकी है। बम्बई एवं वाराणसी से अर्थसंग्रह के कई संस्करण निकल चुके हैं। डॉ० जी० थिबो (Dr. G. Thibaut) का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हो चुका है। डी० वी० गोखले ने अर्थसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद किया है, जिसके साथ में मूल 'कौमुदी' व्याख्या भी है एवं अन्त में शब्दार्थकोष भी दिया गया है। यह ग्रन्थ ओरिएण्टल बुक एजेन्सी पूना से १९३२ में प्रकाशित हुआ है।

ए० बी० ग़जेन्द्रगडकर तथा आर डी० करमकर ने मिलकर अर्थसंग्रह के अनुवाद के साथ ही अन्त में सरल अंग्रेजी में टिप्पणी (notes) दिया है, जो बोधगम्य, विस्तृत एवं अत्यधिक उपादेय है। श्री टाटाम्बरस्वामिकृत 'दीपिका'-संज्ञक हिन्दी टीका चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी से सन् १९५३ ई० में पहली बार प्रकाशित हुई है। यह टीका अतिसंक्षिप्त हैं और रामेश्वरकृत कौमुदी व्याख्या का अनुगमन करती है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पूर्व सम्भवत: हिन्दी भाषा में प्रकाशित केवल यही एक टीका थी। इसके पश्चात् सन् १९७७ में पण्डितराज पट्टाभिराम शास्त्री की 'अर्थालोक'-संज्ञक व्याख्या चौखम्बा ओरियण्टलिया, वाराणसी से प्रकाशित हुई। यह विशद व्याख्या संस्कृत में है, जिसका अभिप्राय डॉ० वाचस्पति उपाध्याय ने 'अर्थालोकलोचन' नामक अपनी हिन्दी व्याख्या में प्रकट किया है।

अर्थसंग्रह के प्रतिपाद्य विषय

मीमांसादर्शन के अनुसार सम्पूर्ण वेद का सम्बन्ध क्रिया अर्थात् याग से है[1]। कोई भी ऐसा वेद का वाक्य अथवा शब्द नहीं है, जिसका साक्षात् अथवा परम्परया याग से सम्बन्ध न हो। यहाँ 'क्रिया' (याग) एवं 'धर्म' शब्द पर्यायवाची माने गये हैं।

मीमांसक वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' मानता है। वेद किसी पुरुष की रचना नहीं है। वह ईश्वर की भी रचना नहीं है। कारण, प्राचीन मीमांसा ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानती। सम्पूर्ण वेद के पाँच प्रभेद माने जाते हैं—१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद[2]। इन पाँचों के ही अन्तर्गत मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के सभी वाक्य आ जाते हैं। अर्थसंग्रह में इन्हीं पाँचों विषयों का क्रमशः विवेचन किया गया है।

१. विधि

लक्षण—वेद के उस भाग को विधि कहा जाता है, जो लौकिक प्रमाणों से न ज्ञात

---

१. देखिये—विभागसंख्या-५

२. देखिये—विभागसंख्या-१२

होने वाले पदार्थ (प्रधानक्रिया, अङ्गक्रिया, द्रव्य, क्रम, अधिकार आदि) का विधान करती है। **तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः**[१]। उदाहरण के लिए **अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः** इस वाक्य को विधि माना जाता है; क्योंकि यह वाक्य स्वर्ग प्राप्त कराने वाले 'अग्निहोत्र' नामक याग के अनुष्ठान का विधान करता है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस विषय का ज्ञान प्रत्यक्षादि अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो पाता है।

विधि और चोदना—पूर्वपक्षी का कथन है कि जैमिनि ने 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसासूत्र-१.१.२) के द्वारा यह बतलाया है कि चोदना (विधि) के द्वारा जिसका विधान किया जाता है, वह 'धर्म' होता है। इस प्रकार धर्म केवल विधि-जो कि वेद के पाँच अङ्गों में से एक है, का प्रतिपाद्य है, न कि सम्पूर्ण वेद का। फिर 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'[२] इस धर्मलक्षण में 'धर्म' को वेद का प्रतिपाद्य पदार्थ क्यों माना गया है?

सिद्धान्ती का उत्तर है कि जैमिनि के उक्त धर्मलक्षण में 'चोदना' पद का अर्थ 'वेद' है, विधिमात्र नहीं।

विधि और भावना—'यजेत स्वर्गकामः' एक विधि है। 'यजेत' पद 'यज्' धातु में 'त' प्रत्यय जुड़कर बना है। 'त' प्रत्यय 'तिङ्' होने के कारण सामान्यरूपेण 'आख्यात' कहा जाता है और विधिलिङ् होने के कारण विशेषरूपेण 'लिङ्' कहा जाता है। अर्थात् 'त' प्रत्यय के भी आख्यातत्व एवं लिङ्त्व—ये दो अंश हुए। मीमांसा के अनुसार 'त' प्रत्ययगत 'आख्यातत्व' अंश से आर्थी भावना और 'लिङ्त्व' अंश से शाब्दीभावना समझी जाती है। भावना क्या है? शाब्दी एवं आर्थी भावनाएँ क्या हैं? इसका विवेचन अग्रिम पङ्क्तियों में किया जा रहा है। विशेष विवेचन ग्रन्थ के विभागसंख्या ६-११ में देखिए।

भावना का स्वरूप—भावना के शास्त्रीय स्वरूप को समझने के लिए पहिले उसके लौकिक रूप को समझ लेना अधिक सहायक होगा। मान लीजिये कि यज्ञदत्त देवदत्त से कहता है कि 'ओदनं पच' (भात पकाओ)। देवदत्त को यज्ञदत्त के 'ओदनं पच' वाक्य को सुनकर यह ज्ञान होता है कि यज्ञदत्त का प्रयोजन मुझ (देवदत्त) में पाकानुष्ठान के प्रति प्रवृत्ति (उन्मुखता) उत्पन्न करना है। तदनुसार देवदत्त में पाकानुष्ठान के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है। 'देवदत्त में पाकानुष्ठान के प्रति उत्पन्न होने वाली उन्मुखता (प्रवृत्ति) रूप मानसिक क्रिया को आर्थीभावना कहा जायेगा और यज्ञदत्त में देवदत्तगत आर्थीभावना को उत्पन्न करने की उन्मुखता-रूप 'मानसिक व्यापार' को 'शाब्दी भावना' कहा जायेगा। ध्यान रहे, भावना मानसिक क्रिया है, शारीरिक क्रिया नहीं।

---

१. देखिये—विभागसंख्या-१३

२. देखिये—विभागसंख्या-६

इसी प्रकार **'यजेत स्वर्गकामः'** एक वैदिक विधिवाक्य है। इसका प्रयोजन श्रोता व्यक्ति में यागानुष्ठान के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न करना है। उक्त वाक्य का प्रयोजन—अभिप्रायविशेष' ही 'शाब्दीभावना' है और श्रोता व्यक्ति में जो यागसम्पादन करने की प्रवृत्ति (उन्मुखता) उत्पन्न होती है, उसे आर्थीभावना कहा जाता है।

भावना का लक्षण—अर्थसंग्रह (विभागसंख्या ७) में भावना का लक्षण 'भवितुर्भवनानुकुलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' किया गया है। विषय का विस्तृत पिष्टपेषण न हो, इसलिये उचित यही है कि पाठक इस विषय का विचार वहीं पर देखने का कष्ट करें।

भावना के प्रभेद—भावना के दो प्रभेद हैं—(१) शाब्दीभावना (२) आर्थीभावना। शाब्दीभावना प्रवर्तक वाक्य के प्रयोक्ता व्यक्ति में रहती है, जैसा कि अभी 'भावना का लक्षण' शीर्षक में बतलाया जा चुका है। शाब्दीभावना भी दो प्रकार की समझी जानी चाहिए—एक तो 'ओदनं पच' आदि लौकिक वाक्यों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में रहने वाली शाब्दीभावना और दूसरी 'यजेत स्वर्गकामः' आदि वैदिक विधिवाक्यों में रहने वाली शाब्दीभावना। वेद पौरुषेय नहीं हैं, अपितु नित्य शब्दात्मक हैं, अतएव विधिवाक्य भी नित्य शब्दात्मक ही हुए। उक्त प्रकार से शब्दात्मक विधिवाक्य में रहने के कारण ही इस भावना को शाब्दीभावना कहते हैं।

भावना का दूसरा प्रभेद 'आर्थी भावना' है। इस भावना की उत्पत्ति शाब्दीभावना से होती है। पूर्वोक्त देवदत्तगत ओदनपाकानुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति तथैव श्रोतृगत यागानुष्ठान के प्रति उत्पन्न प्रवृत्ति को आर्थी भावना कहा जायेगा।

भावना के तीन अंश—भावना के तीन अंश होते हैं, चाहे वह भावना शाब्दी हो या आर्थी। प्रत्येक भावना के तीन अंश ये हैं—साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता। जिस प्रकार 'कुर्यात्' (करे) इस लौकिक विधिवाक्यस्थल में भावना को 'किं कुर्यात्' अर्थात् 'क्या करे'? 'केन कुर्यात्' अर्थात् 'किससे करे' एवं 'कथं कुर्यात्' अर्थात् 'कैसे करे' इस प्रकार तीन अंशों की अपेक्षा होती है, उसी तरह 'यजेत' इत्यादि विधिवाक्य स्थल में भी भावना को 'किं भावयेत्', 'केन भावयेत्' एवं 'कथं भावयेत्' इस प्रकार तीन अंशों की अपेक्षा होती है। जिन अंशों से क्रमशः इन आकाङ्क्षाओं की शान्ति होती है, उन्हें साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता कहा जाता है।

शाब्दी भावना का भाव्य (साध्य) आर्थीभावना होती है, क्योंकि शाब्दी भावना आर्थी भावना को उत्पन्न करती है। शाब्दी भावना के ज्ञान का 'साधन' लिङ्गादि प्रत्यय का ज्ञान होता है। शाब्दी भावना के साध्य (श्रोता व्यक्ति में क्रियानुष्ठान के प्रति होने वाली उन्मुखतारूप (आर्थी भावना) की उत्पत्ति विधेय के प्रशंसक वाक्य (अर्थवाद) से होती हैं। इसलिए 'अर्थवाद' के द्वारा ज्ञात क्रिया की प्रशंसा ही 'इतिकर्तव्यता' समझी जाती है।

आर्थी भावना के भी साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश होते हैं। आर्थी

भावना का साध्य—स्वर्गादि फल एवं साधन—यागादि क्रिया होती है एवं आर्थी भावना के इतिकर्तव्यता रूप में प्रयाज आदि अङ्गक्रियायें अन्वित होती हैं।

विधि के विभाग—अर्थसंग्रह में विधि का विभाजन तीन प्रकार से किया गया है—

प्रथम विभाजन—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती हैं।

१—विधि—इसी को प्रधान विधि या उत्पत्तिविधि कहा जाता है, यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' यह प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि है।[1] अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ (क्रिया) का ज्ञान कराने के कारण इसे प्रधान विधि अथवा विधि माना जाता है[2]।

२—गुणविधि—जिस विधि में क्रिया का विधान न किया गया हो, अपितु केवल क्रिया के अङ्ग का विधान किया गया हो, उसे गुणविधि कहते हैं। इस स्थल में क्रिया की प्राप्ति अन्य उत्पत्तिविधियों से हुआ करती है। इसका उदाहरण 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य है। इस स्थल में केवल 'दधि' का विधान किया गया है। 'जुहोति'-पदबोध्य होमरूप क्रिया की प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से होती है।

३—विशिष्ट विधि—इस विधि को 'गुणविशिष्ट विधि' एवं 'गुणविशिष्टकर्म विधि' भी कहा जाता है। इस विधिस्थल में गुण एवं क्रिया—दोनों का एक ही विधान विमेषण-विशेष्यभावापन्न-रूप में किया जाता है।

द्वितीय विभाजन—इस विभाजन के अन्तर्गत विधि के चार प्रभेद माने गये हैं— (१) उत्पत्ति विधि, (२) विनियोग विधि, (३) अधिकार विधि और (४) प्रयोगविधि। विधियों का मुख्य विभाजन यही है।

१—उत्पत्तिविधि—उत्पत्तिविधि उस विधि को कहते हैं, जो केवल ऐसे प्रधान कर्म का विधान करती है, जिसका ज्ञान अन्य किसी को प्रमाण से नहीं हुआ रहता है। इसका उदाहरण— 'अग्निहोत्रं जुहोति'। प्रथम विभाजन में इसी को 'विधि' या 'प्रधानविधि' कहा गया है एवं विधियों के तृतीयविभाजन में इसी को 'अपूर्वविधि' भी कहा जायेगा।

२—विनियोगविधि—विनियोगविधि के द्वारा अङ्गी एवं अङ्ग के बीच में होने वाले अङ्गाङ्गिभाव-रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है अर्थात् इस विधि से यह ज्ञान होता है कि कौन किसका अङ्ग है और किसका अङ्गी। उदाहरण के लिये 'दध्ना जुहोति' इस विनियोगविधि को लिया जा सकता है। यहाँ 'दधि' होम का अङ्ग है और 'होम' दधि का अङ्गी अर्थात् प्रधान। जो दूसरे के लिए हो, उसे अङ्ग कहते हैं और जिसके लिये दूसरे हों, उसे अङ्गी कहा जाता है।

---

१. देखिये—विभागसंख्या-१३

२. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि:' यह विधिसामान्य का लक्षण है, विधि विशेष का नहीं। किन्तु प्रकृत स्थल में जो उदाहरण दिया गया है, वह उत्पत्तिविधि का उदाहरण है। इसीलिये इसे उत्पत्तिविधि के अन्तर्गत मानकर विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

विनियोगविधिस्थल में कौन अङ्ग है और कौन अङ्गी? इसका निर्णय मीमांसा की युक्तियों पर आधारित है[१]। विनियोगविधि के द्वारा कौन किसका अङ्ग है और कौन किसका अङ्गी? इसका ज्ञान छः प्रमाणों की सहायता से होता है। ये छः प्रमाण हैं— (१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य (४) प्रकरण, (५) स्थान एवं (६) समाख्या। इन प्रमाणों की सहायता से विनियोगविधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है।

कभी-कभी स्थलविशेष में एक ही साथ उक्त छः प्रमाणों मे से एकाधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने लगती है। ऐसी स्थिति में किस प्रमाण द्वारा बोध्य विनियोग प्रामाणिक माना जाय? और किस प्रमाण के द्वारा बोध्य विनियोग अप्रामाणिक माना जाय? ऐसी समस्या उपस्थित होती है। इस विषय में मीमांसकों का यह निर्णय है कि उक्त परिगणित छः प्रमाणों में से जब किन्हीं दो प्रमाणों की प्रवृत्ति विनियोगबोध में एक साथ होने लगे तो प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने किसी भी परवर्ती प्रमाण से अधिक बलवान माना जायेगा। इसीलिए पूर्ववर्ती प्रमाण के द्वारा बोध्य अङ्गाङ्गिभाव ही प्रामाणिक होगा। पूर्ववर्ती प्रमाणों के परवर्ती प्रमाणों से बलवान होने के कारण का निर्देश ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के तत्तत् स्थलों पर किया है। विस्तारभिया श्रुत्यादि प्रमाणों के प्रभेद, लक्षण एवं उनके परस्पर बलाबल का विचार प्रकृत स्थल पर नहीं किया जा रहा है। पाठक के इन विषयों का विवेचन ग्रन्थ के प्रासङ्गिक स्थलों पर देखने का कष्ट करें।

३—प्रयोगविधि—प्रयोगविधि के द्वारा अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का बोध होता है—'अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिरित्यपि लक्षणम्'[२]। अभिप्राय यह है कि 'किस अङ्गक्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् किस अङ्गक्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिए' इस प्रकार अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का निर्णय प्रयोगविधि के द्वारा होता है। 'प्रयोग' शब्द का अर्थ ही है—अनुष्ठान। शीघ्र अनुष्ठान तभी सम्पन्न हो सकता है जब अङ्गभूत क्रियाओं के क्रम का ज्ञान शीघ्र हो, अन्यथा किस क्रिया के पश्चात् कौन-सी क्रिया अनुष्ठित की जायेगी? इसका निश्चय न होने के कारण यागानुष्ठान शीघ्र नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध होता है कि अनुष्ठान (प्रयोग) की शीघ्रता अर्थात् प्राशुभाव का बोध कराने वाली विधि को प्रयोगविधि कहते हैं—**प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः**[३]।

यदि याग की अङ्गक्रियायें क्रमशः एक के बाद दूसरी अव्यवहितरूपेण अनुष्ठित नहीं होंगी तो उन सभी अङ्गक्रियाओं का परस्पर सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकेगा; क्योंकि अङ्गक्रियाओं का अनुष्ठान अविच्छिन्नरूपेण होते रहना चाहिए, अन्यथा उन क्रियाओं में सहभाव—साहित्य नहीं हो सकेगा। हम यह नहीं कह सकेंगे कि यह क्रिया इस क्रिया के साथ अनुष्ठित हुई है, जबकि सभी अङ्गक्रियाओं का अपनी प्रधान क्रिया के साथ

१. देखिये—विभागसंख्या २२ एवं आगे।
२. देखिये—विभागसंख्या ५०
३. देखिये—विभागसंख्या ५०

एकवाक्यता का सम्बन्ध रहता है अर्थात् अङ्गक्रियायें और प्रधान क्रिया सब मिलकर एक वाक्यरूप में होती हैं। जैसे वाक्यप्रयोगस्थल में 'सन्निधि' का होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार इन अङ्गक्रियाओं में भी क्रमश: अव्यवधानेन अनुष्ठान का होना आवश्यक होता है। अङ्गक्रियाओं के क्रम का बोध कराने वाली विधि को ही 'प्रयोगविधि' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' यह विधि प्रयोगविधि है, क्योंकि उक्त विधि में प्रयुक्त 'क्त्वा' प्रत्यय से यह ज्ञात होता है कि वेद (कुशमुष्टि) के निर्माण करने के पश्चात् वेदी का निर्माण करना चाहिए अर्थात् इस विधि से दो अङ्गक्रियाओं के पूर्वापरभाव का ज्ञान होता है।

प्रयोगविधि के द्वारा क्रम का बोध छ: प्रमाणों द्वारा होता है। वे छ: प्रमाण हैं— श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति।

प्राय: ऐसा भी होता है कि विधिविशेषस्थल में श्रुति आदि एकाधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने लगती है। एक प्रमाण के द्वारा निर्णीत क्रम दूसरा होता है और दूसरे प्रमाण के द्वारा निर्णीत क्रम दूसरा। ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती प्रमाण द्वारा निर्णीत क्रम स्वीकार्य होता है और परवर्ती प्रमाण द्वारा निर्णीत क्रम अस्वीकार्य। कारण, श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, समाख्या, एवं प्रवृत्ति—इन सभी प्रमाणों का प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण किसी भी अपने परवर्ती प्रमाण से बलवान है। लिङ्ग श्रुति से दुर्बल, किन्तु अन्य सभी प्रमाणों से अधिक बलवान है; 'मुख्य' प्रवृत्ति से बलवान है, किन्तु अन्य सभी प्रमाणों से दुर्बल। प्रवृत्ति सबकी अपेक्षा दुर्बल है।

प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण क्रमनिर्णय का बोध शीघ्र कराता है और परवर्ती प्रमाण विलम्ब से, इसीलिये प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण से अधिक बलवान होता है।

(४) अधिकार विधि—'अधिकार' शब्द का अर्थ 'फलस्वाम्य' (क्रिया के फल का स्वामी होना) होता है। 'फलस्वाम्य' का भी अर्थ फलभोक्तृत्व (फल का भोक्ता) होता है। जिस विधि के द्वारा यह ज्ञान होता है कि किस क्रिया के फल का भोक्ता कौन व्यक्ति हो सकता है? उस विधि को अधिकारविधि कहते हैं। सभी व्यक्ति सभी याग के अधिकारी नहीं होते। विशेष गुणों से युक्त व्यक्ति ही यागविशेष का फल प्राप्त कर सकता है। अत: वही व्यक्ति उस यागविशेष का अधिकारी होता है। अधिकारविधिस्थल में यागकर्त्ता के विशेषण भी सुने जाते हैं। इन्हीं विशेषणों को हम अधिकार कहते हैं। कारण, इन्हीं विशेषणों के बल पर ही अनुष्ठाता व्यक्ति अनुष्ठित क्रिया के फल का भोक्ता होता है।

उदाहरण के लिये 'यजेत स्वर्गकाम:' एक अधिकारविधि है। जिस व्यक्ति में स्वर्ग की कामना—रूप अधिकार होगा, वही यागनिष्पादनानन्तर स्वर्ग की प्राप्ति कर सकेगा, अन्य नहीं। इसी प्रकार 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' भी एक अधिकारविधि है। इस विधि के द्वारा यह बोध होता है कि राजसूय याग के अनुष्ठान का फल उसी व्यक्ति को

प्राप्त हो सकता है, जो राजा (क्षत्रिय) हो और साथ ही साथ उस व्यक्ति को स्वाराज्य की इच्छा हो। इस प्रकार 'राजत्व' एवं 'स्वाराज्य-कामना' इन दो अधिकारों का बोध कराने के कारण इस विधि को अधिकारविधि कहते हैं।

तृतीय विभाजन—विधि का तृतीय विभाजन मन्त्रप्रकरण में अनुषङ्गतः प्राप्त होता है[१]। यहाँ विधि के तीन प्रभेद माने गये हैं—अपूर्वविधि, नियमविधि एवं परिसंख्या विधि। इस स्थल पर[२] कुमारिल भट्ट के तन्त्रर्तिक (१.२.३.४.) का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें उक्त तीनों विधियों के लक्षण दिये गये हैं। श्लोक इस प्रकार है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।।

(१) अपूर्वविधि—अपूर्वविधि के लिये ही कुमारिल ने 'विधि' शब्द का प्रयोग किया है। विधि के पूर्व विभाजन में इसी विधि को उत्पत्तिविधि या प्रधान विधि कहा गया है।

(२) नियम विधि—नियमविधि का लक्षण है[३]—नानासाधनसाध्यक्रियायामेक-साधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः अर्थात् अनेक साधनों से सिद्ध होने योग्य क्रिया की सिद्धि तब अनभिप्रेत साधन् की द्वारा होने लगती है जब जिस अभिप्रेत साधन प्राप्ति नहीं हो रही होती है, उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि को नियमविधि कहते हैं।

उदाहरण द्वारा इस विधि का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य को नियमविधि माना जाता है। 'व्रीहीनवहन्ति' का अर्थ हैं—'धान कूटना चाहिये'। धान से भूसी हटाने के अनेक साधन हो सकते हैं, जैसे पत्थर से रगड कर भूसी हटाना, नाखूनों से धानों को छीलकर भूसी हटाना आदि। इसी प्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है। जब अवहनन (कूटने) के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अप्राप्त अवहनन का विधान 'व्रीहीनवहन्ति' विधिवाक्य द्वारा किया जाता है।

(३) परिसंख्या विधि—परिसंख्या विधि की शब्दावली तो विध्यात्मक होती है, किन्तु इसका अभिप्राय निषेधात्मक होता है। परिसंख्या शब्द का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' होता है[४]। परिसंख्याविधि का लक्षण है—उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः अर्थात् जहाँ दोनों वैकल्पिक पदार्थों की युगपत् प्राप्ति हो रही हो तो दोनों में से एक विशेष पदार्थ की निवृत्ति की बोधक विधि को परिसंख्या विधि कहा जाता है। 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' वाक्य परिसंख्या विधि का एक उदाहरण है। इस वाक्य का सरल अर्थ यह है कि 'पञ्जे वाले पाँच जीव—खरगोश, साही, गोह, गैंडा और कछुआ ब्राह्मण और क्षत्रिय के

१. देखिये—विभागसंख्या-६१-६५
२-३. देखिये—विभागसंख्या-६२
४. देखिये—विभागसंख्या-६३

लिए भक्ष्य हैं अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय को चाहिये कि वे इन पाँच जीवों को खायें। किन्तु 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का परिसंख्याविधिबोध्य अर्थ है—'पञ्चपञ्चनख के अतिरिक्त जीवों का भक्षण नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार यहाँ विधिश्रुत पञ्चपञ्चनखभक्षण की निवृत्ति ही अर्थ है। बुभुक्षित व्यक्ति में किसी भी जीव को भक्षण करके अपनी बुभुक्षा को शान्त करने की प्रवृत्ति स्वभावतः पाई जाती है, चाहे वे जीव उक्त 'पञ्चपञ्चनख' के अन्तर्गत हों या तदतिरिक्त 'अपञ्चपञ्चनख' के अन्तर्गत। परिसंख्याविधि प्रकृत स्थल में श्रुत 'पञ्च पञ्चनख' जीवों के भक्षण का विधान न करके 'पञ्च पञ्चनख जीवों के अतिरिक्त जीव भक्ष्य नहीं हैं' इस विषय का बोध करती है।

परिसंख्या के दो प्रभेद होते हैं—श्रौती परिसंख्या और लाक्षणिकी परिसंख्या[१]। लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोष माने जाते हैं—श्रुतिहीन, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध। इन दोषों का विवेचन विभागसंख्या ६५ में किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधियों का यह त्रिविध विभाजन दृष्टिकोणभेद से किया गया है अर्थात् उन्हीं विधियों का प्रकारान्तर से तीन रूपों में वर्गीकरण किया गया है। 'व्रीहीनवहन्ति' विनियोग विधि भी है और नियमविधि भी। 'यजेत स्वर्गकामः' अपूर्वविधि भी है और दृष्टिकोणभेद से अधिकारविधि भी।

(२) मन्त्र

विधि के पश्चात् वेद के दूसरे प्रभेद 'मन्त्र' पर विचार किया गया है। यागानुष्ठान के लिए अनेक पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। इन पदार्थों में घृत, काष्ठ, पात्र, हव्य आदि द्रव्य आते हैं। यही नहीं, याग अङ्गक्रियाओं एवं देवता आदि के बिना भी सम्पन्न नहीं हो सकता। सारांश यह कि याग के सम्पन्न होने में अनेक पदार्थ अपेक्षित होते हैं, चाहे वे द्रव्यरूप, देवतारूप अथवा क्रियारूप हों या अन्य किसी रूप में हों।

यागानुष्ठान (प्रयोग) में उपयुक्त (समवेत) पदार्थों का स्मरण मन्त्रों द्वारा किया जाता है, यही मन्त्रों की उपयोगिता है (प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः[२])। यह नियम है कि प्रयोगसमवेत पदार्थों का स्मरण मन्त्रों के उच्चारण के द्वारा ही करना चाहिये (मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्[३])। प्रयोगसमवेत अर्थ का स्मरण कराना ही मन्त्रों के उच्चारण का दृष्ट प्रयोजन है। यदि उक्त प्रकार से मन्त्रों के उच्चारण का दृष्ट प्रयोजन नहीं माना जायेगा तो मन्त्रों के उच्चारण का प्रयोजन अदृष्ट मानना होगा। इस प्रकार मन्त्रोच्चारण अदृष्टफलक होने लगेगा; किन्तु जहाँ कहीं दृष्ट फल की सम्भावना हो, अदृष्ट फल की कल्पना को मीमांसक उचित नहीं मानता (सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्)। इसलिए मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन प्रयोगसमवेत पदार्थों का स्मरण करना है।

१. देखिये—विभागसंख्या-६१
२. देखिये—विभागसंख्या-६१
३. देखिये—विभागसंख्या-६१

किन्तु जिन मन्त्रों में प्रयोगसमवेत पदार्थों के स्मरण कराने की क्षमता नहीं होती, उन मन्त्रों के उच्चारण को अगत्या अदृष्टार्थक मान लेना होता है[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्र भी यागादि क्रियाओं के अनुष्ठान में उपयोगी होने के कारण धर्मपरक (क्रियापरक) होते हैं।

(३) नामधेय

मन्त्र के पश्चात् ग्रन्थकार ने वेद के तृतीय प्रभेद नामधेय पर विचार प्रस्तुत किया है। 'नामधेय' शब्द का अर्थ 'नाम' अर्थात् 'संज्ञा' होता है। 'नामधेय' शब्द कर्ममीमांसा का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—यागविशेष का नाम। नामधेय शब्द यागनामधेय का संक्षिप्त रूप है।

विधियों में प्रयुक्त किसी शब्दविशेष को योगशक्ति के द्वारा प्राप्त किसी अर्थ का बोधक न मानकर यदि यागविशेष का नाम मान लिया जाता है तो उस शब्द को 'नामधेय' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का साधारण अर्थ है—'पशुप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति उद्भिद् से याग करे'। 'उद्भिद्' शब्द का यौगिक अर्थ खनित्र (कुदाली—जिससे मिट्टी खोदी जाती है) होता है, क्योंकि उद्भिद् शब्द की व्युत्पत्ति ही है—'उद् भिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेन। किन्तु मीमांसक प्रकृत स्थल में 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ कुदाल या फावड़ा नहीं लेता। वह तो 'उद्भिद्' शब्द को यागविशेष का नाम—नामधेय मानता है। उसकी दृष्टि में एक विशेष याग को 'उद्भिद्' कहते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मीमांसक जहाँ चाहे, वहीं किसी शब्द को यागनामधेय मान ले। किसी शब्द को यागनामधेय मानने के कुछ कारण—निमित्त होते हैं, जिन निमित्तों के आधार पर किसी शब्द को यागनामधेय मानना पड़ता है। यदि वहाँ उन शब्दों को यागनामधेय न माना जाय तो असह्य अनर्थ उत्पन्न हो जायँ।

चार ऐसे निमित्त हैं, जिनसे शब्द याग के नामधेय माने जाते हैं। वे हैं—मत्वर्थलक्षणा होने का भय, वाक्यभेद होने का भय, तत्प्रख्यशास्त्र और तद्व्यपदेश।

उक्त चारो निमित्तों का सोदाहरण परिचय ग्रन्थ के प्रासङ्गिक स्थल (विभागसंख्या ६८-७४) में देखना चाहिए। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि—

१. यदि किसी स्थल में शब्दविशेष का यौगिक अर्थ लेने पर मत्वर्थलक्षणा माननी पड़े तो मत्वर्थलक्षणा-रूप दोष हो जाने के भय से वहाँ उस शब्द का यौगिक अर्थ नहीं लिया जाता; अपितु उसे याग का नामधेय मान लिया जाता है।

२. इसी प्रकार यदि कहीं शब्दविशेष के यौगिक अर्थ को लेने से वाक्यभेद होने लगे तो उस दोष से बचने के लिए उस शब्द को याग का नामधेय माना जायेगा।

१. देखिये—विभागसंख्या-६६

३. जहाँ गुणबोधक अन्य श्रुति प्रमाण प्राप्त होता है, वहाँ गुणार्थक शब्द भी उस गुण का बोधक न होकर याग का नामधेय हो जाता है।

उपमान एवं उपमेय भिन्न होते हैं। जहाँ विधि एवं अर्थवादगत उपमेय एवं उपमान शब्द एक ही हों, वहाँ विधिगत शब्द याग का नामधेय होगा।

कुछ लोग 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को नामधेय होने में पाँचवा कारण मानते हैं; किन्तु सिद्धान्त पक्ष 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को 'तत्प्रख्यशास्त्र'रूप निमित्त में ही अन्तर्भूत कर लेता है[१]।

(४) निषेध

नामधेय के पश्चात् ग्रन्थकार ने वेद के चतुर्थ प्रभेद 'निषेध' पर विचार किया है। 'निषेध' ऐसे वाक्य को कहते हैं, जो पुरुष को अनर्थकारणभूत क्रियाओं के करने से रोकते हैं—पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः[२]। विधिवाक्य किसी क्रियानुष्ठान के प्रति पुरुष को प्रवृत्त करता है, जबकि निषेधवाक्य पुरुष को निवृत्त करता है अर्थात् विधिवाक्य पुरुष में क्रियानुष्ठान के प्रति प्रवर्तना उत्पन्न करता है, जबकि निषेधवाक्य निवर्तना।

निषेधवाक्य का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण 'न कलञ्जं भक्षयेत्' है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' का साधारण अर्थ है—पुरुष कलञ्ज (विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षी का माँस) न खाये। यह वाक्य पुरुष को 'कलञ्जभक्षण'-रूप क्रिया के करने से निवृत्त करता है। कारण, कलञ्जभक्षण से नरक-रूप अनर्थ—अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

निवर्तनाबोध—निषेधवाक्यों के द्वारा निर्वतना का बोध होता तो है किन्तु किस प्रकार? निषेध वाक्य में 'नञ्' (न) का प्रयोग होता है; इसीलिए उसे निषेध कहा जाता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य को इसीलिए निषेधवाक्य माना जाता है कि इसमें 'नञ्' (न) का प्रयोग किया जाता है। इस वाक्य के द्वारा निवर्तना का प्रतिपादन तभी हो सकेगा जब 'भक्षयेत्' पदगत लिङ् प्रत्यय के अर्थ (शाब्दीभावना) का अन्वय नञर्थ के साथ हो। कारण, 'लिङ्'—प्रत्यय का अर्थ प्रवर्तना होता है। उसका नञर्थ के साथ अन्वय होने पर निवर्तना का बोध होगा, क्योंकि 'नञ्' का यह स्वभाव ही है कि वह अपने अन्वित पदार्थों के विरोधी का ख्यापक होता है। प्रवर्तना की विरोधिता निवर्तना में ही होती है।

भक्षयेत्-गत आख्यातत्वांशवाच्य आर्थी भावना का नञर्थ से अन्वय नहीं हो सकता। कारण, आर्थी भावना लिङर्थवाच्य शाब्दी भावना के प्रति उपसर्जनभूतगौण है। एक के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ दूसरे से अन्वित नहीं हो सकता है। जैसे 'राजपुरुषमानय' इस वाक्यस्थल में राजा' का अन्वय 'आनय' से नहीं होगा। कारण, राजा पुरुष के प्रति उपसर्जन—गौण है। इसी प्रकार 'भक्ष्' धातु के अर्थ का अन्वय भी नञर्थ के साथ नहीं

१. देखिये—विभागसंख्या-७४
२. देखिये—विभागसंख्या-७५

होगा, क्योंकि धात्वर्थ आर्थी भावना के प्रति उपसर्जनरूप में विद्यमान है। कलञ्ज के अर्थ का भी नञर्थ के साथ अन्वय नहीं होगा। कारण, तब तो 'न कलञ्जं' का अर्थ होगा— 'कलञ्जविरोधिनं भक्षयेत्'। किन्तु वाक्य-प्रयोक्ता का अभिप्राय ऐसा नहीं है।

प्रत्ययार्थ से नञर्थ के अन्वय में बाधक—प्रत्ययार्थ से नञर्थ के अन्वय होने में दो बाधक होते हैं—तस्य व्रतमित्युपक्रम और विकल्पप्रसक्ति[१]। प्रथम बाधक तब होता है जब कर्तव्यबोधक वाक्यों के प्रकरण में निषेधवाक्य का पाठ मिलता है। ऐसे स्थलों पर निषेधवाक्यों का अर्थ निवर्तना नहीं लिया जाता, अपितु प्रवर्तना लिया जाता है; इसलिये प्रत्ययार्थ का नञर्थ से अन्वय न होकर धात्वर्थ का अन्वय होता है[२]। दूसरा बाधक वहाँ माना जाता है, जहाँ शास्त्रप्रतिपादित पदार्थ का विधान वैकल्पिक होने लगता है। विकल्प का होना भी दोष ही है, जिससे बचने के लिये धात्वर्थ का नञर्थ से अन्वय नहीं किया जाता। इस प्रकार विकल्प आपन्न नहीं होगा[३]।

विकल्प और प्रतिषेध—किसी-किसी स्थल पर विकल्प आपन्न होने पर विकल्प भी स्वीकार्य होता है और धात्वर्थ से नञर्थ करके निषेध भी माना जाता है, क्योंकि उन स्थलों पर ऐसा मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही शेष नहीं रहता है[४]। विधि एवं निषेध दोनों के द्वारा क्रतु का अनुष्ठान सम्पन्न होता है[५]। निषेधवाक्यबोध्य कुछ ऐसे भी निषिध्यमान पदार्थ होते हैं, जिनका आचरण याग में नहीं करना चाहिए अर्थात् वहाँ विकल्प नहीं माना जाता है[६]।

(५) अर्थवाद

अन्त में वेद के अन्तिम (पाँचवें) प्रभेद 'अर्थवाद' पर विचार किया गया है। अर्थवाद भी परम्परया धर्म (यागादि क्रिया) से सम्बद्ध रहते हैं।

विधिवाक्य के द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा और निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा अर्थवाद द्वारा की जाती है (प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः[७])।

अर्थवाद के प्रभेद—ग्रन्थकार ने अर्थवाद का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है। प्रथम वर्गीकरण में अर्थवाद के दो प्रभेद माने गये हैं—विधिशेष एवं निषेधशेष। दूसरे वर्गीकरण में अर्थवाद के तीन प्रभेद माने गये है—गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद।

---

१. देखिये—विभागसंख्या-७८
२. देखिये—विभागसंख्या-७९
३. देखिये—विभागसंख्या-८०-८२
४. देखिये—विभागसंख्या-८४
५. देखिये—विभागसंख्या-८५
६. देखिये—विभागसंख्या-८५
७. देखिय—विभागसंख्या-८६

प्रथम वर्गीकरण—इस वर्गीकरण का आधार विधेय एवं निषेध्य क्रिया की क्रमशः प्रशंसा एवं निन्दा है।

१. विधिशेष—विधिवाक्य एवं उसके अर्थवाद वाक्य में एकवाक्यता होती है[1] 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जैमिनीसूत्र १,२७)। वाक्य का मुख्य अंश विधि है एवं अर्थवाद उसका शेष अंश। इसीलिए उस अर्थवाद को जो विधि द्वारा विधेय पदार्थ की स्तुति करता है 'विधिशेष' कहा जाता है। 'विधिशेष' अर्थवाद विधेय की प्रशंसा द्वारा व्यक्ति को विधेय पदार्थ का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित करता है।

२. निषेधशेष—इसी प्रकार जो अर्थवाद निषेधवाक्य के द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा करता है, 'निषेधशेष' कहा जाता है। 'निषेधशेष' अर्थवाद का यही प्रयोजन है कि वह निषेध्य पदार्थ की निन्दा करके श्रोता व्यक्ति में निषेध्य क्रिया के अनुष्ठान के प्रति निवर्तना उत्पन्न करता है अर्थात् उस व्यक्ति को अनर्थभूत क्रिया के करने से रोकता है।

द्वितीय वर्गीकरण—अर्थवाद के प्रकृत वर्गीकरण का आधार अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान का अन्य प्रमाणों से होना या न होना है।

१. गुणवाद—जिस अर्थवाद के वाच्यार्थ का विरोध प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है और फिर अगत्या लाक्षणिक अर्थ स्वीकार किया जाता है, गुणवाद कहा जाता है।[2]

२. अनुवाद—जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ अन्य प्रमाण या प्रमाणों से पूर्व ही ज्ञात रहता है, उसे अनुवाद कहते है।

३. भूतार्थवाद—जिस अर्थवाद का विषय न तो किसी प्रमाण से बाधित होता है और किसी प्रमाण द्वारा पूर्व से ज्ञात ही रहता है, उसे भूतार्थवाद कहते हैं।



१. देखिये—विभागसंख्या-८७
२. देखिये—विभागसंख्या-८८

वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः

विषयानुक्रमणी

विषयाः पृष्ठाङ्काः

(क) प्रस्तावना

(ख) विधिप्रकरणम्

विषयाः पृष्ठाङ्काः

॥ श्रीः ॥

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रहः

'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी' - सहितार्थबोधिनीव्याख्याविभूषितः

(क) प्रस्तावना

प्रसङ्ग—सर्वप्रथम ग्रन्थकार ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति-हेतु मङ्गलाचरण कर रहे हैं—

१. मङ्गलश्लोकः

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसङ्ग्रहम् ।।१।।

अर्थ—लक्ष्मी के वल्लभ विष्णु को नमस्कार करके जिज्ञासुओं के जैमिनि दर्शन में प्रवेश-हेतु लौगाक्षिभास्कर अर्थसङ्ग्रह नामक ग्रन्थ की रचना कर रहा है।

*** मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी ***

आद्यो यो हेतुर्विश्वसर्गे महेशो यज्ञादीनां (को) यो हव्यनिक्षेपदेवः ।
भूतानां भर्ता सर्वभूतान्तरात्मा हृद्यं मे कार्यं तत्प्रणामः करोतु ॥१॥
श्रीजैमिनिनये ग्रन्थः प्रवेशाय निरूपितः ।
विदुषा तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते ॥२॥

इह खलु परमकारुणिकेन मुनिना जैमिनिना धर्माधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणी मीमांसा प्रणीता। तत्र हि प्रवेशाय शिशूनामर्थसंग्रहाख्यं प्रकरणं प्रारभमाणो लौगाक्षिभास्करः शिष्टाचारपरिप्राप्तं प्रचयगमनादिफलकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति—वासुदेवमित्यादिना। वासुदेवं श्रीनारायणं सर्वनिवासाधिष्ठानं प्रकाशात्मकं ब्रह्मेत्यर्थः। रमाकान्तं रमाया लक्ष्म्याः कान्तमित्यर्थः। न चेश्वरानङ्गीकारो द्रव्यत्यागोद्देश्यविष्णुदेवतायाः स्वीकृतत्वादित्यन्यत्। जैमिनिनय इति। जैमिनिप्रणीते द्वादशाध्यायात्मके पूर्ववेदभागविचारात्मके तन्त्र इत्यर्थः। प्रवेशाय बालानामिति शेषः। अर्थसंग्रहमिति। अर्थानां द्वादशाध्यायप्रतिपाद्यप्रमाणादिपदार्थानां संक्षिप्तशब्दरचनया लक्षणादिकथनमित्यर्थः।

तत्र हि प्रथमे लक्षणे विध्यादेः प्रामाण्यं निरूपितम्। द्वितीये तद्विधेयकर्मभेदो

निरूपितः। तृतीये विहितानां शेषशेषिभावः। चतुर्थे क्रतुप्रयुक्तानुष्ठेयानां पुरुषार्थप्रयुक्तानुष्ठेयानां च पदार्थानां परिमाणं चिन्तितम्। पञ्चमेऽनुष्ठेयपदार्थानामनुष्ठानक्रमो निरूपितः। षष्ठे विहितकर्मफलभोक्तृत्वरूपाधिकारनिरूपणम्। सप्तमे प्रकृतावुपदिष्टाङ्गानां विकृतौ सामान्यातिदेशो निरूपितः। अष्टमे 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादिप्रकृत्यङ्गानां 'सौर्यं चरुं निर्वपे'दित्यादिविकृतौ सप्रपञ्चं द्रव्यदेवादिद्वारेण विशेषातिदेशः। नवमे प्रकृतावुपदिष्टानां मन्त्रसामसंस्कारकर्मणां विकृतावतिदेशप्राप्तानां प्रकृतिविकृत्योरग्निसूर्यादिदेवतादिभेदे प्रकृतिगतं देवतादिवाचकं पदं विहाय विकृतौ देवतादिवाचकस्य पदस्याध्याहार ऊहो निरूपितः। यथा—'अग्नये जुष्ट'मिति मन्त्रे प्रकृत्युपदिष्टे विकृतावतिदेशप्राप्तेऽग्निपदपरित्यागेन सूर्यपदाध्याहारः। यथा च 'गिरागिरा च दक्षस' इत्यत्र साम्नि 'गिरा'पदस्य परित्यागेनेरापदाध्याहारः साम्नामूहः, व्रीह्यादिद्रव्यान्तरसम्बन्धिनश्चावघातादेर्नीवारादिद्रव्यान्तरसम्बन्धः, संस्कारकर्मणामूहश्च। दशमे विकृतौ चोदकप्राप्तानां प्राकृताङ्गानां प्रकृतौ सावकाशानां विकृतौ ह्युपदिष्टविशेषाङ्गादिना बाधो निरूपितः। यथा—प्रकृतेः सकाशाद्विकृतावतिदिष्टानां बर्हिषां 'शरमयं बर्हि'रित्युपदिष्टेन शरमयबर्हिषा विकृतौ बाधः। एकादशे चानेकाङ्गिविधिप्रयुक्तानामङ्गानां सकृदनुष्ठानात् सर्वाङ्गिनामुपकारसाम्यं तन्त्रं निरूपितम्। यथा—'आग्नेयोऽष्टाकपालः', 'उपांशुयाजमन्तरा यजति', 'अग्नीषोमीयमेकादशकपाल'मित्यादिपौर्णमासादिकर्मप्रयुक्तानां प्रयाजाद्यङ्गानां सकृदनुष्ठानात्सर्वाङ्ग्युपकारः। द्वादशे त्वेकाङ्गिप्रयुक्तस्याङ्गानुष्ठानस्य तत्प्रयोजकसामर्थ्यरहितेऽङ्ग्यन्तरेऽप्युपकारः प्रसङ्गो निरूपितः। यथा—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति पशुविधौ प्रयुक्तानां प्रयाजाद्यङ्गानां पशुपुरोडाशेऽप्युपकार इति। तथा च ते पदार्थाः केचिदत्रापि संक्षेपेण निरूपिताः, केचित्तु सूचितास्तत्र कांश्चित्पदार्थांस्तत्र तत्र प्रदर्शयिष्याम इत्यर्थसंग्रहमित्यस्योपपत्तिः। तथा सति यानि च विषयादीनि जैमिनितन्त्रस्य तान्येवास्यापि, तत्प्रकरणत्वात्। तस्य च धर्म एव विषयः, अधर्मस्तु निरसनीयतया विचारितः सोऽपि। अधिकारी अधीतवेदवेदाङ्गो धर्मजिज्ञासुः। श्रेयोऽर्थः प्रयोजनं च विचारितधर्मानुष्ठानेन स्वर्गादि। सम्बन्धो बोध्यबोधकभावलक्षणो धर्मतन्त्रयोरिति।

अर्थबोधिनी—प्राचीन मीमांसा ईश्वर में विश्वास नहीं करता रहा है। जैमिनि के सूत्रों में ईश्वर की सिद्धि नहीं पाई जाती। जैमिनि वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कर्त्ता पुरुष नहीं, वे नित्य हैं। अतएव ईश्वर को भी उनका कर्त्ता नहीं माना जाना [1]चाहिए; किन्तु कालक्रम से साङ्ख्य एवं वैशेषिक की भाँति मीमांसा भी सेश्वर हो गया है। सेश्वर हो जाने पर जनता ग्रन्थ का स्वागत करती थी। उधर बौद्ध, जैन आदि और भी अधिक निरीश्वर होते जा रहे थे। षड्दर्शन सेश्वररूप में जनता के हृदय को आकृष्ट कर सकते थे। प्रतीत होता है कि इसीलिये वैदिक दर्शनों में उत्तरोत्तर ईश्वरसत्ता की अधिक पुष्टि की गई।

कुछ विद्वान् इस मङ्गलाचरण में ईश्वर का प्रतिपादन नहीं मानते; अपितु विष्णु देवता

१. देखिये, मीमांसासूत्र एवं शाबरभाष्य—१.१.२७-३२

(न कि ईश्वर) की स्तुति मानते हैं। विष्णु देवता के लिये यज्ञ किया जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में विष्णु को उत्तम देवता माना गया है, अग्नि की भाँति उसे भी सर्वदेवतारूप माना गया है।[१] इस प्रकार कुछ टीकाकार यहाँ केवल विष्णु देवता की स्तुति मानते हैं, न कि ईश्वर की; किन्तु उन टीकाकारों का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, यदि द्रव्यत्याग के लिये देवता की वन्दना की जाती तो 'ऐतरेय ब्राह्मण' के प्रथम देवता अग्नि हैं, उसकी वन्दना क्यों नहीं की गई? क्या मीमांसा के किसी ग्रन्थ में प्राप्त मङ्गलाचरण में अग्नि, मरुत्, इन्द्र, अश्विन् आदि देवताओं की वन्दना मिलती है? उत्तर होगा—नहीं मिलती। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यहाँ ईश्वर विष्णु की वन्दना की गई, केवल द्रव्यत्याग के लिये विष्णु देवता की नहीं। फिर देवतारूप विष्णु, जिन्हें याग का भाग दिया जाता है, क्या वे 'रमाकान्त' एवं 'वासुदेव' अर्थात् 'रमा' के पति और 'वसुदेव' के पुत्र हैं? 'वसुदेव' के पुत्र और 'रमा'—लक्ष्मी के पति के रूप में अवतार लेने वाले विष्णु अथवा कृष्ण थे, जिन्हें हमारी परम्परा ईश्वर या अवतार ही मानती है, न कि केवल यागभाग प्राप्त करने वाले देवता।

वासुदेव और **रमाकान्त** पद भी साभिप्राय प्रतीत होते हैं। मीमांसा पुरुष को क्रिया में प्रवृत्त करता है। विभिन्न यज्ञों का सम्पादन करने के पश्चात् पुरुष को भोग प्राप्त होते हैं। गृहस्थ जीवन सुखमय होता है। सुन्दर पत्नी एवं पुत्रों की प्राप्ति होती है। 'वासुदेव' पद पुत्र की ओर सङ्केत करता है; जबकि 'रमा' पद सुन्दर रमणी की ओर। ये दोनों पद लाक्षणिक हैं, जिनका लक्ष्य यज्ञप्राप्य भोग, विलास, वैभव आदि समझना चाहिए।

लौगाक्षिभास्करः कुरुते का अर्थ 'लौगाक्षिभास्कर करता है' हुआ। यहाँ पर 'कुरुते' पद प्रथम पुरुष में है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकृत मङ्गलश्लोक का रचयिता कोई अन्य व्यक्ति है, जो यह सूचित कर रहा है कि लौगाक्षिभास्कर 'अर्थसङ्ग्रह' की रचना करता है। वस्तुतः लौगाक्षिभास्कर ने अपने लिए ही 'कुरुते' पद का प्रयोग किया है। यही शैली हमको अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। आचार्य मम्मट 'काव्यप्रकाश' के प्रारम्भ में—**ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति** लिखते हैं। **परामृशति** पद प्रथम पुरुष में होने पर भी उत्तम पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मङ्गलाचरण का प्रयोजन १. प्रारभ्यमाण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति एवं २. परम्पराप्राप्त शिष्टाचार का पालन है। चूँकि प्राचीन परम्परा से ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में मङ्गलाचरण किया है। यह एक प्रकार से शिष्ट ग्रन्थकारों का आचरण था। इसलिए भी मङ्गलाचरण करना अपरिहार्य माना गया। नास्तिक ग्रन्थकारों (बौद्ध आदि) ने भी मङ्गलाचरण किए हैं। (देखिये-न्यायविन्दु)

---

१. 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' तथा 'अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।' (ऐतरेय ब्राह्मण—१.१)

प्रसङ्ग—मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर को ग्रन्थ प्रारम्भ करना है। यहाँ सर्वप्रथम वे महर्षि जैमिनिकृत सूत्रों के बारह अध्यायों में विभक्त होने की सूचना देते हुए प्रकृत ग्रन्थ का मूल स्रोत जैमिनिकृत सूत्रसमुदाय ही है, यह बतलाने के लिए जैमिनिकृत प्रथम सूत्र को उद्धृत करते हैं—

२. मीमांसादर्शनस्य प्रथमसूत्रस्य निर्देशः

अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय। तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास अथातो धर्मजिज्ञासेति।

अर्थ—अत्यन्त दयालु भगवान् जैमिनि ने धर्म का अधर्म से पृथक् रूप में ज्ञान कराने के लिए बारह अध्यायों वाले मीमांसा दर्शन का प्रणयन किया। उसमें सर्वप्रथम धर्मजिज्ञासा को **अथातो धर्मजिज्ञासा** इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया। इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—'इसलिए अब धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए'।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तत्र तावत्प्रतिज्ञातमर्थसंग्रहं निरूपयितुं स्वप्रकरणस्य तन्त्रारम्भाधीनारम्भकत्वात्तन्त्रारम्भार्थकं सूत्रमवतारयति—अथेत्यादिना। अत्र चाथशब्दः सौत्रार्थशब्दसमानार्थकः। वेदाध्ययनानन्तरं तदर्थविचारः कर्तव्य इति धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति तदर्थः। परमकारुणिको निरुपधिकरुणायुक्तः। भगवान् कीर्त्यादिमान्। 'भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिष्वि'त्यमरात्। जैमिनिरादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेत्यन्वयः। कस्यादाविति वीक्षायामाह—द्वादशलक्षणीमिति। द्वादशानां लक्षणानामध्यायानां समाहारो द्वादशलक्षणी तां प्रणिनीय बुद्धौ समारोप्य। तत्र तस्यां तस्या वेत्यर्थः। लोकेऽपि जनः स्वकृत्यं समाकलय्य तत्करणे प्रवर्तत इति प्रसिद्धेर्न प्रणिनीय सूत्रयामासेति विरोधः। प्रणिनायेति पाठान्तरे तु प्रणयनं कृतवानित्यर्थः। प्रणिनायेत्युक्ते केन क्रमेणेति वीक्षायां तत्रेत्याद्युत्तरं धर्मविवेकायेत्यधर्मस्याप्युपलक्षणं, तयोर्विवेकाय निर्णयज्ञानालयेत्यर्थः। कुत्र धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति वीक्षायामाह—अथेति।

अर्थबोधिनी—'अर्थ' शब्द मङ्गलसूचक भी माना जाता है। यथा—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।।

अर्थात् 'पहिले कभी ब्रह्मा के कण्ठ को फोड़कर 'ओङ्कार' एवं 'अथ' शब्द बाहर निकल आये थे। इसलिये मङ्गलकारी हैं।' किन्तु यहाँ पर 'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गलसूचक न होकर प्रारम्भ है। यद्यपि यहाँ अथ शब्द अधिकारार्थ (आरम्भार्थ) है, फिर भी 'अन्यार्थनीयमानोदककुम्भवत्' मङ्गलार्थ माना जा सकता है। अर्थात् जलपान आदि अन्य प्रयोजन के लिए ले जाया जाता हुआ जलपूर्ण घट जैसे किसी पथिक के लिए मङ्गलार्थ हो जाता है, वैसे ही 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकारार्थ के साथ मङ्गल का भी बोधक हो सकता है।

परमकारुणिक और **भगवान्** इन दोनों पदों का प्रयोग करके लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनि के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करते हुए मीमांसा दर्शन की उपादेयता प्रदर्शित की है। दुःखनिमग्न जीवों के प्रति करुणा का भाव रखने वाले भगवान् जैमिनि ने अपने ग्रन्थ की रचना की।

'विवेक' का अर्थ पार्थक्य अर्थात् 'अलग होना' होता है। अतएव 'धर्मविवेक' का अर्थ धर्म का पार्थक्य हुआ। किन्तु 'विवेक' शब्द सापेक्ष है। कोई पदार्थ किसी दूसरे ही पदार्थ से विविक्त (पृथक्) होता है। अतएव यहाँ इस प्रकार के दूसरे पदार्थ—'अधर्म' का अध्याहार करना चाहिए। तब 'धर्मविवेक' का अर्थ अधर्म से धर्म का पार्थक्य हो जाता है। जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र का प्रणयन 'अधर्म से धर्म के विवेक' का ज्ञान कराने के लिए किया। पार्थसारथि मिश्र ने 'धर्म' पद को उपलक्षणार्थ माना है, जिससे अधर्म भी गृहीत होता है। अधर्म भी जिज्ञासा का विषय है। अधर्म के स्वरूप को जानकर उसका विनाश करना इष्ट होता है। ये आचार्य अकार का प्रश्लेष करके सूत्र को **अथातो धर्मजिज्ञासा** (**अथातोऽधर्मजिज्ञासा**) रूप देकर सूत्राक्षरों से ही 'अधर्म' अर्थ के ग्रहण किये जाने के पक्ष में भी हैं।[1]

मीमांसासूत्र १६ अध्यायों में विभक्त पाये जाते हैं। विवेचक विद्वान् केवल प्रथम बारह अध्यायों को ही जैमिनि की रचना मानते हैं। इसीलिए लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनि की रचना को 'द्वादशलक्षणी' अर्थात् 'बारह अध्याय (लक्षण) वाली' कहा है। मीमांसादर्शन (द्वादशलक्षणी) के बारह अध्यायों में प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है—अध्यायसङ्ख्या १ में विधि आदि का प्रामाण्य; २ में विधिविहित कर्मों का भेद; ३ में विहित कर्मों में अङ्गाङ्गिभाव; ४ में क्रतुप्रयुक्त (यज्ञ के लिए) अनुष्ठेय एवं पुरुषार्थप्रयुक्त (स्वर्गादि) अनुष्ठेय पदार्थों (कर्मों) का परिमाण (सीमा); ५ में पदार्थों (कर्मों) के अनुष्ठान का क्रम; ६ में अधिकार; ७ में प्रकृतियाग में उपदिष्ट अङ्गों का विकृत याग में सामान्य नियम से प्राप्त अतिदेश; ८ में विशेष अतिदेश; ९ में ऊह; १० में सामान्यातिदेश से प्राप्त पदार्थ का विकृत याग में उपदिष्ट अङ्गविशेष के द्वारा बाध; ११ में तन्त्र (अनेक विधियों में विहित अङ्गों का एक बार अनुष्ठान करने से सभी विधियों का उपकार हो जाना[2] तन्त्र कहलाता है) और १२ में प्रसङ्ग।

'सूत्रयामास' का अर्थ है—'सूत्रेण प्रतिपादयामास' अर्थात् सूत्रबद्ध किया।

<u>प्रसङ्ग</u>—अग्रिम पङ्क्तियों में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस जैमिनि-सूत्र की व्याख्या की

१. धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्—अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यत्वात्। अकारप्रश्लेषो वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येयमिति निरवद्यम्। (शास्त्रदीपिका—१.१.१.१)

२. द्वादशे चैकाङ्गिप्रयुक्तस्याङ्गानुष्ठानस्य..............उपकार इति। (कौमुदी)

गई है। सूत्र के अन्तर्गत आये हुए 'अथ' एवं 'अतः'—इन दो शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण विशेष रूप से किया गया है—

३. उक्तसूत्रस्य पर्यवसितार्थः

अत्रार्थशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्य्यवचनः। अतः शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। यथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

अर्थ—यहाँ (अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र में) 'अथ' शब्द वेदाध्ययन की अनन्तरता का वाचक है और 'अतः' शब्द वेदाध्ययन की दृष्टार्थकता का वाचक है; क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन-विधि के प्रकरण में यह निश्चय किया जा चुका है कि वेद के अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन अर्थज्ञान है और इस प्रकार सूत्रार्थ यह हुआ—चूँकि वेद के अध्ययन का दृष्ट फल अर्थज्ञान होता है, इसलिए वेदाध्ययन (मौखिक अक्षरराशिग्रहण) के अनन्तर धर्म अर्थात् वेद के अर्थ की जिज्ञासा करनी चाहिए। सूत्र में 'कर्तव्या' पद शेष है, उसे जोड़ लेना चाहिए। यहाँ 'जिज्ञासा' पद की विचार में लक्षणा है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन के प्रारम्भिक सूत्र का अर्थ है—'अतः यह धर्म के विचार से सम्पन्न शास्त्र प्रारम्भ किये जाने योग्य है'।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सूत्रं व्याचष्टे—अत्रेत्यादिना। अत्र सूत्रे, अस्य च प्रथमसूत्रस्य 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इत्यारभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शना'दित्यन्तं जैमिनिप्रणीतं धर्मविचारशास्त्रं विषयः। तत्र संशयः—किमस्य धर्मविचारतन्त्रस्यारम्भोऽध्ययनविध्यप्रयोज्यस्तत्प्रयोज्यो वेति। तत्र यदि स्वाध्यायाध्ययनविधिनार्थज्ञानाय दृष्टप्रयोजनाय वेदाध्ययनं विधीयेत तदा तस्य शास्त्रारम्भे भवेदपि प्रयोजकत्वम्। नैतदस्ति, अन्यथासिद्धत्वात्। तथा हि किमत्यन्ताप्राप्तार्थज्ञानहेतुमध्ययनं तद्विधिर्विधत्ते, किंवा पक्षे प्राप्तस्यावघातवन्नियमेन? नाद्यः, विवादास्पदं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुः अध्ययनत्वाद्भारताद्यध्ययनवदित्यनुमानेनैवाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वप्राप्तेः। नापि द्वितीयः। अवघातवैषम्यात्। यथाऽवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरनुष्ठीयमानौ दर्शपूर्णमासाववान्तरापूर्वद्वारेण परमापूर्वं जनयतः तदपूर्वमेवावघातनियमहेतुः, तथा लिखितपाठेन गुरुपूर्वकाध्ययनेन वार्थज्ञानसम्भवात्पक्षे प्राप्ताध्ययननियमहेतुर्वक्तव्यः। स च नास्ति। लिखितपाठजन्यार्थज्ञानेनैव क्रत्वनुष्ठानसिद्धेः प्रयोजकाभावात्। तस्मादुक्तविधिद्वयासम्भवादर्थज्ञानहेतुविचारशास्त्रारम्भस्य न विधिप्रयोज्यत्वमिति प्राप्तम्। अत्रोच्यते—यदुक्तम् अध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वमनुमानसिद्धमिति नात्यन्ताप्राप्तविधिरिति तत्तथैव। नियमविधिस्तु भवत्येव। न च प्रयोजकाभावः। सक-

लक्रत्वपूर्वस्यैव प्रयोजकत्वाद्दर्शपूर्णमासजन्यपरमापूर्वस्यावघातनियमजन्यापूर्वकल्पकत्व-वदेव च क्रतुजन्यापूर्वजातस्य क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यापूर्वकल्पकस्य सत्त्वान्नियमादृष्टस्य कल्पनादर्थज्ञानसाधनयोर्लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोः पक्षे प्राप्तत्वात् यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठादिनार्थज्ञानं सम्पादयितुं व्युत्पन्नः पुरुषः प्रवर्तते तदा नियमादृष्टाय गुरुपूर्वकाध्ययनमेवार्थज्ञानसाधनं विधीयते, क्रतुजन्यापूर्वप्रयुक्तनियमादृष्टस्यास्वीकारे च श्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात्। न च नानर्थको लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोरक्षरग्रहणमात्रेऽप्यविशेषसाधनत्वात् यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठेनाक्षरग्रहणाय प्रवर्तते तदा गुरुपूर्वकाध्ययनमेव नियमादृष्टाय विधीयत इति वाच्यम्। तत्फलस्य कल्प्यत्वप्रसङ्गात्। अर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनाध्ययनस्य विधेयत्वे तु नियमादृष्टस्य क्रतुजन्यापूर्वे श्रुतफले ह्युपयोगो भविष्यति। न च 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा वहन्ती'त्यार्थवादिकं श्रुतमेव फलमिति वाच्यम्। तस्य नित्याध्ययनविधिफलत्वेन प्रथमाध्ययनविधिफलत्वाभावात्। किञ्चाध्ययनव्यापारस्य सम्भवत्यर्थज्ञानरूपदृष्टफलकत्वे केवलादृष्टार्थकत्वानुपपत्तेः। तथा चोक्तम्—

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।। इति।

किञ्च विधिनैव वेदाध्ययनस्य तदर्थज्ञानपर्यवसायित्वं तदर्थनिर्णयहेतुविचारकर्तव्यता चाक्षिप्यते। तथाहि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यत्र तव्यप्रत्ययः शाब्दभावनामभिधत्ते। सा च स्वभाव्यं विनानुपपद्यमाना किञ्चिद्भाव्यं कल्पयति। तत्र चैकप्रत्ययोपात्तत्वेनार्थभावनैव भाव्यत्वेन समन्वेति। सापि स्वभाव्यमन्तरेणानुपपद्यमाना किञ्चिद्भाव्यमाक्षिपति। तत्रापि फलपदस्याश्रवणात्समभिव्याहृतः स्वाध्यायः कर्मभूत एव भाव्यत्वेन सम्बध्यते। तस्य च फलवदर्थावबोधपर्यन्तत्वाभावे भाव्यतानुपपत्त्या फलवदर्थावबोधपर्यवसायित्वमापतति। अर्थनिर्णयमन्तरेण च फलवदर्थावबोधस्यासम्भवेनार्थनिर्णयहेतुविचारकर्तव्यतामप्यध्ययनविधिराक्षिपतीति। तस्मादर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनायैवेदमध्ययनं विधीयते नाक्षरग्रहणमात्रायेति सिद्धान्तमभिप्रेत्याथशब्दं वेदाध्ययनानन्तर्यार्थकत्वेन, अतः शब्दं च वेदाध्ययनस्य वेदार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वपरत्वेन च व्याचष्टे—अथशब्द इत्यादिना।

तत्र हेतुमाह—स्वाध्याय इत्यादिना। अध्ययनविधाविति। अध्ययनविध्यनुकूलविचारात्मके प्रमाणलक्षणस्य प्रथमाधिकरण इत्यर्थः। वेदः तच्छब्दार्थः। कर्तव्यपदाध्याहारेण सूत्रं योजयति—तथा चेत्यादिना। तथा चेति। वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वे च सतीत्यर्थः। तस्य वेदस्याध्ययनं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकमतो हेतोर्वेदाध्ययनानन्तरं वेदार्थस्य धर्मस्य जिज्ञासापदार्थनिर्णयहेतुविचारः कर्तव्य इत्यध्ययनविधिप्रयुक्त्यैव शास्त्रमारम्भणीयमिति भावः। ननु जिज्ञासा हि ज्ञानेच्छा। न च सा कर्तुं शक्यते। तस्या

व्यापारागोचरत्वात्, इच्छामात्रेणानुष्ठानोपयोगिधर्मज्ञानासम्भवाच्चेत्यत आह— जिज्ञासापदस्येति। तथा च जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या ज्ञानमात्रशक्तिमत्यानुष्ठानोपयोगिज्ञान-मजहल्लक्षणया प्रत्ययेन च साध्यसाधनभावसम्बन्धेनेच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया च बोध्यत इत्यर्थः। समर्थितं शास्त्रारम्भमुपसंहरति—अत इति। स्वाध्यायाध्ययनविधेः शास्त्रारम्भे प्रयोजकत्वमतःशब्दार्थः।

ननु धर्मविचारशास्त्रमारम्भणीयमित्युक्तम्। विचारविषयधर्मस्यानिरूपणात्, तदनि-रूपणं च लक्षणप्रमाणाभावात्। लक्षणप्रमाणाभ्यामेव हि वस्तुसिद्धिर्नान्यथा। अत एवोक्तम्—

मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्। इति।

सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरेभ्यः स्वलक्ष्यस्य व्यावर्तको लोकप्रसिद्धः कश्चिदा-कारविशेषो लक्षणम्। तेन च लक्षणेन लक्ष्ये सम्भाविते सति ततः प्रमाणेन तदव-गच्छति। यथा सास्नादिमती गौरिति गोलक्षणलक्षितपदार्थमन्विष्येयं गौरिति चक्षुरादिना तदवगच्छति, तथा धर्मस्य नास्ति लक्षणम्, अलौकिकत्वात्। न च विहितक्रियात्वं धर्मत्वमिति वाच्यम्। विहितद्रव्याव्याप्तिप्रसङ्गात्। न च तस्यालक्ष्यत्वं, फलार्थं गुणा-नुष्ठातरि धार्मिकोऽयमिति व्यवहारस्याभावप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः। इन्द्रियकामाद्यधिक-रणस्य धर्मविचारात्मकत्वाभावेन शास्त्रसङ्गत्यभावप्रसङ्गात्। फलार्थं विहितस्य दध्या-दिगुणस्य धर्मत्वाभावे तज्जन्यादृष्टस्यापि धर्मत्वासम्भवेन तस्य 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दिति श्रुतकीर्तननाश्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च।

अर्थबोधिनी—कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका 'अर्थ' अर्थात् 'प्रयोजन' दृष्ट अर्थात् इसी लोक में 'देखा गया' होता है। ऐसे कर्मों को दृष्टार्थ कहते हैं; किन्तु कुछ कर्म—जैसे ज्योतिष्टोम आदि याग—ऐसे होते हैं, जिनका फल (स्वर्ग आदि) इस लोक में नहीं दिखाई देता, अतएव ऐसे कर्मों को 'अदृष्टार्थ'—जिनका 'फल' इस लोक में 'न देखा गया हो'—कहते हैं। इनके फलों की प्राप्ति मृत्यु के बाद मानी गई है। **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** अर्थात् 'अपनी शाखा के वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह एक विधि है, जो विधान करती है कि वेद को पढ़ो। अब प्रश्न यह उठता है कि यहाँ 'अध्ययन'रूप कर्म का फल दृष्ट है अथवा अदृष्ट। ध्यान रहे, यहाँ 'अध्ययन' पद का अर्थ 'अक्षरराशिग्रहण' अथवा 'गुरूच्चारणानूच्चारण'मात्र है। जैसा गुरु उच्चारण करे, वैसा अनुकरण द्वारा उच्चारण करना, सीख लेना मात्र 'अध्ययन' का अर्थ है। संक्षेप में विधिपूर्वक वेद को 'रट' लेना मात्र 'वेदाध्ययन' कहलाता है।

वेदाध्ययन के प्रयोजन के सम्बन्ध में मीमांसा के आचार्यों में मतभेद है। प्राभाकर मत के अनुसार वेदाध्ययन अदृष्टार्थक (स्वर्गादिप्राप्ति हेतु) है। इसके अनुसार अध्ययन करके

स्नान कर लेना चाहिए—**अधीत्य स्नायात्।** स्नान सम्पूर्ण अध्ययन के समाप्त होने पर किया जाता है। इसी को समावर्तन संस्कार भी कहते हैं, जो कि विद्याध्ययन की समाप्ति का सूचक है। किन्तु भाट्टमत इससे भिन्न है। इस मत के अनुसार वेदाध्ययन का फल दृष्ट है और वह दृष्ट फल है—'अर्थज्ञान' अर्थात् धर्मज्ञान; क्योंकि सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य धर्म में है—**वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।**[१]

प्राभाकर एवं भाट्ट सम्प्रदाय के निर्दिष्ट मतों पर शास्त्रदीपिका में भी विचार किया गया है तथा युक्तियों द्वारा अध्ययन की दृष्टार्थकता की स्थापना की गई है।[२] अर्थसङ्ग्रहकार भी भाट्टमत के पोषक हैं। अध्ययन दृष्टफलक होता है—यह सिद्ध करने के लिए एक विशेष युक्ति है। जहाँ किसी पदार्थ के दृष्ट एवं अदृष्ट—दोनों फल सम्भव हों, वहाँ दृष्ट फल ही लिया जाना चाहिए।[३]

इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि वेद के अध्ययन का फल दृष्ट है। वेदाध्ययन दृष्टार्थ है, इसलिए (अत:) वेदाध्ययन के पश्चात् (अथ) अध्ययन के दृष्ट फल 'वेदार्थ' अर्थात् 'धर्म' की जिज्ञासा (धर्मजिज्ञासा) करनी चाहिए। यही **अथातो धर्मजिज्ञासा** सूत्र का अर्थ है।

अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र में क्रिया पद का अभाव है। अतएव **कर्तव्येति शेषः** लिखकर 'कर्तव्या' पद का अध्याहार किया गया है। तब **अथातो धर्मजिज्ञासा कर्तव्या** या **अथ अतः धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या** रूप प्राप्त हुआ। 'अथ' शब्द का अर्थ 'अनन्तरम्' अर्थात् 'बाद में' और 'अत:' शब्द का अर्थ 'अस्माद् हेतोः' अर्थात् 'इस कारण से' या 'इसलिए' होता है । तब सूत्र का अर्थ हुआ—**अनन्तरम् अस्माद् हेतोः धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या।** अब प्रश्न होता है—**कस्मादनन्तरम्?** और **कस्माद् हेतोः?** क्रमश: उत्तर मिलता है—**वेदाध्ययनानन्तरम्** अर्थात् 'वेद के अध्ययन के अनन्तर' और **यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोः** अर्थात् चूँकि उसका अध्ययन अर्थज्ञानस्वरूप दृष्ट फल वाला है, इस कारण से। धर्म का अर्थ 'वेदार्थ' होता है[४]। इस प्रकार अब सूत्र का रूप हो जाता है—

वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या। यही शब्दावली अर्थसङ्ग्रह में प्राप्त होती है।

उक्त वाक्य का अन्वित रूप इस प्रकार हो सकता है—**यतः तदध्ययनम् अर्थज्ञान-**

---

१ विभागसङ्ख्या–५

२ शास्त्रदीपिका–१.१.१.१

३. सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। (विभाग–६१)

४. वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्। (विभाग–५)

रूपदृष्टार्थकम् अतो हेतोः वेदाध्ययनानन्तरं धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या। इसका अनुवाद इस प्रकार हुआ—चूँकि उस (वेद) का अध्ययन (उच्चारण) अर्थज्ञानरूप दृष्ट फल वाला है, इस कारण से वेद के अध्ययन (उच्चारण की शिक्षा) के अनन्तर धर्म—(अर्थात्) वेद के अर्थ—की जिज्ञासा करनी चाहिए।

जिज्ञासा कर्तव्या का अर्थ होता है—जिज्ञासा करनी चाहिए; परन्तु जिज्ञासा 'जानने की इच्छा' है और इच्छा 'करने' का विषय नहीं है अर्थात् इच्छा होती है, भले ही वह किन्हीं निमित्तों से हो; किन्तु 'कर्तव्या' अथवा 'कुरु' इन प्रैष वाक्यों द्वारा इच्छा उत्पन्न नहीं की जा सकती है। इसलिए जिज्ञासा का अभिधेय अर्थ प्रकृत स्थल में चरितार्थ न होने से लक्ष्य अर्थ—'विचार' ले लिया गया है। तब **जिज्ञासा कर्तव्या** के स्थान पर **विचारः कर्तव्यः** वाक्य हो गया। इस प्रकार **अथातो धर्मजिज्ञासा** का अभिप्राय यह हुआ—'वेदाध्ययन के दृष्टार्थ होने के कारण, मीमांसाशास्त्र, जिसमें धर्म पर विचार किया गया हो, प्रारम्भ किये जाने योग्य है।'

प्रसङ्ग—'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के 'अथ', 'अतः' एवं 'जिज्ञासा'—इन तीन शब्दों की व्याख्या ग्रन्थकार ने पिछली पङ्क्तियों में कर दी है। अब धर्म के स्वरूप का निरूपण अग्रिम पङ्क्तियों में किया जा रहा है।[१]

४. धर्मलक्षणविचारः

अथ को धर्मः किं तस्य लक्षणमिति चेत्। उच्यते—यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजने[२]ऽतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति।

अर्थ—अब धर्म क्या है? उसका लक्षण क्या है? यदि ऐसे प्रश्न किये जायँ तो उत्तर इस प्रकार है—'याग आदि क्रिया' ही धर्म है और **वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः** यह धर्म का लक्षण है। उक्त धर्मलक्षण में 'प्रयोजनवत्' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि स्वर्ग आदि प्रयोजन में होने वाली अतिव्याप्ति दूर हो जाय। इसी प्रकार 'भोजन' आदि में होने वाली अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये **वेदप्रतिपाद्यः** पद का प्रयोग किया गया है। श्येन याग अनर्थ (नरक) का अनुभव कराता है; अतएव अनर्थ के कारणभूत श्येनयाग में होने वाली अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये धर्मलक्षण में **अर्थः** पद का प्रयोग किया गया है।

१. यद्यपि शब्दक्रम से 'अथ' एवं 'अतः' के पश्चात् 'धर्म' की व्याख्या होनी चाहिए थी, तदनन्तर 'जिज्ञासा' की। किन्तु चूँकि 'जिज्ञासा' शब्द की व्याख्या छोटी है और 'धर्म' की व्याख्या का विस्तार पूरे ग्रन्थ में है, अतएव सूचीकटाहन्यायेन 'जिज्ञासा' की व्याख्या के पश्चात् 'धर्म' की व्याख्या की गई है।

२. लक्षणगत शब्दक्रम व्याख्या में नहीं लिया गया है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—न च विहितत्वमात्रं लक्षणमिति वाच्यम्। विवाहार्थमनृतवदनादेरभ्यनुज्ञाविधिविषयस्य धर्मत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रायेण चोदयति—अथ क इति। क इति किं यागादिरेव धर्मः किंवा चैत्यवन्दनादिकमपीत्यर्थः। किमिति धर्मलक्षणस्याक्षेपः, स च निर्दिष्टः। समाधत्ते—उच्यत इत्यादिना। यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वं वारयति। न चैत्यवन्दनादिर्धर्मस्तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः। धर्मस्य लक्षणमाह—तल्लक्षणमिति। प्रयोजन इति। वेदप्रतिपाद्ये स्वर्गादिफलेऽर्थरूप इत्यर्थः। प्रयोजनवदितीति। स्वर्गादिफलस्य सुखादिरूपत्वेन तत्प्रयोजनान्तराभावाद्भवति वारणमिति भावः। भोजनादाविति। तृप्त्यादिप्रयोजनवत्यर्थरूप इत्यर्थः। वेदप्रतिपाद्य इतीति। भोजनादे रागादिनैव प्राप्तत्वात्।

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्।।

इत्यादिवचनस्य च ग्रासादिनियमपरत्वाद्भवति तेन तद्वारणमिति भावः। श्येनादाविति। 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यादिवेदप्रतिपाद्ये वैरिमरणानुकूलशस्त्रघातादिरूपहिंसात्मकाभिचारस्वरूपप्रयोजनवतीत्यर्थः।

नन्वर्थपदस्य श्येनकर्मणि न धर्मलक्षणस्यातिव्याप्तिवारकत्वं, श्येनस्यार्थत्वात्। न हि श्येनो नरकं जनयति येनानर्थः स्यान्नरकजनकस्यैवानर्थत्वात् श्येनस्य तु शत्रुवधमात्रजनकत्वात्। किञ्च चतुर्थे श्येनस्येष्टसाधनत्वेन वेदबोधितत्वाद्धर्मत्वमेवोक्तम्। तत्फलस्यैव हिंसात्मकाभिचारस्य नरकरूपानिष्टजनकत्वेनाधर्मत्वमुक्तम्। न च तत्रैवातिव्याप्तिवारकं भवत्विति साम्प्रतम्। फले विध्ययोगेन तस्य चोदनागम्यत्वाभावात्। अन्यथा 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशा'दिति न्यायेन तस्य 'न हिंस्या'दिति निषेधाविषयत्वेन नरकजनकत्वानापत्तिः, निषिद्धस्यैव तज्जनकत्वात्। तस्मादर्थपदं व्यर्थमेवेत्यत आह—अनर्थफलकत्वादनर्थभूत इति। श्येनफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वेनानर्थत्वात् श्येनोऽपि तद्द्वारानर्थ एव, तस्यापि शत्रुवधद्वारा नरकजनकत्वादिति भावः। न च चतुर्थविरोधः। तत्र साक्षादिष्टसाधनत्वेन वेदबोधितवधमात्रमभिप्रेत्य धर्मत्वस्योक्तत्वात्। अन्यथा सौत्रार्थशब्दविरोधापत्तिः, व्यावर्त्यान्तराभावात्। न हि व्यवधानेन कार्यजनके जनकत्वव्यवहाराभावः। व्यवधानेनाप्यनुमित्यादिजनके व्याप्त्यादिज्ञाने तद्दर्शनात्।

ननु न श्येनस्यानर्थरूपत्वं सम्भवति, तस्य चोदनागम्यत्वात्। न च सौत्रार्थशब्दस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। तत्फलव्यावर्तकत्वेनाप्युपपत्तेः। अन्यथा फलस्य वेदप्रतिपाद्यत्वाभावे तदुद्देशेन यागादिषु प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः। न च प्रमाणान्तरोपस्थितफलोद्देशेन तत्र सेति वाच्यम्। इन्द्रियागोचरेऽर्थे प्रमाणान्तराभावात्। तस्माच्छ्येनफलस्यापि वेदप्रतिपाद्यत्वेन शत्रुराज्यादिग्रहणप्रयोजनवत्त्वेन च ग्रन्थकारोक्तधर्मलक्षणलक्षितत्वादर्थपदेन वारणं

युक्तमिति चेन्न। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति सौत्रधर्मलक्षणे चोदनापदेन तद्वारणात्। वस्तुतस्तु शत्रुवधरूपाभिचारस्य श्येनफलस्य लोकतः प्राप्तत्वात्तत्र रागतः प्रवृत्तं पुरु प्रति श्येनस्य तत्साधनत्वमात्रं पदेन बोध्यत इति न तस्य वेदप्रतिपाद्यत्वम्। तत्र तस्य तेनैव वारणेऽर्थपदस्य श्येनवारकत्वेनैव सार्थक्यमिति ध्येयम्। यत्तु श्येना धर्मत्वाभावे तामसधर्मत्वकथनानुपपत्तिरिति। तन्न। तस्य तामसत्वकथनेनैवानर्थकत्वो पपत्तेः। प्रसिद्धं हि लोके क्रौर्यादिपुरःसरं तामसक्रियाया अनर्थरूपत्वमित्यलम्। तस्मा दर्थत्वे प्रयोजनवत्त्वे च सति वेदप्रतिपाद्यत्वं धर्मत्वमिति धर्मलक्षणमुपपन्नम्। य विहितद्रव्यादावव्याप्तिरिति। तन्न। दध्यादेरर्थत्वस्येन्द्रियादिप्रयोजनवत्त्वस्य वेदप्रतिपाद्य त्वस्य च सत्त्वात्। यत्तु—

स्त्रीषु धर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।।

इत्याद्यभ्यनुज्ञाविधिविषयेऽनृतवदनादौ धर्मत्वापत्तिरिति। तदपि न। तत्र निरुक्त धर्मलक्षणस्यापत्त्यभावात्। अभ्यनुज्ञाविधिना हि दोषाभावमात्रस्याक्षेपात्प्रयोजनवत्त्व चानाक्षेपाद्रागप्राप्तप्रयोजनसाधनत्वस्याप्यनृतवदनादेर्वेदबोधितप्रयोजनसाधनता त्वाभावान्न धर्मत्वापत्तिः। तस्माल्लक्षणे न कोऽपि दोष इति सिद्धम्। इदमधर्मस्याप्युप क्षणम्। तस्यापि प्रासङ्गिकशास्त्रविषयत्वात्। तथा चोक्तम्—'धर्मस्योपक्रान्तत्वेऽ प्रसङ्गात्प्रतिषेधचोदनार्थो निरूपित' इति। तथा खण्डदेवेनाप्युक्तम्—यद्यपि 'ध क्षरति कीर्तना'दित्यादौ, वैशेषिकतन्त्रे च 'क्रियाजन्यादृष्टे धर्माधर्मशब्दप्रयोगस्तथा 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसा'मित्यादौ तज्जनकविहितनिषिद्धक्रियादावपि तच्छब्दप्रयोगात्तथ प्राधान्येन विचार्येते' इति। यथा च वेदबोधितानिष्टसाधनताकत्वमधर्मत्वमित्यधर्मलक्ष सिद्धम्। अत्रानिष्टसाधनताकत्वं विषभक्षणादेरप्यस्तीति तद्वारणाय—वेदेति। ब्रह्मयागादे वेदबोधितत्वमस्तीति तद्वारणाया—निष्टेति। एवं धर्मस्य लक्षणमुक्तम्।

अर्थबोधिनी—मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। धर्मज्ञान ही इस दर्शन प्रयोजन है—यदा हि धर्मजिज्ञासा कर्तव्येत्युक्त्वा शास्त्रमारभ्यमाणं दृश्यते तदा नूनं शास्त्रं धर्मज्ञानप्रयोजनमित्यवगम्यते।[1] कुमारिल भट्ट ने जैमिनि के अथातो धर्मजिज्ञा इस सूत्र को मीमांसा दर्शन के प्रयोजनभूत धर्म नामक विषय की व्याख्या करने के लि रचित माना है।[2]

मीमांसा दर्शन में 'धर्म' शब्द पारिभाषिक है। इस दर्शन में याग आदि पदार्थों को माना गया है। लौगाक्षिभास्कर ने धर्म का स्वरूप प्रदर्शित करते हुये लिखा है—या

१. शास्त्रदीपिका—१.१.१.१
२. अथातो धर्मजिज्ञासासूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।। (मीमांसाश्लोकवार्तिक-१

दिरेव धर्मः अर्थत् याग आदि ही धर्म हैं। रामेश्वर के मत से 'यागादिरेव' में 'एव' शब्द चैत्यवन्दन आदि के धर्मता के निवारण-हेतु प्रयुक्त हुआ है।[1] यागादिगत 'आदि' शब्द भी सार्थक है। चिन्नस्वामी ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' में 'यागादि' पद की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'आदि' पद से 'दान, होम' आदि क्रियायें तथा द्रव्य, गुण आदि पदार्थ गृहीत होते हैं।[2]

उक्त पङ्क्तियों में धर्म का लक्षण किया गया है। पहले 'लक्षण' का स्वरूप समझ लेना चाहिये। लक्षण उसे कहते हैं, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव—इन तीनों दोषों से रहित हो—**तदेव हि लक्षणं यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपदोषत्रयशून्यम्।**

किसी लक्षण में अधिकाधिक तीन दोष हो सकते हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। जो लक्षण लक्ष्यभूत (जिसका लक्षण अभिप्रेत हो) पदार्थ के कुछ भाग को छोड़ देता है, उसमें अव्याप्ति दोष माना जाता है अर्थात् लक्ष्य के एक देश में लक्षण की व्याप्ति (पहुँच) न होना 'अव्याप्ति' दोष कहलाता है, जैसे—'कपिल वर्ण का पशु गाय (या बैल) होती है' इस लक्षण में अव्याप्ति दोष है; क्योंकि श्वेत या लाल आदि वर्ण की गायों तक उक्त लक्षण नहीं पहुँचता। लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में लक्षण का पहुँच जाना 'अतिव्याप्ति' दोष है; क्योंकि लक्षण गाय का करना है; अतएव गाय लक्ष्य हुई, भैंस आदि अन्य सींग वाले पशु अलक्ष्य हुए। सींग गाय के अतिरिक्त भैंस आदि अन्य पशुओं के भी होते हैं; अतएव 'सींग का होना' स्वरूप गोलक्षण की अतिव्याप्ति लक्ष्य—गाय के अतिरिक्त अलक्ष्य—भैंस आदि में हो जाती है। जब लक्षण द्वारा लक्ष्य का बिल्कुल स्पर्श न हो तब लक्षण में 'असम्भव' दोष माना जाता है। 'एक शफ (खुर) वाले पशु को गाये कहते हैं' यह असम्भव का उदाहरण हुआ। सभी गायों के खुर चिरे होते हैं, घोड़ों आदि के नहीं। उक्त लक्षण एक गाय में भी नहीं पहुँचता, अतएव यहाँ असम्भव दोष है। इस प्रकार उक्त तीनों लक्षण दुष्ट होने के कारण अशुद्ध हैं, अतएव पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के बोधक नहीं हैं।

गाय का दोषरहित लक्षण है—'सास्ना'युक्त होना, क्योंकि उसे देखकर गाय का परिचय मिलता है; अतः गाय का लक्षणवाक्य यह होगा कि जिस पशु के सास्ना अर्थात् गलकम्बल हो, वह गाय है। यह लक्षण शुद्ध है; क्योंकि इसमें तीन में से एक भी दोष नहीं है। सभी गायों के गले में सास्ना होती है। अतएव 'अव्याप्ति' दोष नहीं होगा। गोभिन्न अन्य पशुओं के गले में सास्ना नहीं होती; अतएव अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ। 'सास्ना

---

१. यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादिधर्मत्वं वारयति। (कौमुदी)

२. आदिपदेन दानहोमादयो द्रव्यगुणादयश्च गृह्यन्ते। (सारविवेचिनी)

आदि का होना' लक्ष्य (गाय) में पाया जाता है, अतः यहाँ 'असम्भव' दोष भी नहीं है।[1]

लौगाक्षिभास्कर ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—**वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः**। दोषत्रयविमुक्त होने के कारण यह लक्षण शुद्ध है। ग्रन्थकार ने दिखलाया है कि विभिन्न विषयों में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारण के लिये ही यहाँ पर **वेदप्रतिपाद्य**, **प्रयोजनवत्** एवं **अर्थ** शब्दों का प्रयोग किया गया है। लक्षणगत **प्रयोजनवत्** शब्द के प्रयोग से प्रयोजन का निवारण होता है; अन्यथा प्रयोजन भी धर्म हो जाता। 'धर्म' प्रयोजन वाला होता है, स्वर्गादि धर्म के प्रयोजन होते हैं, इसलिये धर्म प्रयोजन वाला (प्रयोजनवान्) होता है, प्रयोजन नहीं। इस प्रकार धर्म के लक्षण द्वारा प्रयोजन गृहीत नहीं होता। लक्षण में **वेदप्रतिपाद्य** शब्द के प्रयोग से भोजन आदि का निवारण हो जाता है, क्योंकि भोजन या भोजन करने का विधेय रूप में प्रतिपादन वेद में नहीं मिलता। भोजन स्वभावप्राप्त है। मानव स्वभाव से भोजन का इच्छुक प्राणी होता है। भोजन प्रयोजनवत्—क्षुधानिवृत्तिरूप प्रयोजन वाला होता है, अर्थ—इष्ट होता है, अनिष्टकारी नहीं। फिर भी वह 'वेदप्रतिपाद्य' नहीं होता अर्थात् विधेय रूप में वेद में प्रतिपादित नहीं होता। अतएव लक्षण के अनुसार भोजन धर्म नहीं है। 'वेदप्रतिपाद्य' पद के प्रयोग से 'भोजन' का निवारण हो जाता है।

लक्षण में तीसरा व्यावर्तक शब्द **अर्थ** है। 'अर्थ' पद से अभिप्राय ऐसी क्रिया से है, जो सुखमात्र का जनक हो। श्येन याग आदि से शत्रुमारणजन्य सुखरूप फल होने पर भी अन्त में नरक मिलता है; क्योंकि श्येन आदि याग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान है, अतः श्येन याग आदि दुःख के भी जनक होते हैं, सुखमात्र के जनक नहीं। इसीलिए 'अर्थ' पद का प्रयोग लक्षणवाक्य में कर देने पर श्येन याग आदि में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यह इसलिये कि उक्त प्रकार से वह (श्येन याग) अर्थ कहलाने का अधिकारी नहीं होता कि उसे 'वेदप्रतिपाद्यप्रयोजवान् अर्थ' कहा जा सके।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार स्वकृत धर्मलक्षण की जैमिनिकृत धर्मलक्षण से आपाततः प्रतीत होने वाली असङ्गति का निवारण करते हैं—

५. वेदस्याखिलस्य धर्मप्रतिपादकत्वमेव

न च चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (जैमिनिसूत्र १.१.२) इति सौत्रतल्लक्षण-विरोधः। चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।

१. तदेव हि लक्षणं यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपदोषत्रयशून्यम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। अव्याप्तिश्च लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम्। अत एव गोर्न कपिलत्वं लक्षणं तस्यातिव्याप्तिग्रस्तत्वात्। अतिव्याप्तिश्च लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वम्। अत एव गोर्न शृङ्गित्वं लक्षणं तस्यातिव्याप्तिग्रस्तत्वात्। असम्भवश्च लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम्। यथा गोरेकशफवत्त्वं लक्षणं तस्यासम्भवग्रस्तत्वात्। (तर्कसङ्ग्रह, पदकृत्य टीका)

अर्थ—वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः इस धर्मलक्षण का **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** (जैमिनिसूत्र १-१-२) इस मीमांसासूत्र में प्रतिपादित धर्मलक्षण से विरोध उपस्थित हो रहा है, क्योंकि चोदना शब्द (सूत्रस्थ) वेद के एक अंश विधि-मात्र का वाचक है, सम्पूर्ण वेद का नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, वहाँ जैमिनि-सूत्र में भी 'चोदना' शब्द पूरे वेद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, न कि केवल विधि अर्थ में। यह इसलिये कि सारे वेदों का तात्पर्य धर्म में होने के कारण समग्र वेद धर्म का ही प्रतिपादक है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तत्र च सौत्रचोदनापदपरित्यागेन वेदपदप्रदानं सूत्रविरुद्धमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह—तत्रापीति। तत्रापि सूत्रेऽपि। वेदमात्रपरत्वादिति। चोदनाप्रकरणपठितकृत्स्नवेदपरत्वादित्यर्थः। तेन न ब्रह्ममीमांसाविरोधः। नापि सौत्रचोदनापदविरोधः, चोदनाशेषार्थवादादेर्वेदस्य स्वप्रकरणपठितस्य तथा गृहीतात्प्रकरणान्तरपठितस्य ब्रह्मवाक्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वेऽपि। ननु 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्', 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिद'दित्यादिवाक्यानां धर्मप्रतिपादकत्वादर्शनात् कथं चोदनापदस्य यागादिधर्मविधायकस्य वेदपरत्वमित्याशङ्क्य, विधिविशेषस्य स्तुत्यादेः प्रतिपादकत्वेन सर्वस्यापि तादृशवेदवाक्यस्य धर्मतात्पर्यकत्वान्नैवमित्याह—सर्वस्येति। ननु 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इत्यत्र सूत्रेऽर्थत्वे सति चोदनागम्यत्वं धर्मलक्षणं प्रत्यक्षाद्यगोचरेऽपि धर्मे चोदनागम्ये गमकं चोदनावाक्यमेव प्रमाणमिति प्रतीयते। तच्चायुक्तम्। एकसूत्रवाक्यस्य स्वरूपप्रमाणपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गादिति चेत्; सूत्रस्यार्थतो धर्मलक्षणत्वेऽपि मुखतः प्रमाणपरत्वात्। तथा चोक्तम्—'धर्मलक्षणपरं सूत्रमर्थात्प्रमाणप्रतिज्ञेति' प्राभाकराः। 'मुखतः प्रतिज्ञार्थाद्धर्मलक्षणत्वमिति वार्तिककारीया' इति।**

अर्थबोधिनी—पिछली पङ्क्तियों में ग्रन्थकार ने धर्म का लक्षण **वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवद्र्थो धर्मः** कियां है। वेद पाँच भागों में विभक्त है; यथा—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एव अर्थवाद[१]। ग्रन्थकार के लक्षण के अनुसार इन पाँचों में धर्म का प्रतिपादन मान्य होता है; किन्तु इस धर्म के लक्षण का जैमिनिकृत धर्म के लक्षण से विरोध प्रतीत होता है। जैमिनिकृत धर्म का लक्षण है—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** अर्थात् प्रेरणादायी 'विधि' वाक्य द्वारा जो प्रतिपादित होता है, वह है—धर्म[२]। **यजेत स्वर्गकामः** आदि अप्रवृत्तप्रवर्तक विधियाँ, जो याग करने के लिए प्रेरित करती हैं, 'चोदना' शब्द से कही जाती है[३] और विधि वेद के पाँच भागों में से एक है।[४] पूर्वपक्ष का सारांश यह है कि ग्रन्थकार की दृष्टि

१. स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः। (विभाग–१२)
२. चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः। (शाबरभाष्य)
३. चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः। (श्लोकवार्तिक)
४. चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात्। (विभाग–५)

में जहाँ समग्र वेद (विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद) धर्म का प्रतिपादक माना गया है, वहाँ सूत्रकार जैमिनि की दृष्टि में वैसा न माना जाकर वेद के एकदेशमात्रभूत केवल विधि को ही धर्म का प्रतिपादक माना गया है। समग्र वेद का प्रतिपाद्य और केवल वेदैकदेश विधि का प्रतिपाद्य—ये दोनों भला कैसे एक हो सकते हैं?

प्रकृत पङ्क्तियों के प्रथम वाक्य में उक्त विरोध का प्रदर्शन करके उसका परिहार किया गया है। वाक्य का अन्वित रूप इस प्रकार होगा—**चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात् 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सौत्रतल्लक्षणविरोध**[१] **इति च न वाच्यम्** अर्थात् 'चोदना' पद के विधिरूप वेद के एक अंश का वाचक होने के कारण **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** इस (जैमिनि) सूत्र में प्रतिपादित उस (धर्म) के लक्षण से (हमारे धर्म के लक्षण का) विरोध है, ऐसा नहीं कहना चाहिये।

दोनों धर्मलक्षणों में विरोध क्यों नहीं है? ग्रन्थकार का उत्तर है—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** में 'चोदना' पद का तात्पर्य सम्पूर्ण वेद से है (**तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्**)। 'चोदना' पद से विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद सभी विवक्षितरूपेण ज्ञातव्य हैं। 'चोदना' का अर्थ विधिवाक्य होता है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। मन्त्र[२] और नामधेय[३] भी विधि या चोदना से सम्बद्ध ही हैं। अब रहे निषेध और अर्थवाद। अर्थवाद के द्वारा पुरुष यागादि का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित किया जाता है; अतएव अर्थवाद भी विधि से सम्बद्ध है।[४] रहा निषेध। चोदना एवं निषेध दोनों परस्पर विरोधी हैं। चोदना वाक्य प्रवर्तक होता है और निषेध निवर्तक।[५] फिर चोदना पद का अर्थ निषेध कैसे हो सकता है? इस कठिनाई को दूर करने के लिए श्लोकवार्तिककार ने कहा है कि प्रवृत्तिस्थल में तथा निवृत्तिस्थल में उसके पूर्व होने वाली शब्दश्रवणजन्य बुद्धि ही 'चोदना' पद का अर्थ है।[६] इस प्रकार निषेध भी चोदना-प्रतिपाद्य के अन्तर्गत आ जाता है।

मन्त्रादि वेद भी धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं और विधिरूप चोदना भी जब धर्म का ही प्रतिपादन करती है तब धर्मप्रतिपादकता सबमें समान होने के कारण मन्त्रादि को

---

१. सूत्रे भवम् अथवा सूत्रे प्रतिपादितं सौत्रम्। तस्य धर्मस्य लक्षणं तल्लक्षणम्। सौत्रञ्च यत्तल्लक्षणं सौत्रतल्लक्षणम्; तेन विरोधः सौत्रतल्लक्षणविरोधः। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति जैमिनिसूत्र-प्रतिपादितधर्मलक्षणेन 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इत्यस्मद्धर्मलक्षणस्य विरोध इति पूर्वपक्षहृदयम्। वस्तुतस्तु तन्न तथा।

२. देखिए—प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। (विभाग–६।

३. नामधेयानाञ्च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। (विभाग–६

४. विशेष विवरण के लिये अर्थवाद का स्थल देखिये।

५. पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। (विभाग–७

६. प्रवृत्तौ या निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः सा चोदना। (श्लोकवार्तिक

'चोदना' शब्द से कहा जा सकता है। इसलिए सूत्रस्थ चोदना पद को समग्र वेदपरक मानना उचित है। ऐसी परिस्थिति में उक्त प्रदर्शित विरोध बिल्कुल स्थान नहीं पाता।

प्रसङ्ग—किस प्रकार 'यागादि' धर्म (१) 'वेदप्रतिपाद्य' (२) प्रयोजनवान् और (३) अर्थ है, इस विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है—

६. विधिपदे धातुप्रत्ययांशार्थविवेचनम्

स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथाहि। 'यजेत' इत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्यस्त्यंश-द्वयमाख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

अर्थ—और **यजेत स्वर्गकामः** इत्यादि वाक्य के द्वारा उस याग का विधान स्वर्ग के उद्देश्य से पुरुष के प्रति किया जाता है। इसे स्पष्ट रूप से यों समझें—'यजेत' इस पद में यज् धातु और त प्रत्यय—ये दो अंश हैं। 'त' प्रत्यय में भी दो अंश हैं—(१) आख्यातत्व एवं (२) लिङ्त्व (लिङ् का धर्म[1])। 'आख्यातत्व' धर्म दसों लकारों में रहता है; किन्तु 'लिङ्त्व' केवल 'लिङ्' में ही रहता है। 'आख्यातत्व' एवं 'लिङ्त्व' इन दोनों अंशों के द्वारा भावना का बोध होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु पूर्वं प्रयोजनवत्त्वमपि धर्मलक्षणे विशेषणं दत्तं ततश्च किं तत्प्रयोजनं किञ्च तदुद्देशेन धर्मविधायकं चोदनावाक्यमिति वीक्षायामाह—स चेत्यादिना। यद्यपि यथा प्रत्यक्षादीनां धर्मे न प्रामाण्यं तथा चोदनावाक्यस्यापि न तत्र प्रामाण्यं सम्भवति, यतः शक्तिग्रहणपूर्वकं लोके ह्याप्तवाक्यस्य प्रामाण्यं इष्टम्, शक्तिश्च लोकप्रसिद्धे गवादौ गृह्यते, धर्मस्य चालौकिकत्वात्तत्र शक्तिग्रहणं न सम्भवति, शक्तिग्रहणमन्तरेण च हुंफडादिवच्चोदनावाक्यस्यापि धर्माबोधकत्वान्न तत्र प्रामाण्यम्। तथापि 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबती'त्यत्र वाक्ये यथा मधुकरपदस्यार्थम-जानन् तदन्यपदार्थांश्च जानन् तत्समभिव्याहारात्कमलमध्यगते मधुपानं कुर्वति दृश्यमाने भ्रमरे मधुकरशब्दस्य सङ्गतिं गृहीत्वार्थं प्रतिपद्यते। तथा 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेते'त्यादौ लोकप्रसिद्धार्थवृष्ट्यादिपदसमभिव्याहारादलौकिकेऽपि भावनापदार्थे चोदनायाः सङ्गतिं गृहीत्वा चोदनावाक्यार्थं प्रतिपद्यत इति धर्मबोधकत्वाच्चोदनाया धर्मे नाप्रामाण्यमस्ति। तथा धर्मस्यालौकिकत्वेन प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्वेदस्य च तत्र स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमान्न चोदनाया धर्मबोधने मानान्तरसापेक्षत्वमपि। तस्मादप्रामाण्यकारणयोरबोधकत्वसापे-क्षत्वयोरसम्भवाच्चोदनायाः सिद्धं स्वतःप्रामाण्यं धर्मे। ततश्च विधायकत्वमुपपन्नमित्य-भिप्रेत्योक्तं—स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयत इति। एतेन विध्यादेर्धर्मे प्रामाण्यं प्रथमाध्यायार्थो

१. यहाँ 'धर्म का अर्थ वैशेषिकदर्शनसम्मत स्वभाव है, न कि मीमांसाभिमत यागादि क्रिया।

ध्वनितः। मानसविषयत्वाकारेण स्वर्गं सिद्धवन्निदर्श्य तत्साधनत्वेनाज्ञातस्य यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इति तदर्थः। तथा चोक्तम् 'फलस्योद्देश्यत्वं नाम मानसापेक्षी विषयत्वाकार' इति।

ननु 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादौ साधनत्ववाचकशब्दस्यादर्शनात्कथं स्वर्गसाधनत्वेन वेदेन यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्यययोर्विभागपुरःसरं प्रत्ययस्यांशविवेकेन भावनां प्रतिपादयन् तत्सामर्थ्येन यागस्य स्वर्गसाधनत्वं दर्शयति—तथा हीत्यारभ्य अथ क इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। यद्वा ननु यागादीनां स्वर्गसाधनत्वं स्वर्गस्य कालान्तरभावित्वादपूर्वमन्तरेण तन्निष्पादकत्वासम्भवात्। न च यागादीनामपूर्वनिष्पादकत्वं स्यादिति वाच्यम्। सिद्धस्यैव लोके साध्यनिष्पादकत्वदर्शनात्साध्यस्वभावस्य यागदानादिरूपस्य भावार्थस्यापूर्वनिष्पादकत्वासम्भवात्। तस्मान्न यागादेः स्वर्गसाधनत्वम्। ततश्च न तदुद्देशेन यागादिविधिरिति चेन्न। क्रियामन्तरेण द्रव्यादेः सिद्धस्यापि लोके फलविशेषसाधनत्वादर्शनात्। न हि पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वं दृश्यते। मा भूत्तर्हि न तावता भवदिष्टसिद्धिरिति चेत्। साध्यस्यापि भावार्थस्य यागादेरेकपदोपात्तत्वेन भावनाभाव्यनिर्वृत्तिद्वारेण भावनाकरणस्य स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वद्वारा भावनाभाव्यस्वर्गनिष्पादकत्वादित्यभिप्रायेण भावनां निरूपयितुं विधेर्विधायकत्वप्रकारं प्रदर्शयितुं च प्रकृत्यादिकं विभजते—तथा हीत्यादिना। तत्रेति। आख्यातत्वलिङ्त्वयोर्मध्य इत्यर्थः। उभाभ्यामिति। आख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यामित्यर्थः। भावनैवेत्येवकारेण कर्त्रादिवाचकत्वमाख्यातस्य वारयति।

अर्थबोधिनी—'यजेत स्वर्गकामः' यह वैदिक वाक्य है। इस प्रकार के वाक्यों को विधि कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि जो पुरुष स्वर्गरूप फल को चाहता हो, वह याग करे। स्वर्ग केवल सुखप्रद होने के कारण 'अर्थ'रूप है, 'अनर्थ' नहीं; इस प्रकार याग धर्म हुआ, क्योंकि धर्म के स्वरूप का परिचय देते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—यागादिरेव धर्मः, तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।

यजेत स्वर्गकामः एक विधिवाक्य है, जो याग-जैसे धर्म के अनुष्ठान का विधान करता है। यह विधान ऐसे पुरुष के प्रति किया जाता है, जिसे स्वर्गरूप प्रयोजन की कामना हो (स्वर्गकामः पुरुषः)। प्रश्न यह है कि यह विधान किस प्रकार होता है? मीमांसक का उत्तर इस प्रकार है—**यजेत स्वर्गकामः** विधि में **यजेत** पद में दो अंश हैं—(१) 'यज्' धातु (२) 'त' प्रत्यय (√ यज + त)। 'यज्' धातु है, जो अनुष्ठान, पुरुष, संख्या, काल आदि के सम्बन्ध से रहित है अर्थात् केवल 'यज्' धातु के उच्चारण से याग सम्पन्न होने या किये जाने (अनुष्ठान) की सूचना नहीं मिलती और अनुष्ठान की सूचना न होने के कारण 'मैं, तुम या और कोई' जैसे (पुरुष) का भी याग के अनुष्ठान से सम्बन्ध नहीं

है। न तो एक, दो या अधिक (संख्याविशिष्ट) व्यक्तियों का याग के अनुष्ठान से सम्बन्ध है। इसी प्रकार भूत, भविष्य या वर्तमान जैसे काल या लकार का भी क्रिया के अनुष्ठान होने से सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु प्रत्यय (त) जुड़कर धातु का रूप (यजेत) क्रियापद बनता है। 'यजेत' क्रियापद याग के अनुष्ठान का बोधक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यज्' धातु याग के सामान्य रूप का बोधक है और 'त' प्रत्यय अनुष्ठान का बोधक। अनुष्ठान के साथ ही 'त' प्रत्यय प्रथम पुरुष (पुरुष), एकत्व (सङ्ख्या), विधि लिङ् (लकार) का भी बोधक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'त' से अनुष्ठान का ज्ञान कैसे होता है? अनुष्ठान होने की प्रक्रिया को विस्तार से आगे समझाया जायेगा। पहिले इतना समझ लेना चाहिये कि 'त' प्रत्यय लिङ् (विधि) लकार[1] का तिङ्[2] प्रत्यय है। तिङ् होने के कारण 'त' प्रत्यय में तिङ्धर्म—तिङ्त्व अर्थात् आख्यातत्व है एवं लिङ् का रूप होने से इसमें लिङ्त्व भी विद्यमान है। इस 'त' प्रत्यय के दो अंश हो जाते हैं—१. आख्यातत्व एवं २. लिङ्त्व। आख्यातत्व या तिङ्त्व धर्म दसों लकारों में रहता है; क्योंकि तिङ् प्रत्ययों का उपयोग दसों लकारों में होता है; किन्तु लिङ् धर्म—लिङ्त्व केवल लिङ् लकार में ही रहता है; क्योंकि लिङ्त्व का अपना विशेष धर्म है। 'आख्यातत्व' एवं 'लिङ्त्व'—इन दोनों अंशों से भावना का बोध होता है और भावना के द्वारा ही पुरुष याग कर्म में प्रवृत्त किया जाता है। भावना का विवेचन ग्रन्थकार विस्तार से आगे करेंगे।

प्रसङ्ग—अब भावना का लक्षण करके उनके दोनों भेद बतलाये जा रहे हैं—

७. प्रत्ययांशयोर्भावनाद्वयबोधकत्वम्

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा द्विधा। शाब्दी भावना आर्थी भावना चेति।

अर्थ—उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत ज़ो उत्पादयिता का मानसिक व्यापारविशेष होता है, उसे भावना कहा जाता है। भावना दो प्रकार की होती है—१. शाब्दी भावना और २. आर्थी भावना।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**भावनासामान्यं लक्षयति—भवितुरिति। भवितुरुत्पद्यमानस्योत्पत्त्यनुकूलो भावयितुरुत्पादयितुः प्रयोजकस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। प्रयोजक-**

१. लकार दस होते हैं—
लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ् (विधि एवं आशीः) लुङ्, लृङ्।
२. 'तिङ्' प्रत्यय अट्ठारह होते हैं—
तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।

व्यापारत्वादेव णिजन्तेन भावनाशब्देनोच्यते। यथोत्पद्यमानस्यौदनस्योत्पत्त्यनुकूलो देवदत्तस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। यथा चोत्पद्यमानाया देवदत्तप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलः प्रवर्तकस्य चैत्रस्याभिप्रायविशेषः। यथा वा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्रोत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वोत्पत्त्यनुकूलः स्वर्गकामस्य व्यापार उत्पद्यमानायाश्च स्वर्गकामप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलो लिङो व्यापारविशेषः। तथा चान्योत्पादनानुकूलो भावुकस्य व्यापारविशेषो धात्वर्थादन्यः सर्वधात्वर्थसम्बद्धाकारेण भासमानो भावनासामान्यमिति सिद्धम्। तथा चोक्तम्—

धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लभ्यते।
तथापि　सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते।। इति।

भावनां विभजते—सा द्विधेति।

अर्थबोधिनी—'भावना' यह मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यहाँ इसका लक्षण **भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः** किया गया है।[1] भावना-सिद्धान्त मीमांसा के प्रसिद्ध सिद्धान्तों में से अन्यतम है।

भावना के स्वरूप को स्पष्ट रूप में समझने के लिए एक लौकिक उदाहरण दिया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा कि 'भात पकाओ' (ओदनं पच) देवदत्त यज्ञयत्त का 'ओदनं पच' वाक्य सुनता है, फिर सोचता है कि यज्ञदत्त का प्रयोजन है कि मुझ (देवदत्त) में भात पकाने के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न हो, ताकि मैं भात प्रकाऊँ। अतः देवदत्त में भात पकाने के प्रति उन्मुखता (प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है तदनुसार वह चावल आदि सामग्री से भात पकाने की क्रिया सम्पन्न करता है। वहाँ देवदत्त की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने में अनुकूल होने वाला प्रवर्तक यज्ञदत्त का अभिप्राय शाब्दी भावना है। पाकात्मक क्रिया के अनुष्ठान होने में अनुकूल होने वाली देवदत्त की प्रवृत्ति आर्थी भावना है।

उक्त उदाहरण में दो भाग समझे जाने चाहिये—

१. यज्ञदत्त के अभिप्राय का विषयभूत देवदत्त में प्रवृत्ति का उत्पन्न होना।

२. देवदत्त में उत्पन्न प्रवृत्ति का विषय ओदन-पाचन होना।

भावना के लक्षण **भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः** को दोनों भागों पर कार्यान्वित करने से क्रमशः शाब्दी एवं आर्थी भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा—

१. **भवितुः** पद 'भवितृ' प्रातिपदिक के षष्ठी एकवचन का रूप है, प्रथमा एकवचन में भविता रूप बनेगा। 'भवितृ' का अर्थ है—होने वाला अर्थात् 'उत्पन्न होने वाला' (उत्पद्यमान)। यहाँ 'देवदत्तनिष्ठपाकविषयकप्रवृत्ति' (अर्थात् देवदत्त में भात पकाने के प्रति उन्मुखता) ही भविता या उत्पद्यमान है। 'भवन' का अर्थ है—होना अर्थात् उत्पन्न

१. मीमांसान्यायप्रकाश में भावना का लक्षण इस प्रकार मिलता है—
भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः।

होना (उत्पत्ति)। 'अनुकूल' का अर्थ है—सहायक अथवा कारणभूत। **भावयितुः** पद भावयितृ के षष्ठी एकवचन का रूप है। प्रथमा एकवचन में 'भावयिता' रूप बनेगा। 'भावयिता' का अर्थ है—उत्पादयिता। यहाँ यज्ञदत्त भावयिता है।[1] **व्यापारविशेष** का अर्थ है—अभिप्रायविशेष।

भावना के लक्षण की व्याख्या इस प्रकार इस प्रकार होगी—**भवितुः उत्पद्यमानायाः ओदनपाककरणविषयकदेवदत्तप्रवृत्तेः भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः कारणभूतः भावयितुः यज्ञदतस्य व्यापारविशेषः मानसिकव्यापारविशेषः अभिप्रायविशेषः**। अर्थात् पाक-विषयक देवदत्त की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने में कारणभूत अर्थात् सहायकभूत यज्ञदत्त का अभिप्रायविशेष भावना (शाब्दी) है। यज्ञदत्त के वाक्य को सुनकर ही देवदत्त में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव यज्ञदत्त में भावना है, जिसकी शक्ति के फलस्वरूप देवदत्त में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। भावना अभिप्रायविशेष है। अभिप्राय का कोई साध्य होता है। यहाँ भावना (शाब्दी) का साध्य देवदत्त की प्रवृत्ति है[2]। आर्थी भावनारूप देवदत्त की प्रवृत्ति की सिद्धि यज्ञदत्तनिष्ठ भावना से होती है। ध्यान रहे, भावना व्यापारविशेष अर्थात् क्रियाविशेष हैं। विशेष इसलिए कि भावना बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष देखी जाने वाली क्रिया नहीं है; अपितु मानसिकी क्रिया है—मानस व्यापार। क्रिया के द्वारा जिस प्रकार कुछ करने की ओर उन्मुख हुआ जाता है, उसी प्रकार भावना के द्वारा भी कुछ होने—उत्पन्न होने—की ओर उन्मुख हुआ जाता है। शाब्दी भावनारूप क्रिया आर्थी भावना को उत्पन्न करती है। यज्ञदत्तनिष्ठ शाब्दी भावनारूप क्रिया देवदत्तप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना को उत्पन्न करती है।

इसी प्रकार **यजेत स्वर्गकामः** यह वैदिक वाक्य है। यहाँ भावयिता यही वैदिक वाक्य (में स्थित लिङ् अंश) है, कोई व्यक्तिविशेष नहीं।[3] अतः इस वाक्य को सुनकर

---

१. भावना, भविता, भवन, भावयिता—ये सभी 'भू' धातु से निष्पन्न परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। 'भू' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय का णिजन्त स्त्रीलिङ्ग रूप 'भावना' बनता है। भावना की व्युत्पत्ति है—**भाव्यते अनया इति भावना** अर्थात् जिसके द्वारा होने के लिये प्रेरित किया जाय, उसे भावना कहते हैं।
इसी प्रकार **भावयति इति भावयिता** अर्थात् 'जो होने के लिये प्रेरित करता है' वह भावयिता है, **भाव्यते इति भविता** अर्थात् जिसे होने के लिये प्रेरित किया जाय, वह भविता है एवं **भवति इति भवनम्** अर्थात् 'होना' भवन है। इनके साथ भावना का सम्बन्ध इस प्रकार है—
भावयिता भावनया भवितारं भावयति अर्थात् भावयिता भावना के द्वारा 'होने वाले' को 'होने' के लिये प्रेरित करता है। इसी अर्थ को भावना-लक्षण में प्रकारान्तर से व्यक्त किया गया है।

२. अन्योत्पादानुकूला भावना साध्यरूपिणी। (कौमुदी)

३. **यजेत स्वर्गकामः** वाक्य में भावयिता केवल 'यजेत' के 'त' प्रत्यय का 'लिङ्' अंश है,

'स्वर्गकाम' (स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा वाले) पुरुष में यागानुष्ठानविषयक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, अतएव स्वर्गकाम व्यक्ति की यागविषयक प्रवृत्ति यहाँ पर भविता हुई। इस वैदिक वाक्य में शाब्दी भावना का लक्षण इस प्रकार चरितार्थ होता है—**भावना नाम भवितुः स्वर्गकामप्रवृत्तेः भवनानुकूल उत्पत्त्यनुकूलः भावयितुः लिङः व्यापारविशेषः प्रेरणात्मककर्मविशेषः।**

२. अब द्वितीय भाग देवदत्त में उत्पन्न प्रवृत्ति का विषय ओदनपाचन 'होने' में भावना का लक्षण चरितार्थ किया जा रहा है। इस प्रकार यह लक्षण आर्थी भावना का होगा। ध्यान रहे कि यहाँ भविता 'ओदनपाक' होगा और भावयिता देवदत्त होगा। तब भावना की व्यांख्या इस प्रकार होगी—**भावना नाम भवितुः उत्पद्यमानस्य ओदनस्य भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः कारणभूतः भावयितुः उत्पादयितुः देवदत्तस्य व्यापारविशेषः मानसिकक्रियारूपः औन्मुख्यभावः** अर्थात् उत्पन्न होने वाले भात के उत्पन्न होने में कारणभूत देवदत्त का मानसिक व्यापारविशेष भावना (आर्थी) है।

इसी प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इस वैदिक वाक्य के 'त'–प्रत्ययनिष्ठ लिङ् में शाब्दी भावना है। उस शाब्दी भावना से श्रोता में आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शाब्दी भावना का भाव्य या उत्पाद्य आर्थी भावना है। शाब्दी भावना एक अभिप्रायविशेष है, जो लिङ् में स्थित रहता है। अभिप्रायविशेष यह है कि श्रोता में याग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। 'श्रोता में याग करने की प्रवृत्ति' को ही आर्थी भावना कहेंगे। आर्थी भावना इसलिये कहते हैं कि मुख्य प्रयोजनभूत अर्थ के साथ अर्थात् फल के साथ वह भावना अव्यभिचारिणी होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि देवदत्त में साङ्ग यागानुकूल प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर उसके द्वारा किये जाने पर साङ्ग याग से स्वर्गात्मक फल (अर्थ) अवश्य प्राप्त होता है; परन्तु यह परिस्थिति शाब्दी भावना के लिये नियत भाव से नहीं हो पाती। यज्ञदत्त का यह अभिप्राय होने पर भी कि 'देवदत्त याग करे' यदि देवदत्त याग में प्रवृत्त न हो तो अप्रवर्तमान देवदत्त को स्वर्गात्मक फल (अर्थ) नहीं प्राप्त होता है, अतः यज्ञदत्तगत अभिप्राय को देवदत्तगत स्वर्गात्मक फलस्वरूप अर्थ का अव्यभिचारी नहीं कहा जा सकता—कारण नहीं कहा जा सकता।

यजेत स्वर्गकामः इस वाक्य के साथ (आर्थी) भावना का लक्षण इस प्रकार घटित होगा—**भावना नाम भवितुः उत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्य वा भवनस्य उत्पत्तेः**

क्योंकि 'स्वर्गकामः' पद में भावना नहीं है, वह तो अधिकारी पुरुष का विशेषणमात्र है। 'यजेत' में भी 'यज्' धातु भावयिता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती, क्योंकि प्रत्ययरहित धातुमात्र से प्रेरणा का बोध नहीं होता। 'त' प्रत्यय में 'आख्यातत्त्व' एवं 'लिङ्त्व' दो अंश हैं। उनमें 'आख्यातत्त्व' क्रियासामान्य का बोधक है; जबकि प्रवर्तना 'लिङ्त्व' में रहती है। अतएव 'लिङ्' ही भावयिता है।

अनुकूलः जनकः भावयितुः उत्पादयितुः स्वर्गकामस्य पुरुषस्य व्यापारविशेषः अर्थात् उत्पन्न होने वाली यागरूप क्रिया अथवा स्वर्ग की उत्पत्ति का कारणभूत स्वर्गकाम श्रोता की प्रवृत्ति आर्थी भावना होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भावना नाम..........व्यापारविशेषः यह भावना का एक सामान्य लक्षण है, जो शाब्दी एवं आर्थी दोनों भावनाओं के लिये समान है।

प्रसङ्ग—भावना-सामान्य के लक्षण के पश्चात् अब शाब्दी भावना का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है—

८. सभेदशाब्दीभावनानिरूपणम्

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत् तस्य वाच्यम्। यथा गामानय इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्। स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुष-निष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते।

अर्थ—उन दोनों भावनाओं में से प्रयोजक के उस व्यापारविशेष को, जो प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला होता है, शाब्दी भावना कहा जाता है। शाब्दी भावना का बोध 'लिङ्' अंश से होता है। प्रयोजक पुरुष जब 'लिङ्' अंश को सुनता है तब वह यह समझता है कि 'यह प्रयोजक पुरुष मुझे कर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है; अतः इस प्रयोजक वृद्ध में मेरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला व्यापार है, यही व्यापार 'लिङ्-वाच्य' शाब्दी भावना है; क्योंकि नियमतः जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, वह अर्थ उसी शब्द का वाच्य होता है; जैसे 'गामानय' यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ 'गोत्व' इसीलिए होता है। वह व्यापारविशेष अर्थात् शाब्दी भावना लौकिक वाक्य में तो पुरुषगत व्यापारविशेष होता है और वैदिक वाक्य में यह भावना शब्दनिष्ठ होती है, क्योंकि मीमांसा-सिद्धान्त में वेदकर्त्ता कोई पुरुष नहीं होता। शब्द में निष्ठ होने के कारण ही इस भावना का नाम शाब्दी भावना पड़ा।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तत्र शब्दभावनां लक्षयति—तत्रेति। तत्र तयोः शब्दभाव-नार्थभावनयोर्मध्य इत्यर्थः। परिस्पन्दपरिणामविलक्षणः पुरुषप्रवृत्त्यात्मकार्थभावनोत्पत्त्य-नुकूलो लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः शब्दभावनेत्यर्थः। शब्दभावनैव लिङ्त्वादिना लिङाद्यर्थ इत्याह—सा चेति। तस्या लिङाद्यर्थत्वेऽनुभवं प्रमाणयति—लिङ्श्रवण इति।**

अनुभवमभिनयतिमदिति। यद्वा, ननु कथमननुभूयमानत्वाल्लिङादिवाच्यत्वं भावनाया लिङादेः प्रवर्तकत्वेऽपि तत्र भावनारूपव्यापारस्याननुभवादित्याशङ्क्य तं व्यापारं स्पष्टतयानुभावयति—मदित्यादिना। पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलं व्यापारं लिङादिशब्दनिष्ठतयानुभावयित्वा तस्य लिङादिशब्दान्नियमेन प्रतीयमानत्वाल्लिङादिशब्दवाच्यत्वमित्यनुमानप्रदर्शनाय व्याप्तिं दर्शयति—यदित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथेत्यादि। सा च शब्दभावना लोके वेदे च प्रवर्तनात्वेनैव लिङादिशब्दवाच्या तत्त्वेनैव च पुरुषप्रवृत्तिहेतुरिति स्वीकर्तव्यम्। अन्यथा प्रैषादेरनेकस्य पुरुषाशयविशेषस्य विधिवाच्यत्वानुपपत्तिः स्यातु, आनन्त्यव्यभिचारदोषप्रसङ्गात्। प्रवर्तनात्वं च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वम्। अनुकूलत्वं च जनकत्वम्।

तच्च लोके पुरुषाशयवृत्ति, वेदे तु पुरुषाभावात्पुरुषाशयभिन्नस्यैव कस्यचिल्लिङादिशब्दनिष्ठव्यापारविशेषस्य प्रवर्तनात्वमित्याशयेनाह—स चेत्यादिना। अत्रेदं बोध्यम्—तस्य व्यापारविशेषस्य प्रवृत्तिविषयस्येष्टसाधनत्वानुमानद्वारा प्रवृत्तिजनकत्वमङ्गीकरणीयम्। अन्यथा प्रवृत्तिविषयस्येष्टसाधनत्वानाक्षेपे प्रवृत्त्यनुपपत्तिः स्यात्। तथा चानुमानम्—विमतमिदमिष्टसाधनमप्यत्र प्रवर्ततामित्याकारकाप्तेष्टव्यापारविशेषविषयत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रतारकवाक्योपस्थितम्। अत्र सुखे सुखं मे जायतामित्युदासीनस्य कस्यचिदिच्छाविषयत्वेऽपीष्टसाधनत्वाभावात्तत्र व्यभिचारव्यावृत्तये हेतावाकारकान्तम्। प्रतारकस्य तादृशेच्छाविषये व्यभिचारवारणायाप्तेति। आप्तत्वं च लोकवेदसाधारणं प्रतारणाद्यजन्यहिताहितोपदेशकर्तृत्वे सति तद्भिन्नोपदेशकर्तृत्वम्। प्रतारणया तु सर्वदा हिताहितोपदेशकर्तर्यनाप्तेऽतिप्रसङ्गवारणायाजन्यान्तम्। कदाचित्प्रतारणाद्यजन्यतत्कर्तरि तद्दोषवारणायोत्तरदलम्। हितस्योपदेशस्तत्संग्रहायाहितस्योपदेशश्च तत्परिहाराय बोध्यः। ततश्च तत्कर्तृत्वं लोके पुरुषविशेषे वेदे च 'यजेत स्वर्गकामः', 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिवाक्ये भवति। तथा च लौकिकवैदिकव्यापारयोर्व्यापारविशेषत्वेन संग्रहाय हेतौ विशेषपदम्। वैदिकश्च स व्यापारविशेषः प्रवर्तनाप्रेषणाविध्यपरपर्याया भावनैव नञ्रहिते वाक्ये लिङाद्यर्थः। लौकिकस्तु प्रैषोऽतिसर्गः प्रेषणाज्ञाध्येषणानुज्ञानुमतिरित्यादिबहुविधो भवति। प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा पुरुषप्रवर्तना प्रैषः। अतिसर्गः कामचारः। उत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तना प्रेषणाऽऽज्ञा चोच्यते। निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना प्रार्थनाध्येषणा चोच्यते। समं प्रति समस्य प्रवर्तनोत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन जातानुज्ञानुमतिश्चोच्यते। ते च प्रैषादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्माः। पुरुषस्याशयविशेषा एवेत्यभिप्रायेण ग्रन्थकारेणाप्युक्तम्—लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेष इति। तथा च त एव लोके लिङाद्यर्थाः। तस्माल्लोके वेदे च व्यापार एव प्रवर्तनाख्यो लिङादिवाच्योऽर्थ इति फलितम्। ननु किमत्र वाच्यताख्यं शक्यतावच्छेकं शक्ततावच्छेदकं च? अन्यथातिप्रसङ्गापत्तेरिति चेत्। अत्रोच्यते—लौकिके हि प्रैषादौ वैदिके च भावनारूपे व्यापारे साधारणव्यापारत्वमेव पूर्वोक्तप्रवर्तनात्वरूपं शक्यतावच्छेदकमस्ति च लौकिके

लिङादिपदोपस्थाप्येतत्प्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताद्यनुमितिजनकं पुरुषाशयविशेषे प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापारत्वं वेदेऽपि लिङादिशब्दश्रवणादुत्तरकाले यागादिप्रवृत्तिदर्शनेनेयं देवदत्तस्य यागादिप्रवृत्तिः व्यापाराख्यप्रवर्तनाज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वाच्चैत्राशयज्ञानजन्यमैत्रगवानयनप्रवृत्तिवदित्यलौकिकमेव व्यापारमपौरुषेये वेदे इच्छादेर्बाधादनुमाय तत्प्रतीतेर्लिङादिज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्र लिङादिवाच्यत्वं च परिकल्प्य तस्य पूर्वोक्तविधिना प्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताद्यनुमापकतया बालस्तत्रापि प्रवृत्तिप्रयोजकव्यापारत्वं प्रतिपद्यते। कथं तर्हि लोकेऽपि व्यापारप्रतिपत्तिरिति चेदित्थम्—उत्तमवृद्धस्य सविधिकवाक्यश्रवणोत्तरकालभाविनीं मध्यमवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिमुपलभ्य बालो लोकेऽपि तत्प्रयोजकव्यापारमनुमिमीते। यथा हि गवानयनानुकूलोत्तमवृद्धवाक्यश्रवणोत्तरभाविनी मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः प्रवर्तनाज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वान्मद्रोदनपूर्वकमदीयभोजनादौ मदभिप्रायजन्यमन्मातृप्रवृत्तिवत्। अत्र स्वतःसिद्धप्रवृत्ताविष्टसाधनताज्ञानजन्यस्वप्रवृत्तौ च व्यभिचारवारणायान्यप्रेरितेति विशेषणम्। किञ्च प्रवर्तनाज्ञानमुत्तमवृद्धवाक्यजन्यं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायिघटवत्। किञ्च यस्माच्छब्दाद्यत्प्रतीयते तत्तद्वाच्यं घटपदवाच्यघटत्ववदित्युत्तमवृद्धवाक्यस्य मुग्धाकारां शक्तिं व्यापाराख्यप्रवर्तनायामवधार्य तत्र चावापोद्वापाभ्यां विधिशक्तिं तस्यामवधारयति, एवं सर्वत्रोह्यम्। तस्माल्लोकवेदसाधारण्येन व्यापारत्वमेव शक्यतावच्छेदकमिति सिद्धम्। शक्ततावच्छेदकं तु लिङ्त्वलेट्त्वलोट्त्वादिकं बोध्यम्। किञ्च यद्यपि निरुक्तविधया व्यापारत्वेनैव सामान्यरूपेण व्यापारज्ञानं तच्च विशेषज्ञानसापेक्षमतिप्रसङ्गवारणाय तथापि प्रमाणान्तरेण विशेषबोधः सुलभः। यथा घटवद्भूतलमित्यादौ घटपदाद् घटत्वावच्छिन्नघटमात्रप्रतीतावपि तस्य योग्यसंसर्गेण भूतलादावन्वये बुद्धे तत्संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायां प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेणैव संयोगत्वादिना संयोगादिरूपसंसर्गप्रतीतिर्भूतलवृत्तिघटविशेषप्रतीतिश्च भवति, तथा लिङादिपदाद्व्यापारत्वावच्छिन्नव्यापारमात्रस्योपस्थितावपि तस्याख्यातोपात्तार्थभावनाया योग्यसंसर्गेणान्वये बुद्धे पश्चात्तत्संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायां प्रवृत्तिप्रयोजकत्वानुपपत्त्यादिना प्रमाणेनैव विशेषरूपेण संसर्गविशेषप्रतीतिर्यागादिप्रवृत्तिसम्बन्धिव्यापारविशेषप्रतीतिश्च भवति, संसर्गविशेषस्तु तत्तत्प्रवृत्तिप्रागभावकाले यल्लिङादिपदज्ञानं तेनोत्पादितं यत्प्रेरणाज्ञानं तज्जन्येष्टसाधनताद्यनुमितिप्रयोज्यत्वम्। तेन च व्यापारवती यागादिप्रवृत्तिरिति भवति विशेषनिर्णयः। एवं च लोके वेदे च लिङादिश्रवणे प्रैषादिरूपस्य वक्त्रभिप्रायस्य भावनारूपस्य च व्यापारविशेषस्य व्यापारत्वेनैव रूपेण प्रतीतिर्न विशेषरूपेण, तथैव शक्तिग्रहात् विशेषरूपेण प्रतीतिस्तु लोकेऽजहल्लक्षणयैव। वेदे तु विशेषरूपाकाङ्क्षायां प्रैषादिरूपस्य वक्त्राशयविशेषस्यापौरुषेये वेदेऽसम्भवेन लिङादिशब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्यायः कश्चिद्व्यापारो विशेषरूप इत्युक्तमेव, तस्मान्निरुक्तव्यापार एव लिङाद्यर्थो नेष्टसाधनत्वादिरिति सिद्धम्। नन्विष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनात्वेन रूपेण

वेदे लिङाद्यर्थ इति मण्डनमिश्रा वदन्ति। अर्थभावनाभिधानानुकूलाया लिङादिनिष्ठशक्तेरे-वाभिधाख्यायाः प्रवर्तनात्वेन रूपेण लिङादिवाच्यत्वं परिकल्प्य तज्ज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वमात्रं वेदे कल्प्यत इति तु पार्थसारथिर्वदति। लिङादिश्रवणानन्तरं प्रवृत्ति-दर्शनात्प्रवृत्तिसामग्रीजननद्वारा लिङादिज्ञानस्य प्रवृत्त्याद्युपयोग इति तावदविवादम्। तत्सा-मग्री च कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छारूपा चिकीर्षा, तस्याश्च स्वरूपसत्याः कारणत्वात्तत्र लिङादिज्ञानस्यानुपयोगेऽपि चिकीर्षाकारणीभूतज्ञाने तदुपयोगः कल्प्यते। तच्च बलवद-निष्टाननुबन्धित्वज्ञानं कृतिसाध्यत्वज्ञानमिष्टसाधनत्वज्ञानं च अन्यतमाभावे इतरद्वयसत्वेऽपि मधुविषान्नभोजने चन्द्रस्पर्शे मण्डलीकरणादौ वा प्रवृत्त्यनुत्पत्तेः। तस्माल्लिङादिज्ञानेन त्रितयज्ञानजननाल्लिङादेर्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे कृतिसाध्यत्वे इष्टसाधनत्वे च शक्तिरिति तार्किकाः, तस्मात्कथं व्यापारस्य लोकवेदसाधारणस्य लिङाद्यर्थत्वमिति चेद्, अत्रो-च्यते—न तावदिष्टसाधनत्वं लिङाद्यर्थः, इष्टसाधनत्वज्ञानादेव प्रवृत्त्युपपत्तौ, गुरुप्रेरितोऽहं जलमानयामीत्यादौ गुर्वादेः प्रवर्तकत्वव्यवहारानुपपत्तेः। न च प्रवृत्तिजनकेष्टसाधनता-बोधकलिङुच्चारयितृत्वात्तस्य प्रवर्तकत्वव्यवहार इति वाच्यम्। राजप्रेरितपदातेस्तादृशलि-ङुच्चारयितृत्वेन प्रवर्तकत्वापत्तौ पदातिप्रेरितोऽहं न गामानयामि किन्तु राजप्रेरित इति पदातौ प्रवर्तकत्वाभावव्यवहारानुपपत्तेः। न चान्याप्रेरितत्वे सति तादृशलिङुच्चारयितृत्वं प्रवर्तकत्वमिति वाच्यम्। पिशुनप्रेरिते राज्ञि प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। ततश्च तादृशव्यवहारब-लात्प्रवृत्तिकारणीभूतज्ञानविषयाशयविशेषाश्रयत्वेनैव राजादेः प्रवर्तकत्वं वाच्यं न चाश-यविशेषस्य लिङादिवाच्यत्वाभावे ततस्तज्ज्ञानं सम्भवति तस्माल्लिङादिवाच्यत्वं तस्येति। नाप्यर्थभावनाभिधानानुकूलायाः शक्तेर्लिङाद्यर्थत्वं संख्याभिधानानुकूलशक्त्या लिङ्त्वा-दिनैव वा विनिगमनाविरहात्। नापि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वादेर्लिङाद्यर्थत्वं, शक्तित्र-यकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावेऽपि बलवदनिष्टानुबन्धि-त्वज्ञानाभावमात्रेणेष्टसाधनत्वज्ञानादिनैव प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च। तस्माद्बलवदनिष्टा-नुबन्धित्वज्ञानं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकं तद्भावश्च स्वरूपसन्नेव तत्कारणमिति स्वीकर्तव्यम्। तस्मान्निरुक्तस्य व्यापारस्यैव लिङाद्यर्थत्वं सर्वत्र नेष्टसाधनत्वादेरिति सिद्धम्। 'अभिधा-भावनामाहुरन्यामेव लिङादय' इति वार्तिकानुरोधेनाह—अत एवेति। शब्दनिष्ठत्वादेवे-त्यर्थः। अभिधाशब्देनाभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या शब्द उच्यते, तस्य व्यापारविशेषो भावना, तां स्वनिष्ठामन्यामर्थभावनाभिन्नां लिङादय आहुरिति वार्तिकवचनार्थः।

अर्थबोधिनी—पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि भावयिता का मानस व्यापार या अभिप्रायविशेष, जो कि प्रवृत्त पुरुष की प्रवृत्ति का हेतु है, शाब्दी भावना कहलाता है। भावयिता को ही प्रयोजकवृद्ध कहा जाता है। प्रयोजक इसलिए कि वह दूसरे व्यक्ति को कर्म में युक्त होने के लिए प्रेरित करता है और वृद्ध इसलिए कि उसे शब्दार्थसम्बन्ध का सम्यक् ज्ञान है। प्रयोजकवृद्ध को उत्तमवृद्ध भी कहते हैं। जिस व्यक्ति (पुरुष) को प्रेरित

किया जाता है, वह प्रयोज्यवृद्ध होता है। प्रयोज्यवृद्ध को मध्यमवृद्ध भी कहते हैं। प्रयोजकवृद्ध का अभिप्रायविशेष लिङ् शब्द का वाच्य-अर्थ होता है। लिङ् शब्द को सुनकर ही यह समझ जाता है कि लिङ् शब्द के प्रयोक्ता में (शाब्दी) भावना है। शाब्दी भावना का प्रत्यक्ष अनुभव प्रयोज्यवृद्ध को नहीं होता। प्रयोज्यवृद्ध को प्रयोजक में रहने वाली एवं लिङ् का वाच्य होने वाली शाब्दी भावना का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। शाब्दी भावना लिङ् का अर्थ है—(सा च लिङंशेनोच्यते—प्रतिज्ञा) लिङ्। 'त' के सुनने पर प्रयोज्यवृद्ध इस प्रकार अनुभव करता है—यह (प्रयोजकवृद्ध) मुझे प्रवृत्त करा रहा है, यह (प्रयोजकवृद्ध) मेरी प्रवृत्ति में अनुकूल व्यापार वाला है अर्थात् इस व्यक्ति में भावना वर्तमान है, जिससे मुझमें प्रवृत्ति उत्पन्न हो, इस बात के नियमतः (अनिवार्यरूपेण) प्रतीत (अनुभूत) होने के कारण (**लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः**—हेतु)। और जब ऐसा अनुभव होता है तब अवश्य लिङ् शब्द का अर्थ शाब्दी भावना है, अन्यथा लिङ् शब्द के सुनने से ही ऐसा अनुभव क्यों होता कि इस व्यक्ति में मेरी प्रवृत्ति का जनक व्यापारविशेष है। जिस शब्द से जो अर्थ नियमतः प्रतीत होता है, वही उस (शब्द) का अर्थ होता है (**यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्**—व्याप्ति)। जैसे 'गाम् आनय' में 'गो' शब्द से सर्वदा गोत्व (सामान्य) अर्थ समझा जाता है[१] (**यथा गामानय इत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्**—उदाहरण)। अतः लिङ् से नियमतः समझा जाने वाला अर्थ (शाब्दी भावना) भी यथार्थ है[२]।

मीमांसक 'गो' शब्द का अभिधेय अर्थ 'गो'-व्यक्ति न लेकर 'गोत्व'सामान्य लेते हैं अर्थात् 'गो' कहने से हमें विश्व के समस्त 'गो'-व्यक्तियों में रहने वाले सामान्य का बोध होता है। गोत्व सामान्य प्रत्येक गाय में रहता है, जिसके आधार पर प्रत्येक गाय को गाय कहा जाता है। यदि 'गो' शब्द एक गाय (गोव्यक्ति) का वाचक होता तो जिस गाय का वाचक होता, केवल उसी गाय के लिये प्रयुक्त होता; किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। किसी भी काल एवं देश की किसी गोव्यक्ति को गाय कहा जाता है। इसका अर्थ यही हुआ कि 'गो' शब्द सभी गायों में रहने वाले एक गोत्व (सामान्य) का वाचक है। हाँ, व्यवहार में 'गामानय' कहने पर 'गो'व्यक्ति को छोड़कर 'गोत्व' नहीं लाया जा सकता, अतएव गाय (गोव्यक्ति) लाई जाती है। इस प्रकार मीमांसक 'गो' शब्द का अर्थ 'गोत्व' सामान्य मानते हैं।

'लिङ्' शब्द है। शब्द सदा अर्थ का वाचक होता है। 'लिङ्' शब्द का अर्थ 'शाब्दी

---

१. देखिये—विभागसंख्या-९।

२. पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलं व्यापारं लिङादिशब्दनिष्ठतयानुभावयिता तस्य लिङादिशब्दान्नियमेन प्रतीयमानत्वाल्लिङादिशब्दवाच्यत्वमित्यनुमानप्रदर्शनाय व्याप्तिं दर्शयति—यदित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथेत्यादि। (कौमुदी)

भावना' है। 'शाब्दी भावना' जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है, लिङ् का प्रयोग करने वाले पुरुष में रहती है। किन्तु वैदिक वाक्य जैसे—'यजेत स्वर्गकामः' अपौरुषेय है, अतएव ऐसे स्थलों में शाब्दीभावना को तत्तत् वेदवाक्यों में ही स्थित मानना होगा। वेद शब्दात्मक है, अतएव तन्निष्ठ होने के कारण चेतन या अचेतन उभयगत प्रयोजक भावना को शाब्दी भावना कहा जाता है।

प्रसङ्ग—अब शाब्दी भावना के तीन अंशों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

९. शब्दभावनाया अंशत्रयम्

सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। सङ्ख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः। साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात्। किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ—और वह भावना (शाब्दी) तीन अंशों की अपेक्षा रखती हैं। ये तीन अंश हैं—१. साध्य, २. साधन और ३. इतिकर्तव्यता। उक्त अपेक्षात्रय का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—**किं भावयेत्** (क्या किया जाय), **केन भावयेत्** (किससे किया जाय) और **कथं भावयेत्** (कैसे किया जाय)। शाब्दी भावना के साध्य की आकाङ्क्षा होने पर आर्थी भावना साध्यरूप में अन्वित होती है। आर्थी भावना के तीन अंश होते हैं, जिनका उल्लेख आगे[1] किया जायेगा। दोनों भावनायें एक प्रत्यय—'त' के द्वारा समझी जाती हैं और इस प्रकार 'त' इस एक प्रत्यय के ही दोनों भावनाओं का बोधक होने के कारण आर्थी भावना शाब्दी भावना का साध्य होती है। यद्यपि सङ्ख्या आदि भी समान-प्रत्ययबोध्य हैं, फिर भी उनमें शाब्दी भावना के साध्य होने की योग्यता नहीं होती, इसलिये वे साध्यरूप में अन्वित नहीं होते। शाब्दी भावना के साधन की आकाङ्क्षा होने पर 'लिङ्गादि का ज्ञान' साध्यरूप में अन्वित होता है; किन्तु लिङ्गादि ज्ञान को इसलिए शाब्दी भावना का साध्य नहीं माना जाता कि वह शाब्दी भावना को उत्पन्न करता है; क्योंकि लिङ्गादि ज्ञान के पूर्व भी उसमें शाब्दी भावना रहती है अर्थात् शाब्दी भावना उत्पन्न नहीं की जाती है। लिङ्गादि ज्ञान से शाब्दी भावना का ज्ञान होता है अथवा लिङ्गादि ज्ञान से शाब्दी भावना के साध्य—आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है, इसलिए लिङ्गादि ज्ञान को शाब्दी भावना का साध्य माना जाता है। इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होने पर अर्थवाद के द्वारा बोध्य प्रशंसा ही इतिकर्तव्यतारूप में अन्वित होती है।

१. देखिये—विभागसंख्या-११।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सा च निरुक्ता शब्दभावना साध्याद्यंशत्रयापेक्षा तादृशांशत्रयवती भवतीत्याह—सा चेत्यादिना। साध्याकाङ्क्षामभिनयति—किमित्यादिना।

तत्रेति। साध्यादिभावनांशेऽपीत्यर्थः। वक्ष्यमाणेति। वक्ष्यमाणा या स्वर्गादिरूपसाध्याद्यंशत्रयोपेतेत्यर्थः। एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेरिति। अर्थभावनाया एव शब्दभावनासाध्यत्वमनयोरेकलिङादिप्रत्ययगम्यत्वेनैकलिङादिप्रत्ययशब्दात्मिकायाः समानाभिधानश्रुतेः सत्त्वादित्यर्थः। एतेन यागादेः साध्यत्वाशङ्का निरस्ता, तस्यैकपदादिश्रुतिगम्यत्वेनैकप्रत्ययरूपसमानाभिधानश्रुत्यगम्यत्वात्। शब्दार्थभावनयोस्त्वेकाभिधानश्रुतिगम्यत्वेन सन्निकृष्टयोर्भवति विवक्षितः सम्बन्ध इति द्रष्टव्यम्। ननु संख्यादीनामपि शब्दभावनाभाव्यत्वं स्यात्तेषामप्येकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेरविशेषादिति चोद्यमुद्भाव्य परिहरति—संख्यादीनामित्यादिना। आदिना कालादिपरिग्रहः। संख्यादीनां साध्यत्वेनान्वयाभावे हेतुमाह—अयोग्यत्वादिति। अपुरुषार्थत्वेन च तत्साधनशून्यत्वेन संख्यादीनां साध्यत्वयोग्यतानाश्रयत्वादित्यर्थः। शब्दभावनाया भाव्यसाकाङ्क्षत्वाद्भाव्यान्तरस्य चादर्शनादर्थभावनायाश्च विधिप्रयोज्यत्वात्पुरुषार्थानुबन्धित्वाच्च तस्या एव समानाभिधानश्रुतेः शब्दभावनाभाव्यत्वमिति समुदायतात्पर्यम्। तदेवमर्थभावनायाः पुरुषार्थहेतुतया शब्दभावनाभाव्यत्वमुक्तम्।

तत्र च करणाकाङ्क्षायां करणान्तरस्यादर्शनात्करणांशं लिङादिविधिशब्दज्ञानमेवाह—साधनेत्यादिना। यद्वा, लिङादिशब्दव्यापारस्य सर्वदा पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य करणरूपसहकार्यभावान्नैवमित्याशयेनाह—साधनेत्यादिना। अत एव ग्रन्थकारेणाप्युक्तं—भावना ज्ञापकत्वेनेति। स्वज्ञानस्यैव स्वज्ञापकत्वम्। लिङादीत्यादिना लेट्लोटादिपरिग्रहः। तथा च लिङादिज्ञानं शब्दभावनायां करणत्वेनैवान्वयं लभते, न तु शब्दभावनाकरणत्वेनापि, कल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। ज्ञानस्य पुरुषनिष्ठत्वेन शब्दनिष्ठत्वाभावाच्छब्दभावनात्वासम्भवप्रसङ्गाज्ज्ञानस्य तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन शब्दभावनाया नित्यत्वव्याघातप्रसङ्गाच्च। शब्दभावना तु निरुक्त एव व्यापारविशेष इति भावः। लिङादिज्ञानमित्यत्र लिङादिधर्मस्य भावनारूपस्य वा ज्ञानं विवक्षितम्। तदेव च शब्दभावनायाः करणांशम्। तथा चोक्तम्—लिङादिशब्दव्यापारः पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनालक्षणभाव्यनिष्ठः स्वज्ञानकरणक इति द्रष्टव्यम्। ज्ञापकत्वमत्र प्रकाशकत्वमेव, तथा च तादृशधर्मज्ञाने सत्येव पुरुषप्रवृत्तिदर्शनेन तस्य वक्ष्यमाणपुरुषप्रवृत्तिनिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वं नानुपपन्नमिति भावः। अन्ये त्वाहुः—विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानं स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयकं लभते, ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात् ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात्। ज्ञानकरणकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च। तत्राद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं

तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेक इति। तस्य च लिङादिज्ञानस्य न शब्दभावनोत्पादकत्वेन तत्करणत्वं सम्भवति। तस्माल्लिङादिज्ञानात्पूर्वमपि तस्याः शब्दभावनायाः शब्दे विद्यमानत्वेन तदुत्पादकत्वासम्भवादित्याह—तस्य चेत्यादिना। ननु कथं लिङादिज्ञानस्य भावनासाधकत्वेन तत्करणत्वं न स्वीक्रियते, चक्षुरादेस्तत्सन्निकर्षस्य वा रूपादिज्ञानसाधकत्वेनैव तत्करणत्वदर्शनादिति चोदयति—किन्त्विति। समाधत्ते—भावनेत्यादिना। यथा कुठारस्य छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तकत्वेन छिदिभावनाकरणत्वं तथा लिङादिज्ञानस्य शब्दभावनाभाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वमिति भावः। तथा चोक्तं कुठारादीनामपि छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तनद्वारेण छिदिभावनाकरणत्वदर्शनादिति। किञ्च रूपादिज्ञानस्य चक्षुःसन्निकर्षादेः प्रागसत्त्वेन तस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वं, शब्दभावनायास्तु प्रागपि सत्त्वेन, लिङ्गादिज्ञानस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वासम्भवेऽपि तद्भाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन तस्य शब्दभावनाकरणत्वं कुठारवदुपपद्यते। ननु कुठारस्य तु छिदिक्रियानिर्वर्तकत्वमपि भवतीति चेत्सत्यम्। दृष्टान्तस्तु यथा कुठारस्य छेदननिर्वर्तकत्वेऽपि तस्याफलत्वेन छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावफलनिर्वर्तकत्वेनैव तत्करणत्वमिति द्रष्टव्यम्।

ननु पुरुषो लिङ्गादिज्ञानेन स्वप्रवृत्तिं भावयेदित्युक्ते सर्वेषामेव यागादौ प्रवृत्तिः किं न स्यादित्याशङ्क्य सर्वेषां प्राशस्त्यज्ञानाभावेन न सर्वेषां प्रवृत्त्यापत्तिः, किन्तु यस्य पुरुषस्य कर्मप्राशस्त्यज्ञानं भवति तस्यैव तत्फलरागादिना तत्र प्रवृत्तिरित्याशयेनाह—इतिकर्तव्यतेत्यादिना। कर्तव्यस्येतिप्रकार इतिकर्तव्यता, इतिशब्दस्य प्रकारवाचकत्वात्। प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको विशेष इत्यर्थः। तथा च कर्तव्यसामान्यस्य भेदकः कर्तव्यविशेष एव प्राशस्त्यरूपः शब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वयं लभते, तच्च कर्तव्यसामान्यं लिङादिज्ञानरूपं भावनाकारणमेव, करणगतप्रकाराकाङ्क्षापूरकस्येतिकर्तव्यतात्वात्। लिङादिज्ञानेन भावयेत्कथमित्याकाङ्क्षायां कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेनेति प्रकारान्वयात् तस्य च प्राशस्त्यविशेषस्य ज्ञापकोऽर्थवादविशेष एवेति भावः। स चार्थवादः 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिद'दित्यादिः, तं चार्थवादं चतुर्विधविभागेन निरूपयिष्यामोऽर्थवादनिर्णये।

शाब्द्या विशेषविचारः

ननु किं नाम प्राशस्त्यं यच्छब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वेतीति चेत् विधेयतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे सति क्रियाजन्यदुः(सु)खापेक्षयाऽधिकेष्टजनकत्वं प्राशस्त्यं, तदेव च विध्यर्थवादेषु लक्ष्यते। निषेधार्थवादेषु तु निषेध्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन क्रियाफलापेक्षयाधिकदुःखसाधनत्वमप्राशस्त्यं लक्ष्यत इति बोध्यम्। लक्षणा च सर्वत्र वाक्ये, लक्षणायां बाधकाभावादर्थवादस्यप-

दसमुदाये वैकस्मिन्नेव वा परे भवन्तीतरपदानि तात्पर्यग्राहकाणीत्यनाग्रहः। तच्च प्राशस्त्यादिकमितिकर्तव्यतात्वसम्बन्धेन शब्दभावनायामन्वेतीति बहवो वदन्ति। स्वरूपसम्बन्धेन धात्वर्थादावेवान्वेतीति केचित्। वस्तुतस्तु प्राशस्त्यं स्वविषयकज्ञानजन्येष्टविषयकोत्कटरागजन्यत्वसम्बन्धेन प्रवृत्तावन्वेति। अप्राशस्त्यमपि स्वविषयकज्ञानजन्यानिष्टविषयकोत्कटद्वेषप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन प्रवृत्तावेवान्वेतीत्यन्यत्र विस्तरः। इत्थं च पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनाभाव्यको लिङादिज्ञानकरणकः स्वज्ञानकरणको वा स्तुतिनिन्दार्थवादबोधितप्राशस्त्यादीतिकर्तव्यताको लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः शब्दभावना लिङादिशब्देन लिङ्त्वांशेनोच्यते। तत्र चार्थवादबोधितप्राशस्त्यादिनोपकारं सम्पाद्य लिङादिज्ञानेन पुरुषप्रवृत्तिलक्षणामर्थभावनां भावयेद्यागविषयप्रवृत्तिलक्षणां कुर्यादिति फलितम्।

अर्थबोधिनी—जैसे 'करे' पद के सम्बन्ध में 'किसे' 'किससे' एवं 'कैसे' इस प्रकार तीन रूपों में आकाङ्क्षा होती है, वैसे ही 'भावना से सम्बद्ध 'भावयेत्' (होने के लिए प्रेरित 'करे') पद के सम्बन्ध में भी तीन रूपों में आकाङ्क्षा होती है। आकाङ्क्षा का स्वरूप इस प्रकार है—**किं भावयेत्, केन भावयेत्** एवं **कथं भावयेत्। किं भावयेत्?** से साध्य की आकाङ्क्षा होती है कि भावना का साध्य क्या है? **केन भावयेत्** से साधन की आकाङ्क्षा होती है कि भावना के ज्ञान का साधन क्या है? अथवा भावना के साध्य का साधन क्या है? यद्यपि भावना अपने साध्य को उत्पन्न करती है तथापि भावना एवं साध्य के बीच एक साधन का अस्तित्व पाया जाता है, जो साध्य को निष्पन्न होने में कारण का स्थान ग्रहण करता है; अतएव भावना एवं साध्य के बीच व्यवधान आ जाने के कारण भावना को करण नहीं माना जा सकता। **कथं भावयेत्?** से भावना के भाव्य (साध्य) के निष्पन्न होने में प्रकारता (इतिकर्तव्यता) की जिज्ञासा होती है कि भावना का साध्य किस प्रकार निष्पन्न होता है? इस प्रकार यह देखा जाता है कि किसी भी भावना के लिए उक्त तीन अंश अपेक्षित होते हैं, जिनके बिना भावना 'भावना'-पदवाच्य नहीं हो सकती। वे तीन अंश हैं—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता।

यहाँ शाब्दी भावना का प्रसङ्ग चल रहा है। शाब्दी भावना के सम्बन्ध में भी उसके साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है। शाब्दी भावना का साध्य क्या है? इस प्रकार साध्य की आकाङ्क्षा होने पर हमें उसके उत्तररूप में 'शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना होती है' इस प्रकार आर्थी भावना की प्राप्ति होती है। आर्थी भावना का विवेचन ग्रन्थकार आगे करेंगे और बतलायेंगे कि भावना होने के नाते आर्थी भावना के भी ये तीन अंश (साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता) होते हैं।

किन्तु प्रश्न यह है कि आर्थी भावना ही शाब्दी भावना के साध्यरूप में क्यों ली जाती

है? ग्रन्थकार का उत्तर है—**एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः।** इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि चूँकि 'यजेत' के अन्तर्गत एक ही 'त' प्रत्यय से दोनों भावनायें समझी जाती हैं, इसलिए समान-अभिधान ('त' प्रत्यय) का श्रवणरूप श्रुति प्रमाण उपलब्ध है; अतः उक्त भावनाद्वय के बीच भाव्य-भावकरूप सम्बन्ध ज्ञातव्य है। शाब्दी भावना भावक (साधन) है और आर्थी भावना भाव्य (साध्य)।

'त' प्रत्यय एकवचन प्रथमपुरुष का रूप है एवं वर्तमान काल का बोधक है, अतएव 'त' प्रत्यय के शाब्दी भावना एवं आर्थी भावना के अतिरिक्त (एकत्व) सङ्ख्या, (प्रथम) पुरुष एवं (वर्तमान) काल भी वाच्य हैं। फिर क्यों न शाब्दी भावना के साध्य सङ्ख्या आदि लिये जायँ? सङ्ख्या आदि को शाब्दी भावना के साध्यरूप में न लिये जाने का कारण यह है कि सङ्ख्या आदि भावना के साध्य होने के योग्य नहीं हैं अर्थात् सङ्ख्या एक सिद्ध वस्तु है, उसे साध्यकोटि में नहीं लाया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में पुरुषार्थ के प्रति अनुकूल रूप में उसे शाब्दी भावना का साध्य कैसे माना जा सकता है। इसलिए आर्थी भावना के समान सङ्ख्या एवं काल आदि में 'समानाभिधान श्रुति'-रूप प्रमाण के होते हुए भी शाब्दी भावना की भाव्यता अर्थात् साध्यता नहीं मानी जा सकती।

कहने का सरल तात्पर्य यह है कि किसी के अभिप्राय के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त हो सकता है; परन्तु उसके अभिप्राय के अनुसार किसी भी वस्तु की सङ्ख्या को वह बदल नहीं सकता; अतः प्रवृत्ति (भावना) और सङ्ख्या दोनों को समान रूप से उक्त अभिप्राय का साध्य नहीं कहा जा सकता अर्थात् प्रवृत्ति होने पर नई सङ्ख्या नहीं उत्पन्न होती है। इसीलिये प्रवृत्त्यात्मक प्रयोज्य व्यक्तिगत आर्थी भावना को प्रयोजक व्यक्तिगत अभिप्रायात्मक शाब्दी भावना का साध्य तो कहा जा सकता है, परन्तु सङ्ख्या को तत्साध्य नहीं कहा जा सकता अर्थात् सङ्ख्या शाब्दी भावना के साध्य होने के लिये अयोग्य है।

साध्य के पश्चात् साधन पर विचार करना है। शाब्दी भावना का साधन अर्थात् करण लिङ्गादि-ज्ञान है। ध्यान रहे, करण दो प्रकार का होता है—१. कारक एवं २. ज्ञापक। कारक का अर्थ है—उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करने वाला और ज्ञापक का अर्थ है—ज्ञान कराने वाला। लिङ्गादि ज्ञान शाब्दी भावना का उत्पादक करण नहीं है, क्योंकि भावना **यजेत स्वर्गकामः** इस वैदिक शब्द-समूह में पूर्व से ही विद्यमान रही है। वेद के अनादि होने से शाब्दी भावना भी अनादि है, अतएव उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, लिङ्गादिज्ञानरूप करण से शाब्दी भावना का ज्ञान अवश्य होता है। 'लिङ्' के सुनने पर श्रोता वक्ता अथवा वेदवाक्य में पूर्व से ही विद्यमान शाब्दी भावना का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेता है। इस प्रकार लिङ्गादि ज्ञान ज्ञापकरूप में शाब्दी भावना का करण है, उत्पादकरूप में नहीं।

लिङ्गादि ज्ञान शाब्दी भावना का ज्ञापक करण होने के साथ-साथ आर्थी भावना का कारक करण भी है। लिङ् आदि का ज्ञान होने पर ही श्रोता में आर्थी भावना उत्पन्न होती है।

'लिङ्' लकार के अतिरिक्त अन्य लकारों द्वारा भी शाब्दी भावना का ज्ञान एवं आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है, यथा—**अग्निहोत्रि जुहोति**[1] यहाँ 'लट्' लकार द्वारा उसी विषय का प्रख्यापन हुआ है, जो 'यजेत स्वर्गकामः' के 'लिङ्' लकार द्वारा। इसीलिये ग्रन्थकार ने करण के प्रसङ्ग में 'लिङ्गादिज्ञानम्' पद में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है। 'आदि' शब्द से 'लट्' आदि लकार भी गृहीत हो जाते हैं।

इस प्रकार साध्य एवं साधन पर विचार हो चुकने के पश्चात् 'इतिकर्तव्यता' विचाररूप में क्रमप्राप्त है। चूँकि भाव्य या साध्य आर्थी भावना है, इसलिये इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध आर्थी भावना से ही होगा। 'इतिकर्तव्यता' की आकाङ्क्षा 'कथं भावयेत्' रूप में होती है। यहाँ भाव्य आर्थी भावना है; अतएव प्रासङ्गिक आकाङ्क्षा इस प्रकार हुई कि 'आर्थीभावनां कथं भावयेत्' अर्थात् 'आर्थी भावना को किस प्रकार निष्पन्न या उत्पन्न करे'। ध्यान रहे कि आर्थी भावना का निष्पादक या उत्पादक 'लिङादि ज्ञान' भी होता है; किन्तु वह आर्थी भावना की निष्पत्ति में सामान्य करण होता है, जबकि 'इतिकर्तव्यता' विशेष रूप से कारण होती है। इस प्रकार यहाँ इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा इस रूप में हुई—**लिङादिज्ञानेन आर्थीभावनां कथ भावयेत्?** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा के शमन हेतु ऐसी क्रिया होनी आवश्यक है, जिसके द्वारा आर्थी भावना उत्पन्न हो सके। शङ्कालु व्यक्ति विधिवाक्य पर सन्देह कर सकता है। अतएव विधिवाक्य के प्रशंसक वाक्य (अर्थवाद) के द्वारा यागादि की प्रशंसा करके आर्थी भावना को निष्पन्न किया जाता है। उक्त प्रकार की प्रशंसा ही इतिकर्तव्यता है, जो **कथं भावयेत्?** आकाङ्क्षा का शमन करती है।

प्रसङ्ग—अब आर्थीभावना का लक्षण किया जा रहा है—

१०. आर्थीभावनालक्षणम्

प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

अर्थ—स्वर्ग आदि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार (कर्म) उत्पन्न होता है, उसे आर्थी भावना कहते हैं। आर्थी भावना आख्यातत्त्व अंश का वाच्य होती है, क्योंकि आख्यातसामान्य व्यापार अर्थात् क्रिया का वाचक होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**अर्थभावनां लक्षयति**—प्रयोजनेच्छेत्यादिना। **प्रयोजनस्य**

---

१. लिङ्गादिज्ञानं भावयेत्कथमित्याकाङ्क्षा कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेनेतिप्रकारान्वयात्। (कौमुदी)

स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छा रागविशेषः 'फलेच्छा साधनमुपसंक्रामती'ति न्यायात् तेन च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सार्थीभावनेत्यर्थः। ननु कोऽयं व्यापारो नाम योऽर्थभावनात्वेनोच्यते। तावत्प्रयत्नमात्रं, रथो गच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तेः। स्पन्द इति चेत् 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति', 'स्वर्गकामो यजेत' 'यागेन स्वर्गं कुर्या'दित्यादौ गमनाद्यनुकूलकृतावव्याप्तेः कृतेश्चेतनधर्मत्वेन तत्र स्पन्दत्वाभावात्, गच्छतीत्यादौ गमनं करोतीति करोतिप्रयोगदर्शनात् स्पन्दत इति स्पन्दसंयोगादर्शनात् स्पन्द इति स्पन्दिप्रयोगादर्शनाच्चेति चेत्; केचिदत्राहुः—स्वर्गादिफलेच्छाजनितयागादिक्रियाविषयः प्रयत्न एव सव्यापारोऽर्थभावनात्वेनोच्यते। न च रथो गच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तिः। रथवोढॄणामश्वानां प्रयत्नं रथे समारोप्य रथो गच्छतीति प्रयोगोपपत्तेः। येषां मतेऽन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवार्थभावना तेषामपि रथे गमनव्यतिरिक्तव्यापारविशेषस्यानुपलब्धेः रथो गच्छतीति प्रयोगस्यौपचारिकत्वमन्तरेणानिर्वाहात्तत्त्वं स्वीकर्तव्यम्। स च प्रयत्न आख्यातसामान्येन कथ्यते, 'यजेत पचति गच्छती'त्याद्याख्यातश्रवणे प्रयत्नप्रतीतेः। यागेन कुर्यात्पाकं करोति गमनं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिआख्यातस्य विवरणदर्शनात्प्रयत्न एवाख्यातसामान्यस्यार्थो न स्पन्दादिः। प्रयत्नपूर्वकगमनादिकर्तरि गमनं करोति पाकं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिप्रयोगदर्शनात्। वायुवेगादिस्पन्दमाने त्वयं वायुवेगादिना स्पन्दते न किञ्चित्करोतीति तत्प्रतिषेधदर्शनाच्चेति।

अन्ये त्वाचार्या आहुः—अन्योत्पादनानुकूलात्मा स व्यापारो योऽर्थभावनात्वेनोच्यते यस्मिन्व्यापारे कृते करणस्य फलोत्पादनसामर्थ्यं भवति तादृशो व्यापार इति यावत् स एव च व्यापार आख्यातसामान्यस्यार्थः। 'यजेत स्वर्गकाम' इत्याख्यातश्रवणे यागेन तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते यागः स्वर्गजननसमर्थो भवतीति बोधः कुठारेण छिन्द्यादिति कुठारेण तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते कुठारश्छेदनसमर्थो भवतीतिवत्। स च व्यापारोऽन्योत्पादनानुकूलत्वेन सामान्येन रूपेणाख्यातादेवावगम्यते पश्चात्तु कथंभावाकाङ्क्षायां विशेषरूपेण क्वचिदुद्यमननिपतनादिरूपेण क्वचित्त्वग्न्यन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तप्रवृत्तिरूपेण चावगम्यते। न च रथो ग्रामं गच्छतीत्यत्राव्याप्तिः अन्योत्पादनानुकूलव्यापारस्य रथे गमनव्यतिरिक्तस्याभावादिति वाच्यम्। रथस्तथागमने व्याप्रियते यस्मिन्व्यापारे कृते गमनेन ग्रामप्राप्तिर्भवतीति प्रतीतेः। कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोत्तरावान्तरदेशविभजनसंयोजनरूप इति पश्चादवगम्यते। उद्यम्य निपात्य कुठारेण छिनत्तीतिवत्पूर्वप्रदेशेन विभज्योत्तरप्रदेशेन च संयोगं लब्ध्वा रथो ग्रामं गच्छतीति प्रत्ययात्। न चात्र गमनमात्रमाख्यातार्थ इति वाच्यम्। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति न्यायात्तस्य धातुलभ्यत्वेनाख्यातार्थत्वायोगात्। एवं चैत्रः प्रयतत इत्यत्रापि चैत्रस्तथा व्याप्रियते यथा प्रयत्नो भवतीति प्रयत्नानुकूलव्यापार एवाख्यातस्यार्थो न तु प्रयत्न एव, प्रयत्नस्य धातुमात्रलभ्यत्वात्। कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पश्चाज्ज्ञानेच्छादि

कमवगम्यते। न च रथो गच्छतीत्यादिप्रयोगस्यौपचारिकत्वं स्यादिति वाच्यम्, मुख्ये सम्भवत्यौपचारिकत्वस्यान्याय्यत्वात्। न च गच्छति गमनं करोति पचति पाकं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिनाख्यातस्य समानार्थकत्वदर्शनाप्रयत्न एवाख्यातस्यार्थ इति वाच्यम्, चैत्रः प्रयतत इत्यादौ व्यभिचारेण प्रयत्नस्याख्यातार्थत्वासम्भवात्, औपचारिकत्वस्य निरस्तत्वाच्च। करोत्यर्थोऽपि व्यापारविशेष एव न तु प्रयत्नः, चैत्रो गच्छति रथो गच्छतीति चेतनाचेतनकर्तृकाख्यातसमानार्थकस्य करोतेः प्रयत्नार्थकत्वासम्भवात्, तस्मादन्योत्पादनानुकूलव्यापार एवाख्यातसामान्यस्यार्थ इति सिद्धमिति।

ननु प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार इति मूलग्रन्थे स्वर्गादिप्रयोजनेच्छा-जनितस्य यागादिविषयकव्यापारस्य प्रयत्नत्वमेव कल्प्यते, चेतनव्यापारत्वात्। ततश्च प्रयत्न एवाख्यातार्थ इति चेत्, सत्यम्। तथापि न सर्वत्र प्रयत्नार्थकत्वमाख्यातस्य सम्भवति रथो गच्छतीत्यादौ व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। तत्र यागादिविषयकपुरुषप्रय-त्नादेरपि कृतिशब्दाभिधेयस्यान्योत्पादनानुकूलव्यापारत्वेनैव सामान्याकारेणाख्यातार्थत्वं न तु विशेषरूपेण, विशेषरूपेण तु पश्चादवगमो भवति कोऽसौ व्यापार इति वीक्षायाम्। तस्मात् सर्वत्रान्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवाख्यातार्थ इति सिद्धम्।

किञ्च यागादिकरणेन धात्वर्थेन स्वसाधनद्रव्यादिनिष्पादितेन स्वर्गादिफलोत्पत्तौ येयमनुकूलव्यापारस्वरूपा कृतिशब्दाभिधेया फलोत्पादनाऽऽर्थीभावना सेयं न यज्या-दिधातूनामन्यतमेन केनचिदप्यभिधीयते, सर्वधात्वर्थानुगतरूपत्वात्। नापि धात्वर्थसामा-न्यमेव सा। प्रतिधात्वर्थविलक्षणत्वात्। तथा हि—'स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र यागेन स्वर्गं भावयेदिति बोधः। तत्र च यागविषयकव्यापारस्य स्वर्गं प्रति विलक्षणमानुकूल्यं भवति। ओदनकामः पचेदित्यत्र च पाकेनौदनं भावयेदिति बोधः। पाकव्यापारस्य चौदनं प्रति विलक्षणमेवानुकूल्यम्। नैरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यादित्यत्र भेषजपानेन नैरोग्यं कुर्यादिति बोधः। भेषजपानव्यापारस्य च नैरोग्यं प्रति विलक्षणमेव चानुकूल्यं भवति। तथा च विलक्षणानुकूल्यविशिष्टस्य व्यापारविशेषस्य प्रतिधात्वर्थविलक्षणरूपत्वमेव। अन्यथा फलविभागानुपपत्तिः स्यात्। ततश्च भावनात्वसामान्यं तु भिन्नासु भावनाव्यक्तिष्वनुवर्ततां नाम, नैतावता प्रकृत्यर्थसामान्यं भावना। तस्माद्यज्यादिधात्वर्थाद्विशेषरूपात्सामान्यरूपाच्च भिन्नैवाख्यातप्रत्ययसामान्यार्थभूताऽऽर्थीभावना। ततश्च सा तेनैवोच्यत इत्याशयेनाह— सा चाख्याततत्वांशेनोच्यत इति। तत्र हेतुमाह—आख्यातेत्यादिना। व्यापारवाचित्वादिति। अन्यो-त्पादनानुकूलव्यापारसामान्यवाचित्वादित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—पुरुष यजेत स्वर्गकामः वाक्य सुनता है। उसे स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा होती है, परन्तु स्वर्ग (प्रयोजन) की प्राप्ति याग (क्रिया) के सम्पादन से ही हो॰ सकती है। अतएव श्रोता पुरुष में स्वर्गरूप प्रयोजन के लिए यागरूप क्रिया के अनुष्ठान

करने की प्रवृत्ति (व्यापार) उत्पन्न होती है अर्थात् स्वर्ग (प्रयोजन) की इच्छा से पुरु में प्रवृत्ति (व्यापार) उत्पन्न (जनित) होती है और इस प्रवृत्ति (व्यापार) का विषय होता है—याग (क्रिया); क्योंकि याग के अनुष्ठान से ही स्वर्ग प्राप्त होता है। पुरुष की यागविषयक इस प्रवृत्ति अर्थात् मानसिक व्यापार को ही आर्थी भावना कहते हैं।[१]

आर्थी भावना 'आख्यातत्व' का अर्थ होती है, जैसे 'त' प्रत्यय के 'लिङ्त्व' अंश का अर्थ शाब्दी भावना है, उसी प्रकार 'त' प्रत्यय के 'आख्यातत्व' अंश का अर्थ आर्थी भावना है। ऐसा इसलिए कि आख्यात सदैव क्रियावाचक होता है। 'तिङ्' को आख्यात कहते हैं और 'तिङ्' प्रत्यय धातु में जुड़कर प्रवर्तक होते हैं; क्योंकि न केवल धातु के श्रवण से किसी व्यक्ति में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और न केवल प्रत्यय के श्रवण से ही। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आख्यात व्यापारवाची है और उससे आर्थी भावना जैसा अर्थ समझा जाता है।

ग्रन्थकार ने शाब्दी भावना के नामकरण का कारण बताया है[२]। इन्होंने आर्थी भावना के नाम पड़ने के कारण का निर्देश नहीं किया है। आर्थी भावना को 'आर्थी भावना' संज्ञा से अभिहित करने के दो कारण प्रतीत होते हैं—

१. स्वर्ग आदि फल पुरुष का अर्थ (प्रयोजन) होता है और उसी अर्थ को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही फलार्जक व्यक्ति में यह भावना उत्पन्न होती है, इसीलिये आर्थी भावना कहलाती है।

२. पुरुष के द्वारा स्वर्गादि फल अर्थित होता है, अतएव पुरुष ही अर्थ है एवं पुरुष में उत्पन्न होने के कारण प्रकृत भावना आर्थी हुई[३]।

ध्यान रहे, भावना होने के नाते आर्थी भावना भी मानसिक व्यापार अर्थात् मानसिक क्रिया ही है एवं शाब्दी भावना के समान आर्थी भावना के भी साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश होते हैं।

प्रसङ्ग—अब आर्थी भावना के तीन अंशों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. प्रयोजनस्य स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छा रागविशेषःफलेच्छा साधनमुपसङ्क्रामतीति न्यायात् च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सार्थीभावनेत्यर्थः। (कौमुदी)

२. स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङा दिशब्दनिष्ठ एव। अतएव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते। (विभागसंख्या-२)

३. अर्थ्यते प्रार्थ्यते पुरुषैरिति अर्थः फलम्, तत्प्रयोजकत्वाद् भावना आर्थी यद्वा अर्थ्यते फलं येनेत्यर्थः पुरुषः तद्गतत्वादार्थी। (सारविवेचिनी)

११. आर्थीभावनाया अंशत्रयम्

साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत् कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयोजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यता-त्वेनान्वेति।

अर्थ—उस आर्थी भावना को भी तीन अंशों की अपेक्षा होती है। ये तीन अंश हैं—१. साध्य, २. साधन और ३. इतिकर्तव्यता। उक्त आकाङ्क्षात्रय का स्वरूप इस प्रकार होता है—**१. किं भावयेत्** (क्या करे), **२. केन भावयेत्** (किससे करे) और **३. कथं भावयेत्** (कैसे करे)। उन तीनों में से साध्य की आकाङ्क्षा होने पर 'स्वर्ग आदि फल' साध्य-रूप में अन्वित होता है। साधन की आकाङ्क्षा होने पर 'याग आदि क्रिया' साधनरूप में अन्वित होती है। इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होने पर 'प्रयाजं आदि क्रियासमूह' इतिकर्तव्यता-रूप में अन्वित होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सा निरुक्तार्थीभावना व्यापारविशेषात्मिका व्यापारविशेषाणां च छिदिभावनारूपव्यापारस्य द्वैधीभावरूपफलादिस्वापेक्षत्ववत्फलादिसापेक्षत्वाद्व्याद्यंशत्रयमपेक्षत इत्याशयेनाह—साप्यंशत्रयमपेक्षत इति। अपेक्षामभिनयति—किं भावयेदित्यादिना। तत्रेति। साध्यादीनां भावनांशानां त्रयाणां मध्य इत्यर्थः। तस्या च्र भावनायां स्वर्गादिफलमेव पुरुषविशेषणमपि साध्यत्वेनान्वेति पुरुषार्थत्वान्न तु धात्वर्थः। समानपदोपात्तोऽप्यपुरुषार्थत्वात्तत्त्वेनान्वयं लभत इत्याह—स्वर्गादिफलमिति। किञ्च तस्यां पुनः फलभावनायां प्रत्ययवाच्यभूतायामेकपदोपात्तः प्रकृत्यर्थ एव करणत्वेनान्वेति सन्निकृष्टत्वात्, न तु पदान्तरोपात्तं द्रव्यादि विप्रकृष्टत्त्वात्। न च साध्यरूपस्य प्रकृत्यर्थस्य कथं फलसाधकत्वमिति वाच्यम्, द्रव्यादिस्वसाधननिष्पादितस्य साध्यस्यापि प्रकृत्यर्थस्य फलं साधयितुं शक्यत्वादित्युक्तमेवेत्याशयेनाह—यागादिः करणत्वेनान्वेतीति। किञ्च कुठारेण छिनत्तीत्यादौ कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायामुद्यम्य निपात्येत्युद्यमननिपतनादेरितिकर्तव्यतात्वेनान्वयवद्यागेन स्वर्गं भावयेदित्यत्रापि कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायामग्न्यन्वाधानप्रयाजावघातादिभिरुपकारं सम्पाद्येति प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वयं भजत इत्याशयवानाह—इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामित्यादिना। कथंभावाकाङ्क्षापूरकत्वमितिकर्तव्यतात्वम्। निरुक्तो वेतिकर्तव्यताशब्दार्थो बोधः। भवति च प्रयाजादिषु लक्षणसमन्वयो यागेन स्वर्गं कुर्यादिति। ततः कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायां प्रयाजादिभिरुपकारं सम्पाद्येति कथंभावाकाङ्क्षापूरणात्, कर्तव्यसामान्यस्य यागादिरूपस्य भेदकविशेषरूपत्वाच्च। तच्च प्रकरणप्रमाणनिरूपणावसरे प्रदर्शयिष्यामः। तथा च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्राग्न्यन्वाधानावघातप्रयाजादिभिरुपकारं सम्पाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत्। स्वर्गं कुर्यादिति वाक्यार्थः। यथौदनकामः पचेदित्यत्र लिङा भावनाभिधीयते, तत्र च किं भावयेत् कथं

तृणफूत्कारादिभिरुपकारं सम्पाद्य पाकेन तेजःसंयो-
भावयेदिति भाव्याद्याकाङ्क्षायां
गलक्षणेनौदनं भावयेदोदनं कुर्यादिति भाव्याद्यन्वयेन वाक्यार्थः सम्पद्यते तद्वदिति।

ननु पूर्वं साध्यस्यापि यागादेः स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वनिष्पादकत्वं सम्भवति
तद्द्वारेण च विनश्वरस्याप्यचिरं स्वर्गसाधनत्वमितरस्य सम्भवतीत्युक्तम्। तच्च यागेन
कथमुत्पाद्यते तत्र वक्तव्यं—यागेन स्वर्गं कुर्यादिति तावत्फलवाक्येन यागस्य फलसाधनत्वं
बोध्यते। तत्र च कथं विनश्वरेण स्वर्गः कर्तव्यस्तस्य कालान्तरभावित्वादित्याकाङ्क्षाया-
मपूर्वं निष्पाद्येत्युच्यते। पुनः कथमपूर्वं निष्पादनीयमित्याकाङ्क्षायां प्राच्योदीच्याङ्गविशिष्टस्य
यागस्यानुष्ठानप्रकारेणेत्युच्यते। तच्चापूर्वं दर्शपूर्णमासयोरनेकविधं—फलापूर्वं समुदा-
यापूर्वमुत्पत्त्यपूर्वमङ्गापूर्वं चेति। तत्र येन स्वर्गः क्रियते तत् फलापूर्वमित्युच्यते फलज-
नकत्वात्, तच्च समुदायापूर्वेण जन्यते। समुदायश्च द्विविधः—अमावास्यायां त्रयाणां
यागानामेकः समुदायः, पौर्णमास्यां च त्रयाणां यागानामपरः समुदायश्च, ताभ्यां जन्यं
यदपूर्वं तत्समुदायापूर्वमित्युच्यते। समुदाययोश्च भिन्नकालवर्तिनोः संहत्य फलापूर्वजन-
नायोगात्तज्जननाय समुदायद्वयजन्यस्यापूर्वद्वयस्यावश्यं कल्पनीयत्वात्। अमावास्यायां
समुदायस्तु 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्याया'मिति वाक्यविहितौ सान्नाय्ययागौ
'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इति वाक्यविहित आग्नेयश्च तेषां त्रयाणां भवति। पौर्णमास्यां
समुदायस्तु—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'त्या-
ग्नेययागो विहितः, 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छ'दित्यग्नी-
षोमीययागो विहितः। 'उपांशुयाजमन्तरा यजती'त्युपांशुयागः। 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्य-
स्यैव तावुपांशुपौर्णमास्या'मिति वाक्येन विहितः। तेषां त्रयाणां च भवति, तयोश्
समुदाययोर्मध्य एकसमुदायवर्तिनां त्रयाणां यागानां भिन्नक्षणवर्तिनां संहत्य समुदायद्वयज-
न्ययोरपूर्वयोरेकापूर्वजननायोगात्तज्जननाय यागत्रयजन्यानि त्रीण्युत्पत्त्यपूर्वाणि कल्प-
नीयानि। तेषां चाङ्गोपकारमन्तरेणानुत्पत्तेरङ्गानां चानेकक्षणवर्तित्वेन संहत्योत्पत्त्य-
पूर्वारम्भायोगात्तदारम्भायाङ्गापूर्वाणि सन्निपत्योपकारकादीनि कल्पनीयानि। तत्र चाऽयं
विभागः। सन्निपत्योपकारकाण्यवघातप्रोक्षणादीनि द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारेण यागस्व-
रूपस्यैवातिशयजननेन यागोत्पत्त्यपूर्वोत्पत्तौ, तद्द्वारेण हि फलापूर्वे च व्याप्रियन्ते। सन्निप-
त्योपकारकाङ्गापूर्वे यागोत्पत्त्यपूर्वस्य प्रयोजकत्वमिति केचित्। फलापूर्वस्यैव तादृशा-
ङ्गापूर्वेऽपि प्रयोजकत्वं स्वीकर्तव्यम्, तस्यैव सर्वापूर्वप्रयोजकत्वे लाघवादित्यन्ये।
आरादुपकारकाणि तु प्रयाजादीनि यागोत्पत्त्यपूर्वेभ्यः सकाशाज्जायमानं फलापूर्वमेव
साक्षाज्जनयन्तीति। एवं प्रकारभेदेऽपि सर्वाण्यङ्गान्यपूर्वोत्पत्तावनुग्राहकाणीत्येकरूपे-
णैवेत्थंभावेन गृह्यन्ते। इत्थंभाव इतिकर्तव्यता चानर्थान्तरम्। तथा च प्रधानानामाग्ने-
'यादीनां षण्णां स्वरूपेण सर्वाङ्गसाहित्याभावेऽपि स्वस्वोत्पत्त्यपूर्वद्वारेण सर्वाङ्गसाहित्यं
तेषामङ्गानां; प्रयाजादीनामपि स्वरूपेण सर्वप्रधानसाहित्यासम्भवेऽपि स्वस्वोत्पत्त्यपूर्व-

प्रधानसाहित्यं चोपपन्नम्। तच्च साहित्यं विहितमिति वक्ष्यते। एवं च यदेव प्रधानोत्पत्त्यपूर्वाणां प्रयाजाद्युत्पत्त्यपूर्वैः साहित्यं तदेव प्रधानानामङ्गवैशिष्ट्यरूपं साङ्गत्वमित्युच्यते। तस्मात्ताभ्यां समुदायापूर्वाभ्यामाग्नेयादिप्रधानोत्पत्त्यपूर्वत्रितयत्रितयजन्याभ्यां प्रयाजाद्यङ्गापूर्वसहिताभ्यां फलजनकीभूतं फलापूर्वापरनामकं महापूर्वं जन्यते, तेन च फलमिति यागस्यापूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमुपपन्नतरं भवतीति सर्वं समञ्जसम्।

पर्यायत्वप्रसक्त्यैकस्यैव पदस्यैकापूर्ववाचकत्वम्। ननु 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः। उद्भिदा यजेत पशुकामः, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिषु सर्ववाक्येषु कस्य पदस्यापूर्वप्रतिपादकत्वमिति वक्तव्यम्। न च भावनावाचकस्य यजतिददात्याख्यातान्तस्यापूर्ववाचकत्वं भवत्विति वाच्यम्, अपूर्वस्य साध्यत्वेन प्रधानत्वात्सर्वेषां पदानां प्रधानान्वयलाभाय तेषां सर्वेषामेव क्रियाकारकसम्बन्धमनादृत्य प्रत्येकमपूर्ववाचकत्वात्, अन्यथा तेषां प्रधानान्वयित्वं न स्यादिति चेत्। अत्रोच्यते—अपूर्वस्यात्यन्तादृष्टरूपत्वादेकापूर्वकल्पनयैव वाक्यस्योपपत्तावनेकापूर्वकल्पनायां गौरवप्रसङ्गः स्यात्। सर्वेषां च पदानां तद्वाचकत्वे पर्यायत्वप्रसक्त्यैकस्यैव पदस्यैकापूर्ववाचकत्वं स्वीकर्तव्यं, पदान्तरं तु तद्गुणतयान्वेति, तच्चापूर्ववाचकं पदमाख्यातान्तमेव न तु कर्मनाधेयादिकं, तस्य भावार्थसामानाधिकरण्यादिनाप्युपपत्तेः।

ननु 'सोमेन यजेत', 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्य'मिति हि श्रुतम्। तत्र च सोमहिरण्यशब्दौ द्रव्यवाचकौ। सुवर्णशब्दस्तु शोभनवर्णरूपगुणवाचकः। तैरेव द्रव्यादिशब्दैरपूर्वमवगम्यते। द्रव्यादीनां सिद्धस्वरूपाणामेव साध्यापूर्वसाधनत्वादिति चेन्न। द्रव्यादिसिद्धस्वरूपाणां यागदानादिरूपभावार्थशेषत्वेनाप्युपपत्तेर्भावार्थस्यैवापूर्वसाधनत्वात्। क्रियां विना द्रव्यादीनां न फलसाधनत्वं सम्भवति, पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वादर्शनादित्युक्तमेव। तस्माद्भावनावाचकस्यैवाख्यातान्तपदस्यापूर्वगमकत्वं न द्रव्यादिपदस्येति सिद्धम्।

नन्वेवं भवतु भावनावाचकस्याख्यातपदस्यापूर्वगमकत्वं, भवतु च भावनयाख्यातसामान्यार्थः, तथापि 'सोमेन यजेत, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोती'त्यादिषु वाक्येषु भावनावाचकस्याख्यातस्यैकत्वाद्भावनाया अप्येकत्वं युक्तम्। न च धातुभेदाद्भावनाया भेद इति वाच्यम्। धातोर्भावनावाचकत्वाभावात्तस्य तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति चेत्, अत्राभिधीयते—अस्तु तावदाख्यातस्यैव भावनावाचकत्वं तच्चाख्यातं न प्रतिधातुव्यक्त्येकव्यक्तिरूपं भवति। न हि सर्वासां धातुव्यक्तीनामुपर्येकाख्यातप्रत्ययव्यक्तिः श्रूयते। व्याकरणेनापि न धातुसमूहादेकाख्यातव्यक्तिर्विहिता, तस्माद्बहूनामाख्यातव्यक्तीनामेकैकधातुविशेषानुषक्तत्वेनोत्पन्नानां भावनावाचकत्वाद्यागदानहोमभावनाः परस्परं भिद्यन्त इति भावनाभेदे तत्करणस्यापि भावार्थस्यापर्यायशब्दान्तराद्भेदः स्पष्ट एवेति सिद्धम्।

ननु 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाका यजती'ति दर्शादिप्रकरणे पञ्च प्रयाजाः श्रूयन्ते, तत्र च पञ्चकृत्वः श्रुते यजतिपदे यज तिददातिजुहोत्यादिषु पूर्वोक्तपदेष्विव धातुभेदाभावात्तदनुषक्ताख्यातस्याप्यभेद ए ततश्चाख्यातैक्यप्रयुक्तभावनैक्यमपि दुर्वारमिति चेन्न। यजतिपदाभ्यासाद्भावनाभेदः स्वीकर्तव्यत्वात्। तस्मात्करणभेदः। अन्यथा कर्मैकत्वेऽभ्यासो निरर्थकः स्यात्। तस्मा विशेषपुनःश्रुतिरूपयजतिपदाभ्यासात्कर्मभेदः सिद्ध इत्यन्यत्र विस्तरः।

ननु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'त्यत्र जुहोतीत्याख्यातं 'समिधो यजती'त्यादिवन्नाभ्या नाम्नातं किन्तु सकृदेव, ततश्च भावनैक्येन कर्मैक्यमेवेति चेत्, अत्र वक्तव्यम् किमिदमाख्यातं पदान्तरान्वयनिरपेक्षस्वरूपं सदेव भावनैक्ये प्रमाणमुत पदान्तरान् यसापेक्षस्वरूपम्? नाद्यः; पदमात्रस्य वाक्यांशरूपस्य स्मारकत्वेन वाक्यकार्यरूपप्र तिजनकत्वासम्भवात्। न द्वितीयः; त्रित्वसंख्या विशेषितेनाख्यातेन कर्मबहुत्वावगमा वनाबहुत्वावगमे तस्य भावनैक्ये प्रमाणत्वाभावात्। तस्मात् पदाभ्यासाभावेऽपि जुहो होमे त्रित्वसंख्यान्वयात् परस्परं त्रयो होमा भिद्यन्त इति भावनानां त्रित्वमेवेति सिद्ध

ननु 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेते'त हि प्रकृतं ज्योतिष्टोममेष ज्योतिरित्यादिनाऽनूद्य तस्मिन्सहस्रदक्षिणादानलक्षणो गु विधीयत इति नात्र कर्मभेदेन भावनाभेद इति चेन्न, प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमस्याथेत्य विच्छेदात्। ततश्च ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयमाणानामपि त्रयाणां यागानां ज्योतिष्टोमसंज्ञा पेक्षया पृथक्संज्ञात्रयकरणाज्ज्योतिष्टोमाद्भिन्नसंज्ञावशादेव त्रयाणां च परस्परं इति भावनानां भिन्नत्वमिति सिद्धम्।

ननु 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन'मिति श्रूयते। तत्र च घनीभूतः पयःपिण्ड आमिक्षा। जलं वाजिनम्। तथा चामिक्षाद्रव्यभा ये विश्वेदेवास्तान्वाजिभ्य इत्यनेनानूद्य तत्र वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते। वाजोऽन्न मामिक्षारूपमेषामस्तीति तदुत्पत्तेः। तच्च द्रव्यमामिक्षाद्रव्येण सह समुच्चीयतां विकल्प्य वेति चेत्। न। वैश्वदेवयागस्य पूर्वमेवामिक्षारूपगुणावरुद्धत्वेन तत्र वाजिनगुणस्य प्रवेशा योगात्। न हि व्रीहियवयोरिव वाजिनामिक्षयोर्विकल्पः। समशिष्टत्वाभावात्। आमिक्षारू गुणस्तु वैश्वदेवयागस्योत्पत्तिवाक्य एव शिष्यते विधीयत इत्युत्पत्तिशिष्टः। वाजिनगुण तूत्पन्ने कर्मणि विधिः कल्प्यत इत्युत्पन्नशिष्टः। उत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टयोर्मध्य उत्पत्ति शिष्टः कर्मोत्पत्तिकाल एव तदङ्गत्वेन प्रमितत्त्वात् प्रबलः। उत्पन्नशिष्टस्तु तदनन्तरं प्रवि तोऽपि विलम्बितत्वेन दुर्बलत्वात्तत्र प्रवेशमलभमानो वाजिशब्दार्थस्य देवतान्तरत्वमापा तद्देवत्यकर्मान्तरे प्रविशति तस्माद् द्रव्यदेवतालक्षणस्य रूपस्य भेदात्कर्मभेदेन भावना भेद इति सिद्धम्।

ननु 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्र हि न कर्मान्तरभावनाया विधिः, किन्तु नित्याग्निहोत्रमनूद्य तत्र मासरूपो गुणो विधीयते प्राप्तत्वादिति चेत्। न, वाक्य-भेदप्रसङ्गात्। तथा हि—किं तदनुवादेन मास एव विधीयते किमुतोपसदोऽपि? न प्रथमः। उपसदामपि नित्याग्निहोत्रेऽप्राप्तानां त्वन्मते विधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। प्राप्ते कर्मणि मासोपसद्रूपानेकगुणविधाने वाक्यभेदस्य दुर्वारत्वात्। स चाष्टदोषदुष्टः। दोषांश्चोपरिष्टात् प्रदर्शयिष्यामः। तस्मादपूर्वकर्मविधायकात्कुण्डपायिनामयनरूपात्प्र-करणान्तरान्नित्याग्निहोत्रधर्मकं तन्नामकं च कर्मान्तरमत्र विधीयत इति कर्मान्तरभावना सिद्धा। तथा च—शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणभेदप्रकरणान्तरैः कर्मभेदोऽपि द्वितीया-ध्यायस्यार्थो मूले भावनाप्रदर्शनेनैव सूचितो वेदितव्यः। अग्रे वोत्पत्तिविधिनिरूपणेन स ध्वनितोऽस्माभिस्त्वत्रैव निरूपितः। तस्मात् स्वर्गमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन स्वर्गकाम-विधिर्यागादिकं विधत्ते। ततश्च तादृशवेदस्य धर्मादौ प्रामाण्यं निरवग्रहमुपपन्नमिति सर्वं निरवद्यम्।

तस्य च वेदरूपप्रमाणस्य प्रमेयोऽर्थस्त्रिविध इति प्रसङ्गाच्चिन्त्यते—क्रत्वर्थः पुरुषार्थ उभयार्थश्चेति। तत्र प्रयाजादिः प्रोक्षणादिश्च केवलं क्रत्वर्थः। फलं यागादिरूपं तत्करणं च पुरुषार्थः, यथा स्वर्गादिर्दर्शपूर्णमासादिश्च। दध्यादि तूभयार्थं 'दध्ना जुहोती'ति फलासंयुक्तवाक्येन तस्य क्रत्वर्थत्वावगमात्, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दिति फलसंयो-गपरवाक्येन पुरुषार्थत्वावगमाच्च। एकस्य तूभयार्थत्वे विनियोगजकप्रमाणभेदस्य निया-मकत्वात्। तथा चोक्तम्—'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्व'मिति। किञ्च क्रत्वर्थे प्रयाजादौ क्रतुः प्रयोजकः, पुरुषार्थे च दर्शादौ फलं, प्रयोजकत्वं चानुष्ठापकत्वम्। तथा च विधिर्यदर्थं यदनुष्ठापयति स तत्र प्रयोजकः। यथा दर्शादिविधिः स्वर्गार्थं दर्शादि-कमनुष्ठापयतीति स्वर्गादिर्दर्शादौ प्रयोजकः। यथा च प्रयाजादिविधिः प्रयाजादीन्दर्शाद्य-र्थमनुष्ठापयतीति दर्शादिः प्रयाजादिषु प्रयोजको दध्यानयनविधिश्च दध्यानयनमामि-क्षार्थमनुष्ठापयत्यामिक्षा दध्यानयने प्रयोजिका। वाजिनं तु दध्यानयनानुष्ठानेनामिक्षायां जायमानायामनुनिष्पाद्यमानत्वान्मधुररसस्य चामिक्षायामेव विशेषेणोपलभ्यमानत्वान्न दध्यानयने प्रयोजकमित्यादिका चतुर्थाध्यायार्थचिन्ता स्वयमूहितव्या।

अर्थबोधिनी—किसी भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश होने आवश्यक होते हैं। जहाँ तक आर्थी भावना के साध्य का प्रश्न है? आर्थी भावना का साध्य स्वर्ग आदि फल है। यद्यपि आर्थी भावना के प्रभाव से पुरुष प्रथमतः याग को निष्पन्न करता है और यागानुष्ठान के पश्चात् कालान्तर में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आर्थी भावना एवं स्वर्ग की प्राप्ति में काल का व्यवधान पड़ जाता है, फिर भी आर्थी भावना का साध्य स्वर्ग ही माना जाता है। यह इसलिये कि स्वर्ग इष्ट है, याग इष्ट नहीं। याग का सम्पादन तो पुरुष इसलिये करता है कि उसे अपना इष्ट—स्वर्ग प्राप्त हो सके।

याग की जटिल प्रक्रिया एवं व्यय उसे अभीष्ट नहीं हो सकते। वस्तुतः पुरुष को स्वर्ग ही अभीष्ट होता है, इसलिये उसे ही पुरुषनिष्ठ आर्थी भावना का भाव्य या साध्य मानना चाहिए। स्वर्ग उत्पन्न नहीं किया जाता है, क्योंकि स्वर्ग पूर्व से ही विद्यमान रहता है। हाँ, यहाँ स्वर्ग-भावना का अर्थ स्वर्गप्राप्ति या स्वर्ग-सुखप्राप्ति होगा।

आर्थीभावना के साध्य (स्वर्ग) का साधन यागादि है। वेदविधियों से ज्ञात होता है कि याग आदि के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जैसे **यजेत स्वर्गकामः** इस विधिवाक्य से ज्ञात होता है कि याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस प्रकार स्वर्ग आदि साध्य का साधन याग माना जाता है। याग के अनुष्ठान होते ही स्वर्ग की प्राप्ति अविलम्ब नहीं हो जाती; अपितु याग के अनुष्ठान एवं स्वर्गप्राप्ति में काल का व्यवधान रहता है। अतएव यागानुष्ठान एवं स्वर्गप्राप्ति को सम्बद्ध करने के लिये 'अपूर्व' की कल्पना की गई है। याग का अनुष्ठान हो चुकने पर अनुष्ठाता पुरुष में 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है। उसी अपूर्व के प्रभाव से मरण के पश्चात् पुरुष को स्वर्ग की प्राप्ति होती मानी जाती है।

यद्यपि यह कहा जा चुका है कि याग आदि साधन के द्वारा साध्य—स्वर्ग को सिद्ध करे, फिर भी आकाङ्क्षा यह होती है कि यागादि के द्वारा 'किस प्रकार' साध्य की प्राप्ति करे। इसी आकाङ्क्षा को 'इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा' कहते हैं। इस 'किस प्रकार' रूप प्रश्न का उत्तर है—'प्रयाज आदि अङ्गसमूह के अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति करे'। आशय यह है कि याग (दर्शपूर्णमास) के सम्पादन के लिये प्रयाज, अनुयाज आदि अङ्गभूत क्रियाओं का भी अनुष्ठान होना आवश्यक है। दर्शपूर्णमास मुख्य याग है एवं इन यागों की अङ्गभूत क्रियायें प्रयाज आदि हैं। प्रयाज आदि के द्वारा अङ्गभूत क्रियाओं का अनुष्ठान करने से जब पूरा याग पूर्ण रूप से अपनी अङ्गक्रियाओं सहित अनुष्ठित हो जायेगा तभी याग से स्वर्ग की प्राप्ति होगी; अन्यथा नहीं। इसलिये कथंभावाकाङ्क्षा होने पर प्रयाज आदि अङ्गसमूह के द्वारा सम्पादन करने की बात कही गई। 'प्रयाजादि' पद में 'आदि' पद का प्रयोग प्रयाज के अतिरिक्त अनुयाज एवं अन्य अङ्गभूत क्रियाओं को उद्देश्य करके किया गया है।[1]

प्रसङ्ग—'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या में अन्य सभी पदों की व्याख्या करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने धर्म का लक्षण किया है। लक्षण इस प्रकार है—

यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः। पुनः 'स च यागादिः यजेत स्वर्गकामः……' से लेकर अभी तक उसी याग या धर्म के विषय में विवेचन किया गया। भावना भी उसी का अंश था। धर्मलक्षण में **वेदप्रतिपाद्यः** पद में आये हुए 'वेद' के स्वरूप, लक्षण एवं विभागों पर अब विचार किया जा रहा है—

१ देखिये—विभागसंख्या-३६

१२. वेदस्य लक्षणं विभागाश्च

अथ को वेद इति चेदुच्यते अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधिमन्त्रनामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।

अर्थ—अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि वेद किसे कहते हैं, तो उत्तर यह है कि **अपौरुषेयं वाक्यं वेदः** (अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं)। यह वेद का लक्षण है। वेद पाँच प्रकार का होता है अर्थात् वेद के पाँच विभाग हैं, वे इस प्रकार हैं—१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तदेवं सामान्यतः प्रयोजनवदर्थावबोधकत्वेन वेदस्य धर्मे प्रामाण्यं धर्मविधायकत्वप्रदर्शनेन चोपपाद्येदानीं तस्य विध्यादिरूपविभागेन तत्र प्रामाण्य-मुपपादयितुं तल्लक्षणं पृच्छति—अथेति। उत्तरं प्रतिजानीते—उच्यत इति। तत्र सामान्यल-क्षणमाह—अपौरुषेयं वाक्यमिति। वेद इति लक्ष्यनिर्देशः। तत्र भारतादावतिव्याप्तिवारणा-यापौरुषेयमिति विशेषणम्। आत्मादौ तद्दोषवारणाय वाक्यमिति विशेष्यम्। प्रमाणा-न्तरेणार्थमुपलभ्य विनिर्मितत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नवाक्यत्वमिति फलितम्। ईश्वरो वेदमपि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचयति। तस्मात्कथं वेदस्य पौरुषेयाद्भिन्नत्वम्? न हि वेदं परमेश्वरस्तदर्थं प्रमाणान्तरेणोपलभ्य विरचयति। वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययन-त्वाद्वर्तमानवेदाध्ययनवदित्यनुमानेन वेदस्यापौरुषेयत्वसाधनात्। 'यः कल्पः स कल्पपूर्वक' इति न्यायेन संसारस्यानादित्वात्—परमेश्वरस्य च सर्वज्ञत्वात्परमेश्वरो गतकल्पीय वेदम-स्मिन्कल्पे स्मृत्वोपदिशतीत्येतावन्मात्रेणोपपत्तौ वेदपौरुषेयत्वस्यानौचित्याच्चेति भावः। वेदं विभजते—स चेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—वेद अपौरुषेय वाक्य होता है। मीमांसादर्शन के अनुसार वेद पुरुषकृत नहीं है। महाभारत आदि ग्रन्थों को व्यास आदि पुरुषों ने लिखा है, किन्तु वेद को नहीं। वेद तो ऐसा महावाक्य है, जो अनादि है। मीमांसा ईश्वर को वेद का कर्ता नहीं मान सकती। एक तो मीमांसा निरीश्वर दर्शन है, ईश्वर की सत्ता उसे स्वीकार ही नहीं। जब ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती तो वह (ईश्वर) उसका रचयिता हो ही कैसे सकता है? अर्थसंग्रहकार जैसे सेश्वर मीमांसक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुये भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं। ईश्वर भी पुरुष-पुरुषोत्तम है; यदि उसे वेद का रचयिता मान लिया जायेगा, तो वह (वेद) पौरुषेय हो जायेगा। यद्यपि परमाणु, काल, आत्मा आदि अनेक वस्तुयें अपौरुषेय हैं, किन्तु वे वाक्य नहीं; जबकि वेद वाक्यरूप है। अतएव वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' कहा गया है।

मीमांसा या कर्मकाण्ड की दृष्टि से वेद के पाँच भाग किये गये हैं। ये पाँच हैं—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। अर्थसंग्रह ग्रन्थ के शेष भाग में इन्हीं पाँच का विवरण मिलता है।

वेद के उस अंश को विधि कहते हैं, जो अलौकिक विषयों पर प्रकाश डाले[1]; जैसे—**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** यह एक विधि या विधिवाक्य है, क्योंकि यहां स्वर्गफल वाले 'अग्निहोत्र' नामक हवन का विधान किया गया है। 'अग्निहोत्र' हवन से स्वर्ग के प्राप्त होने का नियम लोक में सर्वथा अज्ञात है। इस प्रकार के हवन के विधान के कारण प्रकृत वाक्य 'विधिवाक्य' कहा जाता है। वेद के उस अंश को मन्त्र कहा जाता है, जिनका पाठ यागानुष्ठानकाल में याग में प्रयोग किये जाने वाले पदार्थों का स्मरण कराने के लिये किया जाय।[2]

'नामधेय' याग के नाम को कहते हैं। जैसे 'उद्भिद्' एक यागविशेष का नाम है, अतएव 'उद्भिद्' यागनामधेय या 'नामधेय' हुआ। वस्तुतः जब किसी शब्द का कोई दूसरा अर्थ हो रहा हो, किन्तु कारणवश उस शब्द को उस अर्थ में प्रयुक्त न मानकर उसे यागविशेष का नाम अर्थात् 'यागनामधेय' नाम लिया जाता है, तब उस शब्द को 'नामधेय' कहते हैं। उदाहरण के लिये 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ 'भूमि के खोदने का साधन' (फावड़ा या कुदाल) भी होता है, किन्तु कारणवश—जैसाकि नामधेय प्रकरण में दिखलाया जायेगा—'उद्भिद्' शब्द का अर्थ फावड़ा या कुदाल आदि न लेकर एक 'विशेष याग' ले लिया जाता है। ऐसी स्थिति में 'उद्भिद्' नामधेय हो जाता है।[3]

निषेधवाक्य ऐसे वाक्यों को कहते हैं, जो पुरुष को अनर्थकारी क्रियाओं को करने से रोकते हैं[4], जैसे—**न कलञ्जं भक्षयेत्** अर्थात् 'विषाक्त मांस को न खाय'। जिस प्रकार विधिवाक्य पुरुष को इष्ट कर्म में प्रवृत्त करते हैं, उसी तरह निषेधवाक्य पुरुष को अनिष्ट कर्म करने से निवृत्त करते हैं।

विधिवाक्यों के द्वारा विहित कर्मों के प्रशंसक एवं निषेधवाक्यों के द्वारा निषिद्ध कर्मों के निन्दक वाक्यों को 'अर्थवाद' कहते हैं।[5] अर्थवाद वाक्यों को सुनकर व्यक्ति विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है एवं निन्दित कर्मों को करने से निवृत्त हो जाता है।

प्रस्तावना समाप्त

●

---

१. तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। (विभागसंख्या-१३)
२. प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। (विभागसंख्या-६१)
३. देखिये—विभागसंख्या-६७
४. पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। (विभागसंख्या-७५)
५. प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। (विभागसंख्या-८६)

(ख) विधिप्रकरणम्

प्रसङ्ग—यहाँ से लेकर ग्रन्थ के अन्त तक वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद—इन पाँच प्रभेदों पर विस्तार से विचार किया जायेगा। विधि वेद का प्रथम प्रभेद है एवं ग्रन्थ में इसका विस्तार दूसरों की अपेक्षा अधिक है। सर्वप्रथम विधि पर विचार किया जा रहा है—

१३. विधिलक्षणम्

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावतेदिति वाक्यार्थबोधः।

अर्थ—वेद का जो भाग अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराता है, उसे विधि कहा जाता है। विधि की यही सार्थकता है कि जो सप्रयोजन अर्थ अन्य प्रमाणों से अज्ञात रहता है, उसका विधान विधि करती है। उदाहरण के लिए **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** यह एक विधि है। यह विधि स्वर्गफलक याग का विधान करती है अर्थात् अन्य प्रमाणों से न ज्ञात होने वाले स्वर्गफलक याग का विधान करती है। उक्त विधिवाक्य का अर्थबोध **अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्** इस रूप में होता है। इसका अर्थ—'अग्निहोत्र' नामक याग से स्वर्ग को सम्पन्न (प्राप्त) करे—है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तत्र विधिं लक्षयति—तत्रेत्यादिना। तत्र पञ्चविधेषु वेदभागेषु मध्य इत्यर्थः। अज्ञातेति। अज्ञातस्य प्रयोजनवतोऽर्थस्य यागादिनामकस्य ज्ञापकत्वं विधित्वमित्यर्थः। तदेवाह—स चेत्यादिना। स विधिर्यादृशं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं भवति तादृशमर्थं विधत्ते, तेन चाज्ञातप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवानिति योजना। तत्रोदाहरणमाह—यथाग्निहोत्रमिति। गुणविधिस्तु मानान्तरेणाप्राप्तं गुणमात्रं विधत्ते।**

अर्थबोधिनी—वेद के पाँच भागों में से जो अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराता है, वह विधि कहलाता है।[1] विधि जिस अज्ञात अर्थ (विषय) का ज्ञान कराती है, उसका ज्ञान

---

१. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥
इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।
(ऐतरेयब्राह्मण पर सायणभाष्य)

स्वयं में पर्यवसित नहीं होता; अपितु उसका कुछ प्रयोजन रहता है। पुनश्च, विधि अज्ञात विषय का केवल ज्ञान ही नहीं कराती है; अपितु विधान भी करती है अर्थात् क्रियाविशेष के सम्पादन का विधान करती है; अतएव **अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः** इस विधि के लक्षण के पश्चात् विधि के स्वरूप पर विचार करते हुए ग्रन्थकार ने विधि के विशेषण के रूप में **तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान्** पदों का प्रयोग किया है। यहाँ 'प्रयोजनवत्' पद के द्वारा ज्ञान के स्वयं में पर्यवसान होने का निवारण एवं 'विधानेन' पद के द्वारा अज्ञातार्थज्ञापनमात्र का निवारण करके अप्रवृत्तप्रवर्तन का भी ग्रहण किया गया है।

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः यह विधिवाक्य है, क्योंकि शब्दप्रमाणरूप वेद के अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से अग्निहोत्र का ज्ञान नहीं होता। अग्निहोत्र के सम्पादन का फल स्वर्गप्राप्ति है, अतएव अग्निहोत्र 'प्रयोजनवान् अर्थ' हुआ। विधि की यही विशेषता है कि वह ऐसे अर्थ (विषय) का विधान करे, जिसका कुछ प्रयोजन (फल) हो और जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य किसी भी प्रमाण का विषय न हो; अपितु केवल प्रासङ्गिक वेदवाक्य का ही विषय हो।

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इस विधिवाक्य का मीमांसकदृष्ट्या स्पष्ट अर्थ इस प्रकार हुआ—**अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्।** मीमांसा के अनुसार विधिवाक्य में भावना रहती है। भावना के पूर्वोक्त साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश होते हैं। साधन एवं इतिकर्तव्यता सामान्य एवं विशेष अथवा समस्त एवं व्यस्तभेद से भिन्न होने पर भी समान ही हैं। इस प्रकार वस्तुतः भावना के दो मुख्य अंश—साधन एवं साध्य हुये। तृतीया विभक्ति के द्वारा साधन एवं द्वितीया विभक्ति के द्वारा साध्य का बोध होता है। भावना का स्पष्ट बोध होने के लिये प्रत्येक विधिवाक्य के साधन एवं साध्य अंशों का स्पष्ट होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिये यहाँ पर **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** वाक्य का अर्थवोध **अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्**-रूप में हुआ। यहाँ 'अग्निहोत्रहोमेन' पद तृतीया और 'स्वर्गं' पद द्वितीया विभक्ति में है।

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः यह विधि होमक्रिया का विधान करती है; अतएव उत्पत्ति-विधि है। उक्त विवरण उत्पत्ति-विधि को दृष्टि में रखकर किया गया है।

प्रसङ्ग—कुछ ऐसी विधियाँ होती हैं, जिनमें होम आदि क्रियाओं का विधान नहीं होता, अपितु केवल क्रिया के अङ्गभूत पदार्थों का विधान होता है। क्रिया का ग्रहण किसी दूसरी विधि से हो जाता है। ऐसी विधि को गुणविधि कहते हैं। अब ग्रन्थकार इसी गुणविधि के स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं—

१८. गुणविधेः स्वरूपम्

यत्र कर्म प्रमाणान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते। यथा 'दध्ना

जुहोति' इत्यत्र होमस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं दध्ना होमं भावयेदिति।

अर्थ—जहाँ पर कर्म का विधान अन्य प्रमाण से हुआ रहता है, वहाँ पर विधि कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान करती है अर्थात् अङ्गभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है। उदाहरण के लिये **दध्ना जुहोति** इस विधिस्थल में होम का विधान **अग्निहोत्रं जुहुयात्** इस वाक्य से होने के कारण 'होम' को उद्देश्य करके दधिमात्र का विधान किया जाता है। **दध्ना जुहोति** का मीमांसा की भाषा में अर्थ हुआ—**दध्ना होमं भावयेत्** अर्थात् 'दधि के द्वारा होम का सम्पादन करे'।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**प्रधानकर्मणस्तु मानान्तरेण प्राप्तस्यानुवाद एवेत्याह—यत्र कर्मेत्यादिना।**

अर्थबोधिनी—**दध्ना जुहोति** गुणविधि है। इसमें केवल 'दधि' का विधान किया गया है। **जुहोति** अंश तो **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** इस विधि से पूर्व ही प्राप्त हो चुका है, अतः होम का यहाँ पर अनुवादमात्र है। **जुहोति** का अर्थ—'होम' मुख्य है, उसी को लक्ष्य में रखकर उसके अङ्गभूत दधि का विधान **दध्ना जुहोति** इस विधि के द्वारा किया गया है। विधि होने के कारण इसमें भी भावना विद्यमान है। भावना तथा उसके साध्य एवं साधनसंज्ञक अंशों को स्पष्ट करने के लिये **दध्ना जुहोति** का मीमांसादर्शनसम्मत अर्थ **दध्ना होमं भावयेत्** हुआ। 'दध्ना' तृतीया विभक्ति में होने के कारण होमक्रिया का साधन 'दधि' हुआ और साधन सदैव गुण या गौण रहता है; अतएव दधिरूप गुण का विधान होने के कारण **दध्ना जुहोति** इस विधि को गुणविधि कहा गया। होम साध्य होने के कारण द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त हुआ है।

प्रसङ्ग—कुछ ऐसी भी विधियाँ होती हैं, जिनके द्वारा गुण या कर्म का एक साथ विधान होता है। ऐसी विधियों के द्वारा गुण एवं कर्म का विधान अलग-अलग न होकर विशेषण एवं विशेष्य के रूप में होता है। विधान कर्म का विशेषण बनता है। ऐसी विधि को गुणविशिष्ट विधि कहते हैं। इसी प्रकार की गुणविधि का निरूपण अब किया जा रहा है—

१५. विशिष्टविधेः स्वरूपम्

यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते, यथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

अर्थ—जहाँ पर कर्म और गुण दोनों के दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं, वहाँ

विधि गुणविशिष्ट कर्म का विधान करती है। जैसे **सोमेन यजेत** इस विधिस्थल में 'सोम' (गुण) और 'याग' (कर्म) दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं। इसलिये सोम-विशिष्ट याग का विधान किया जाता है। 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानकर 'सोमेन यजेत का मीमांसा की भाषा में **सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्** अर्थात् 'सोमयुक्त याग से स्वर्ग का सम्पादन करे' यह स्पष्ट अर्थ होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—उभयमिति। **शेषशेषिलक्षणमुभयमित्यर्थः।** विशिष्टमिति। **शेषविशिष्टं शेषिणमित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह**—यथा सोमेन यजेतेति। **ननु सोमरूपस्यैव यागस्यात्र विधिरस्तु किं विशिष्टविधानेनेत्याशङ्का सोमस्य द्रव्यत्वेन यागत्वासम्भवात् सोमपदे मत्वर्थलक्षणास्वीकारेण विशिष्टस्यैव विधेर्युक्तत्वान्नैवमित्याह**—सोमपदे इत्यादिना।

अर्थबोधिनी—सोमेन यजेत गुणविशिष्ट विधि है, जबकि **दध्ना जुहोति** केवल गुणविधि। गुणविधि में केवल 'गुण' का विधान होता है और होम आदि क्रिया की प्राप्ति किसी वैदिक वाक्य (विधि) द्वारा पहिले से ही हुई रहती है। उदाहरण के लिए दध्ना जुहोति में केवल दधिरूप गुण का विधान होता है और होम की प्राप्ति 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इस विधि से पूर्व से ही हुई रहती है। गुणविशिष्ट विधि इससे भिन्न है। गुणविशिष्ट विधि के पूर्व ऐसी कोई विधि नहीं मिलती, जिससे होम (क्रिया) का या गुण का विधान हुआ रहता हो; अतएव गुण के विधान के साथ ही साथ होम (क्रिया) के विधान का भार भी इसी विधि पर पड़ता है।

किन्तु मीमांसक यह मानने को तैयार नहीं कि एक ही विधि के द्वारा गुण एवं क्रिया दोनों का अलग-अलग विधान होता है। एक ही काल में एक वाक्य के द्वारा दो पदार्थों के विधान नहीं हो सकते। अतएव मीमांसक एक उपाय का आश्रय लेता है, जिसके द्वारा अभिप्रेत दोनों पदार्थों का विधान हो भी जाय और पदार्थों के विधान से होने वाले दोष से भी बचा जा सके। उपाय यह है कि मीमांसक ऐसे स्थलों में विधान तो केवल एक पदार्थ—होम आदि मुख्य याग—का मानता है, हाँ गुण को क्रिया का विशेषण मान लेता है। इस प्रकार विशेष्यभूत क्रिया के विधान के अन्तर्गत एक शब्द-शक्तिविशेष है, जिसका नाम लक्षणा है। लक्षणा शक्ति शब्द में होती है। प्रकृत स्थल में लक्षणा से प्राप्त 'मतुप्' प्रत्यय का अभिप्राय 'वान्' अर्थात् 'वाला' है।

इस प्रकार **सोमेन यजेत** का मीमांसाभिमत अर्थ होगा—**सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्** अर्थात् सोमयुक्त याग से स्वर्ग का सम्पादन करे। स्पष्ट है कि यहाँ केवल याग का विधान है। ध्यान रहे, यहाँ द्वितीया होने पर 'इष्ट' का विधान नहीं है, क्योंकि इष्ट की प्राप्ति याग द्वारा होगी। अतएव याग ही विहित है। 'यागेन' का विशेषण 'सोमवता' है। विशेषण विशेष्य से पृथक् नहीं होता। सोम गुण है, जो कि 'मतुप्' प्रत्यय के योग से याग

के विशेषण के रूप में आता है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि याग सोमरूप गुण से विशिष्ट है। इसलिये इस विधि को गुणविशिष्ट विधि अर्थात् गुणविशिष्ट कर्मविधि कहते हैं। प्रकृत स्थल में इस विधि को हम 'सोमविशिष्टयाग' विधि या 'सोमगुणविशिष्टयाग' विधि कह सकते हैं।

इस प्रकार **सोमेन यजेत** का मत्वर्थलक्षणा से **सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्** अर्थ लेने से 'याग' एवं 'सोम' गुण दोनों का विधान भी हो गया; किन्तु दोनों का अलग-अलग विधान न होने के कारण कोई प्रतिपक्षी यह भी आपत्ति नहीं कर सकता है कि एक ही वाक्य में दो पदार्थों का विधान है। जैसा कि पहिले बताया गया है, लक्षणा द्वारा ही सोम का अर्थ 'सोमवत्' अर्थात् 'सोमवान्' लिया गया है। यह इसलिये कि सोम का अर्थ 'सोम' लेकर अभिप्रेत अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। मुख्य क्रिया के विधान के बिना गुण का विधान भी किस क्रिया को लक्ष्य करके होगा?

प्रकृत स्थल की लक्षणा को 'उपादान' लक्षणा करते हैं। 'भाले प्रवेश कर रहे हैं' अथवा 'लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं' यहाँ उपादान लक्षणा से 'वान्' अर्थात् 'वाले' अर्थ का योग करके 'भाले वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' तथा 'लाठी वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं' यह अर्थ होगा।[१] इसी प्रकार 'सोम' का अर्थ भी 'सोमवान्' होगा।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार प्रकृत स्थल में वाक्यभेद नामक दोष के होने का खण्डन करते हैं—

१६. वाक्यभेदापत्तेर्निराकरणम्

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैकस्यैव विधानात्।

अर्थ—यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक ही विधि से सोम और याग दोनों के विधान मानने पर 'वाक्यभेद' संज्ञक दोष आपन्न होता है। यह इसलिये कि दोनों का अलग-अलग विधान ही नहीं हुआ है, किन्तु विशेषणयुक्त एक क्रियामात्र का ही विधान हुआ है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु शेषशेषिलक्षणस्योभयपदार्थस्य विधाने वाक्यभेदः स्यादेव। न च स इष्ट इति वाच्यम्। यत्र वाक्यभेदस्तत्राष्टदोषप्रसङ्गात्। तथा हि—'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वे'त्यत्र। तत्र च प्रथमप्रयोगे व्रीह्यनुष्ठाने यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वरूपस्य परित्यागः। स्वार्थाननुष्ठापकत्वरूपस्याप्रामाण्यस्य च स्वीकारो**

---

१. 'कुन्ताः प्रविशन्तिः' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेयं लक्षणा। (काव्यप्रकाश–द्वितीय उल्लास-१०)

भवति। ततो द्वितीयप्रयोगे यवानुष्ठाने तु पूर्वपरित्यक्तस्य यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वीकारः स्वीकृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति यवशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्ति। तथा प्रथमप्रयोगे यवानुष्ठाने व्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणस्य परित्यागः स्वार्थाननुष्ठापकत्वस्वरूपस्य चाप्रामाण्यस्य स्वीकारः। ततो द्वितीयप्रयोगे व्रीह्यनुष्ठाने तु व्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य पूर्वं परित्यक्तस्य स्वीकारः स्वीकृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति व्रीहिशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्तीत्यष्टदोषदुष्टो विकल्पो यथा व्रीहियववाक्ये प्रसिद्धस्तथाऽत्रापि स्यात्।

न च तद्वदत्रापीष्ट एवेति वाच्यम्। तत्र व्रीहियवयोः पुरोडाशरूपैककार्यकारित्वे विकल्पस्येष्टत्वाद् गत्यन्तराभावाच्च। प्रकृते तु गुणविधिमात्रस्वीकारेणाप्युपपत्ते नोभयविधिः साधुरित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। यद्वा—ननु यागेनेष्टं भावयेत्सोमेन च यागं भावयेदित्यावृत्त्योभयविधावावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः स्यात्। तदा तु युगपत्तन्त्रेण यागेनेष्टं भावयेत्सोमेन यागं भावयेदित्युभयविधानं तदा तु विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। एकवाक्यस्य प्रत्येकमुभयपदार्थे व्यापारभेदेनोभयविधायकत्वे वाक्यभेदो भवति तथाऽत्रास्वीकारादित्यर्थः। ननु विशेषस्योभयत्वे तद्विधायकवाक्यस्य व्यापारभेदेनैव तद्विधायकत्वं सम्भवति नान्यथेति शङ्कते—किन्त्विति। विशिष्टस्यैकरूपत्वे विधेयस्योभयत्वासिद्धेर्न व्यापारभेदेन तद्विधानं ततश्च न वाक्यभेदप्रसङ्ग इति परिहरति—विशिष्टस्येति। विशिष्टविधौ विशेषणविधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथगविधेयत्वादिति भावः।

अर्थबोधिनी—'सोमेन यजेत' इस विधिवाक्य के द्वारा सोमविशिष्ट याग का विधान है। किसी भी व्यक्ति को आपाततः यह प्रतीत हो सकता है कि यहाँ 'वाक्यभेद' नामक दोष है; किन्तु वस्तुतः यहाँ वाक्यभेद है ही नहीं।

वाक्यभेद ऐसे स्थानों पर हुआ माना जाता है, जहाँ एक ही वाक्य से दो विधान माने जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि **सोमेन यजेत** इस वाक्य का अर्थ **सोमेन यागं भावयेत्** और **यागेन इष्टं भावयेत्** इन दो वाक्यों के द्वारा लिया जाता तो यहाँ पर वाक्यभेद—एक ही वाक्य का दो वाक्यों में टूट जाना—होता।

प्रकृत स्थल में वाक्यभेद है ही नहीं। वस्तुतः यहाँ दो वस्तुओं का विधान है ही नहीं। यहाँ विधान केवल याग का है—**सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्**। हाँ 'याग कैसा है' इसका स्पष्टीकरण 'सोमवता' पद द्वारा किया गया है। 'सोमवता' पद याग का विशेषण है। ध्यान रहे, यहाँ विधान सोम का नहीं है, 'सोमवत्' अर्थात् 'सोम वाले' का है अर्थात् याग का है। जैसे **राजपुरुषमानय** वाक्य में उल्लिखित **राजपुरुषम्** पद से 'पुरुष' का आनयन होता है, राजा का नहीं; इसी प्रकार याग के विशेषणभूत 'सोमवता'-गत 'सोम' पद गौण

होने से विहित नहीं माना जा सकता। फिर दो विधान ही कहाँ हुए? विधान तो हुआ केवल याग का ही। यद्यपि इस विधिवाक्य से याग एवं सोम—दोनों ही विहित भले ही हो पायें; परन्तु दोनों का विधान मिलित रूप में एक ही है, इसलिए दो विधायक वाक्य नहीं बनाने पड़ते। अतएव यहाँ वाक्य-भेद है ही नहीं। जब दो पदार्थों का अलग-अलग विधान ही नहीं तब वाक्यभेद हो ही कैसे सकता है।

प्रसङ्ग—सोमेन यजेत को गुणविधि क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न को उठाकर उसका उत्तर दिया जा रहा है—

१७. गुणविधित्वशङ्कानिराकरणम्

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति विधिप्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुण-विधानमेवास्तु 'सोमेन यागं भावयेत्' इति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासम्भवात्।

अर्थ—यह भी कहना ठीक नहीं है कि—**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस विधि से विहित याग को उद्देश्य करके केवल सोम-रूप गुण का विधान मान लिया जाय, तब 'सोमेन यजेत' का अर्थ **सोमेन यागं भावयेत्** होगा और 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा मानने से क्या लाभ? **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** अधिकारविधि है। यह उत्पत्तिविधि हो ही नहीं सकती, अतएव इससे याग का विधान ही नहीं माना जा सकता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु 'सोमेन यजेते'त्यस्य गुणविधित्वमेवास्तु सोमयागस्वरूपविधिस्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्ययमेव भवतु। ततश्च ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना प्राप्ते कर्मणि गुणविधायकत्वेनापि सोमवाक्यस्योपपत्तौ न मत्वर्थलक्षणा पददोषरूपत्वेनान्याय्या स्वीकर्तव्येत्याशङ्कते**—न च ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना। **न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह**—तस्याधिकारविधित्वेनेति। **तर्हि भवतु तस्याधिकारविधित्वमुत्पत्तिविधित्वमपि कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह**—उत्पत्तिविधित्वासम्भवादिति। **कर्मस्वरूपमात्रबोधकस्यैव विधेरुत्पत्तिविधित्वं व्यवह्रियते, उत्पत्तिविधिविहितस्य च कर्मणः फलविशेषेण सह सम्बन्धमात्रमधिकारविधिः करोति। यथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवती'त्येतदुत्पत्तिविधिविहितस्य कर्मणः स्वर्गरूपफलविशेषेण सम्बन्धो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यनेन विधिना क्रियत इति तस्याधिकारविधित्वमेव नोत्पत्तिविधित्वम्; तद्वदस्याप्यधिकारविधेर्नोत्पत्तिविधित्वं सम्भवतीति भावः।**

अर्थबोधिनी—सोमेन यजेत विधि का **सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्** अर्थ लेकर 'सोमेन' पद के स्थान पर 'सोमवता' पद का प्रयोग किया गया है। 'सोमवता' की निष्पत्ति 'सोम' शब्द के आगे 'मतुप्' प्रत्यय जोड़ने से हुई है। इस प्रकार 'सोमेन' पद का अर्थ 'सोमवता' हुआ; किन्तु किसी भी पद का अपने से भिन्न अर्थ नहीं हो सकता, फिर सोमेन

का अर्थ 'सोमवता' कैसे होगा? 'सोम' का अर्थ सोम—'एक प्रकार का द्रव्य' होता है और 'सोमवत्' का अर्थ सोम वाला (याग) होता है। ग्रन्थकार ने यहाँ लक्षणा के द्वारा 'सोम' का अर्थ 'सोमवान्' लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ लक्षणा का उपयोग 'वाला' अर्थ में अर्थात् 'मतुप्' अर्थ में हुआ है।

'मतुप्' अर्थ का बोध कराने वाली लक्षणा का प्रयोग करके 'सोमेन' का अर्थ 'सोमवता' लेना भी एक प्रकार का दोष ही है। इसे 'पददोष' कहा जाता है, क्योंकि यह दोष पद में रहता है। अतएव यदि कोई ऐसा उपाय निकल आये कि 'सोम' के स्थान पर 'सोमवत्' का प्रयोग न करना पड़े तो 'पददोष' की गलती से बचा जा सकता है।

पूर्वपक्षी एक उपाय बतलाता है। वह **सोमेन यजेत** को गुणविधि मानने के पक्ष में है। उसके अनुसार **दध्ना जुहोति** एवं **सोमेन यजेत** दोनों एक ही जैसी विधियाँ हैं। जिस प्रकार **अग्निहोत्रं जुहुयात्** विधि के **जुहुयात्** अंश द्वारा याग (क्रिया) का विधान मान लिया गया था और **दध्ना जुहोति** के द्वारा केवल 'दधि' (गुण) विहित माना गया था, उसी प्रकार **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस विधि से याग (क्रिया) का विधान मानकर **सोमेन यजेत** विधि से सोम-जैसे गुण का विधान मान लिया जाय। इस प्रकार सोम पद में मत्वर्थलक्षणा मानने पर जो 'पददोष' होता था, वह नहीं होगा।

पूर्वपक्षी की इस युक्ति को सिद्धान्ती उचित नहीं मानता। कारण, **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** यह अधिकारविधि है, अतएव इससे याग जैसी क्रिया का विधान नहीं माना जा सकता। अधिकारविधि अधिकार का निरूपण करती है, याग का विधान नहीं करती। एक विधि एक ही पदार्थ का विधान करेगी या बोध करायेगी, एक से अधिक का नहीं। अधिकारविधि याग सम्पन्न करने वाले व्यक्ति की फलोपभोगविषयक योग्यता का बोध कराती है[1] अतएव इसे केवल याग का विधान करने वाली विधि (उत्पत्तिविधि[2]) नहीं मान सकते। इसीलिये **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस विधि से याग (क्रिया) का विधान न हो सकने के कारण **सोमेन यजेत** को केवल गुणविधि नहीं मान सकते।

प्रसङ्ग—अब 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इसी एक विधि को 'उत्पत्तिविधि' और 'अधिकारविधि' दोनों ही मान लिये जाने का खण्डन किया जा रहा है—

१८. 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादिविधेरुभयविधित्वशङ्कानिराकरणम्

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकार-विधित्वमस्त्विति चेत्। न, दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वा-श्रयणात्। किं च 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य फलसम्बन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्

१. कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। (विभागसंख्या-५८

२. तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। (विभागसंख्या-२

अर्थ—प्रश्न है—**उद्भिदा यजेत पशुकामः** की भाँति **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** को भी उत्पत्ति एवं अधिकारविधि—दोनों क्यों न मान लिया जाय? उत्तर है—नहीं। क्योंकि दृष्टान्तभूत **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इस विधिस्थल में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्पत्तिवाक्य नहीं मिलता; इसलिये इसे अगत्या उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों मान लिया गया है; किन्तु **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस वाक्य को उत्पत्ति-विधि एवं अधिकारविधि—दोनों मानने पर इसी एक वाक्य से याग एवं यागफल—स्वर्ग दोनों के दो विधान समझने होंगे। इस प्रकार दो विधानों के बोधक दो वाक्यों के हो जाने पर स्पष्टतः वाक्य-भेद हो जायेगा। इसलिये अच्छा यही होगा कि 'सोम' पद में लक्षणा मानकर पूर्वोक्तानुसार सोमगुणविशिष्ट याग का विधान ही माना जाय।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्य विधिवाक्यस्य यथोद्भिन्नामककर्मरूपबोधकत्वरूपोत्पत्तिविधित्वेऽपि तस्य कर्मणः पशुरूपफलसम्बन्धबोधकत्वरूपाधिकारविधित्वमपि भवति तद्वदस्याप्युभयविधित्वमविरुद्धमित्याशङ्कते—नन्वित्यादिना। दृष्टान्ते तु कर्मस्वरूपबोधकोत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनैकस्य वाक्यस्योभय-विधित्वमाश्रितं कर्मणः स्वरूपबोधनमन्तरेण तस्य फलसम्बन्धबोधनानुपपत्त्या तस्यैव वाक्यस्योभयविधित्वाश्रयणादिति परिहरति—दृष्टान्त इत्यादिना। ननु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यस्य वाक्यस्योभयविधित्वस्वीकारे 'सोमेन यजेते'त्यस्य मत्वर्थलक्षणा-मन्तरेणैव गुणमात्रविधायकत्वनिर्वाहे को दोषोऽन्यथा मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गादित्याशङ्क्य परिहरति—किञ्चेत्यादिना। उभयविधित्व इति। सोमयागस्योत्पत्तिविधित्वेऽधिकारविधित्वं चेत्यर्थः। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यनेनैव सोमयागस्वरूपं तस्य स्वर्गरूपफल-सम्बन्धश्च बोधनीय इत्यर्थः। सुदृढो वाक्यभेद इति। गौरवलक्षणो वाक्यभेदो दृढतरो भवेदित्यर्थः। तथा चोक्तम्—**

श्रोतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्।
एकोक्त्यसितानां तु नार्थाक्षेपो विरुध्यत।। इति।

ननु सोमेन यजेतेत्यत्रापि गुणस्य कर्मस्वरूपस्य च विधाने वाक्यभेदस्य सुदृढत्वादिति चेत्। न। विशिष्टविधौ विशेषणविधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथगविधेय-त्वादिति निरस्तत्वात्। न च तस्योत्पत्तिविधित्वे वाक्यभेदस्याभावेऽपि लक्षणादोषस्तु दुर्वार इति वाच्यम्। तस्या वाक्यभेदादल्पदोषत्वात्, लक्षणायाः पददोषत्वाद्वाक्यभेदस्य तु वाक्यदोषत्वात्, पदवाक्यदोषयोर्मध्ये पददोषस्यैव कल्पनीयत्वाद् 'गुणे त्वन्याय्य-कल्पनेति' न्यायात्। तस्मात् 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यस्योभयविधित्वे वाक्यभेद-प्रसङ्गाद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणां स्वीकृत्य गुणविशिष्टकर्मस्वरूपविधानमेवेत्याशये-नोपसंहरति—तद्वरमित्यादिना।

अर्थबोधिनी—सिद्धान्ती के मत से किसी एक ही विधि को उत्पत्तिविधि एवं अधिकारविधि—दोनों नहीं माना जा सकता; परन्तु पूर्वपक्षी **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** को उत्पत्ति एवं अधिकारविधि—दोनों ही मानना चाहता है। पूर्वपक्षी की युक्ति है कि स्वयं मीमांसक एक ही विधि को उत्पत्ति एवं अधिकारविधि मानते हुये पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये **उद्भिदा यजेत पशुकामः** एक ऐसी ही विधि है, जिसे मीमांसक उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों मानते हैं। उक्त विधि में 'उद्भिद्' शब्द यागवाची है[१], अतएव याग का विधान करने के कारण उसे उत्पत्तिविधि माना जाता है और 'पशुकामः' पद के प्रयोग होने के कारण यही विधि अधिकारविधि हो जाती है; क्योंकि इस पद से कर्मफलभोक्तृत्व का प्रख्यापन होता है।[२] इस प्रकार जब **उद्भिदा यजेत पशुकामः** वाक्य उत्पत्ति एवं अधिकारविधि—दोनों हो सकता है तो फिर **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस विधि को भी उत्पत्ति एवं अधिकारविधि—दोनों क्यों न मान लिया जाय?

सिद्धान्ती इस प्रस्ताव को नहीं स्वीकार करता। वह इसलिये कि **उद्भिदा यजेत पशुकामः** के प्रसङ्ग में हमें कोई दूसरी उत्पत्तिविधि प्राप्त नहीं होती, जिससे क्रिया का विधान हो सके; इसलिये और कोई उपाय न होने के कारण अधिकारविधि होने पर भी इसे उत्पत्तिविधि मान लिया जाता है। किन्तु **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस विधि को उत्पत्ति एवं अधिकारविधि—दोनों मानने पर इस एक विधि से दो विधान मान्य हो पड़ेंगे। ऐसा मानने पर नियमतः वाक्यभेद हो पड़ेगा अर्थात् दो विधानों के लिये दो भिन्न-भिन्न वाक्य मानने होंगे। वे दोनों वाक्य इस प्रकार होंगे—**ज्योतिष्टोमेन यागं भावयेत्** एवं **यागेन स्वर्गं भावयेत्**। इस प्रकार **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** इस प्रकार एक ही विधिवाक्य के दो वाक्य हो जाने पर यहाँ दोष न हो—यह विचार कर उभयविधित्व को त्यागकर विशिष्टिविधि को स्वीकार कर लिया गया है। विशिष्ट विधि को स्वीकार कर लेने पर वाक्यभेद नहीं होगा। हाँ, मत्वर्थलक्षणा-रूप पददोष अवश्य होगा; किन्तु वाक्यभेद-रूप वाक्यदोष लक्षणारूप पददोष से बड़ा दोष है, अतएव बड़े दोष से बचने के लिये छोटे दोष को स्वीकार कर लेना ही उचित है। इसलिए **सोमेन यजेत** में विशिष्ट विधि ही मानना उचित होगा।[३]

---

१. तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। (विभागसंख्या-६१)

२. कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः.........। तच्च फलास्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः; अधिकारश्च स एव यद् विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। (विभागसंख्या-५८-५९)

३. न च तस्योत्पत्तिविधित्वे वाक्यभेदस्याभावेऽपि लक्षणादोषस्तु दुर्वार इति वाच्यम्। तस्य वाक्यभेदादल्पदोषत्वात् लक्षणायाः पददोषत्वाद् वाक्यभेदस्य तु वाक्यदोषत्वात् पदवाक्यदोषयोर्मध्ये पददोषस्यैव कल्पनीयत्वाद् गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। तस्माज्ज्योति-

प्रसङ्ग—विधि के लक्षण तथा गुणविधि एवं विशिष्टविधि के स्वरूप का निरूपण कर चुकने के बाद अब ग्रन्थकार विधि के प्रभेदों का उल्लेख करते हैं—

१९. विधिश्चतुर्विधः

विधिश्चतुर्विधः—उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोगविधिश्चेति।

अर्थ—विधि के चार प्रभेद हैं—१. उत्पत्तिविधि, २. विनियोगविधि, ३. अधिकार-विधि और ४. प्रयोगविधि।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**विधिं विभजते**—विधिश्चतुर्विध इति।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने यहाँ विधि के चार प्रभेद बतलाये हैं। ये प्रभेद हैं—१. उत्पत्तिविधि[1], २. विनियोगविधि[2], ३. अधिकारविधि[3] एवं ४. प्रयोगविधि[4]। इन विधियों का विशेष परिचय प्रासङ्गिक स्थलों पर दिया जायेगा। यहाँ संक्षेप में इनके स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

उत्पत्तिविधि की विशेषता यह है कि यह सदैव किंसी प्रधान क्रिया का विधान करती है, अतएव इसे प्रधानविधि या अपूर्वविधि[5] भी कहा जाता है, जैसे **अग्निहोत्रं जुहोति** यह विधि उत्पतिविधि है; क्योंकि यहाँ पर 'अग्निहोत्र' नामक मुख्य क्रिया का विधान किया गया है; अन्य छोटी-मोटी क्रियायें इसी मुख्य याग का अङ्ग बनेंगी, जिनके विधायक वाक्य उत्पत्तिविधि से भिन्न होंगे।

विनियोगविधि अङ्गी एवं अङ्ग के बीच होने वाले अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का बोध कराती है। गुण के अन्तर्गत वे प्रोक्षण आदि क्रियायें, दधि आदि द्रव्य, एकत्व आदि संख्या एवं आरुण्य आदि अमूर्त पदार्थ आते हैं, जो प्रधान क्रिया के अनुष्ठान में अङ्ग (साधन या सहायक) बनते हैं। उदाहरण के लिए **दध्ना जुहोति** यह एक गुणविधि है। यहाँ दधि प्रधानभूत क्रिया—'अग्निहोत्र' नामक याग—का अङ्ग है।

अधिकारविधि के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि अमुक योग्यताओं या अर्हताओं से युक्त व्यक्ति याग के फल को प्राप्त करता है। संक्षेप में यह समझना चाहिये कि

ष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यस्योभयविधित्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाद् वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणां स्वीकृत्य गुणविशिष्टकर्मस्वरूपविधानमेवेत्याशयेनोपसंहरति—वरमित्यादिना। (कौमुदी)

१. देखिये—विभागसंख्या-२०
२. देखिये—विभागसंख्या-२२
३. देखिये—विभागसंख्या-५८ एवं आगे
४. देखिये—विभागसंख्या-५०
५. देखिये—विभागसंख्या-६२

अधिकारविधि प्रासङ्गिक याग का अनुष्ठाता कौन व्यक्ति हो सकता है, उसमें कौन-कौन से गुण या विशेषतायें होनी चाहिये, इस विषय का निर्णय करती है। उदाहरण के लिए **राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत** यह अधिकारविधि है। इस विधि के द्वारा यह प्रख्यापन होता है कि जो व्यक्ति स्वाराज्य को प्राप्त करने का इच्छुक हो और साथ ही साथ जो व्यक्ति राजा भी हो अर्थात् वर्ण से क्षत्रिय हो, वही राजसूय करने का अधिकारी है अर्थात् राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान का फल उसी को मिलेगा, जो स्वाराज्य का इच्छुक होते होते हुए क्षत्रिय (राजा) भी हो।

प्रयोगविधि क्रम का विधान करती है। अनेक क्रियाओं से यज्ञ सम्पन्न होता है। सब क्रियायें एक साथ नहीं हो सकतीं, अपितु एक-एक करके ही उनका अनुष्ठान हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि कौन क्रिया पहिले होगी और कौन बाद में। **वेदं कृत्वा वेदिं करोति** प्रयोगविधि का एक उदाहरण है। यह विधि निर्णय करती है कि पहिले कुशमुष्टि (वेद) को बनाया जायेगा, तत्पश्चात् वेदी को।

ग्रन्थकार की दृष्टि में विधियों का यही मुख्य विभाजन है। हाँ, दृष्टिभेद से विधियों के उक्त प्रकार के वर्गीकरण के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के वर्गीकरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। इन दो वर्गीकरणों में एक वर्गीकरण इस चतुर्विधात्मक वर्गीकरण के पूर्व हो चुका है। इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती हैं[1]—

१. 'विधि' अर्थात् प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि। इसका उदाहरण है—**अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः**।

२. गुणविधि। इसका उदाहरण है—**दध्ना जुहोति**। विधि के चतुर्विधात्मक वर्गीकरण में इस विधि को विनियोगविधि कहा गया है।

३. गुणविशिष्ट विधि। इसका उदाहरण है—**सोमेन यजेत**। (एक का विधान)।

इसके अतिरिक्त अवशिष्ट एक वर्गीकरण मन्त्रमीमांसा के अन्तर्गत प्रसङ्गवश आया है[2]। इसके अन्तर्गत विधियों के तीन प्रभेद पाये जाते हैं—

१. अपूर्वविधि। वस्तुतः यह उत्पत्तिविधि ही है। इसका उदाहरण है—**यजेत स्वर्गकामः**।

२. नियमविधि। इसका उदाहरण है—**व्रीहीनवहन्ति**। यह विधि दृष्टिकोण-भेद से विनियोगविधि ही है।

३. परिसंख्याविधि। इसका उदाहरण है—**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या**। इसके स्वरूप का विवेचन परिसंख्या विधि के विवेचन में ही देखना चाहिये।[3]

---

१. देखिये—विभागसंख्या-१३, १४ आदि।
२. देखिये—विभागसंख्या-६२
३. देखिये—विभागसंख्या-६३-६५

प्रसङ्ग—उक्त चारों विधियों में से पहिली—उत्पत्तिविधि का निरूपण किया जा रहा है।

२०. उत्पत्तिविधेर्लक्षणम्

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः 'अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्' इति।

अर्थ—चारो विधियों में से जो विधि केवल कर्म के स्वरूप का बोध कराती है, वह विधि उत्पत्तिविधि कही जाती है। जैसे **अग्निहोत्रं जुहोति** यह वाक्य उत्पत्तिविधि है। इस विधि में कर्म का करणरूप में अन्वय होता है। इस प्रकार इसका बोधगम्य मीमांसासम्मत अर्थ होता है—**अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत्** अर्थात् अग्निहोत्र नामक होम के द्वारा इष्ट का सम्पादन करे।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तत्रोत्पत्तिविधिं लक्षयति—तत्रेत्यादिना। तत्र चतुर्णां विधीनां मध्य इत्यर्थः। कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह सम्बन्धबोधकत्वं वारयति—'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेव, उत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूपबोधकविध्यन्तराभावेनार्थिकमेवेति न दोषः।**

तत्रोदाहरणमाह—यथाग्निहोत्रं जुहोतीति। एतदुपलक्षणं 'सोमेन यजेत', 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनं', 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'त्यादीनाम्। तथा च तत्र द्वितीयाध्याये कर्मोत्पत्तिविधीनामेव भेदो निरूपितः।

अत्राप्युत्पत्तिविधिलक्षणप्रदर्शनेनैव तेषां भेदोऽपि ध्वनित एव शब्दान्तरादिभिर्हेतुभिः, अस्माभिस्तु पूर्वमेव तेषां भेदः संक्षेपेण निरूपित इत्युपरम्यते। ननु चात्रोत्पत्तिविधौ कर्मणः साध्यत्वेनान्वयो भवतु 'अग्निहोत्रं होमं कुर्यादिति, व्रीहीन्प्रोक्षतीतिवदग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्रापि द्वितीयायाः साध्यत्ववाचकत्वात्।

तथा च साध्यस्य साध्यत्वस्वभावादेव साध्यान्तरसाधनत्वासम्भवेन साध्यन्तरान्वयायोगादधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धानुपपत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—अत्र च विधावित्यादिना।

अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किं तदिष्टमिति वीक्षायाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः, स्वसाधननिष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः। ननूत्पत्तिविधाविष्टबोधकपदस्याभावादग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति कथं वाक्यार्थः स्यादिति चेत्, न। विधेरेवेष्टाक्षेपकत्वात्। अन्यथा तस्यापुरुषार्थभूते कर्मणि पुरुषप्रवर्तकत्वानुपपत्तिः स्यात्।

अर्थबोधिनी—जैसा कि पूर्व में ही निर्देश दिया जा चुका है, चारो विधियों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। उत्पत्तिविधि भी अन्य तीनों में विलक्षण है। इसकी विशेषता

यह है कि जो वेदवाक्य केवल प्रधान क्रिया का विधान करता है, उत्पत्तिविधि होता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने इसका लक्षण **कर्मस्वरूपमात्रबोधकः** किया है। 'याग' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि उत्पत्तिविधि के द्वारा केवल क्रिया—मुख्य क्रिया का ही विधान होता है; जबकि अन्य विधियों में मुख्य क्रिया से सम्बद्ध पदार्थों का विधान होता है। उत्पत्तिविधि के अतिरिक्त तीन विधियों में जिन पदार्थों का विधान होता है, वे क्रियाओं से सम्बद्ध होते हैं, अतएव वे विधियाँ भी बिना क्रिया के उल्लेख किये कृतार्थ नहीं हो सकतीं। इसीलिए उन्हें भी क्रिया का उल्लेख करना पड़ता है। उदाहरण के लिये **दध्ना जुहोति** यह एक विनियोगविधि है। यहाँ होम के साथ होने वाले दधि के सम्बन्ध का विधान माना जाता है। यद्यपि होम का विधान इस विधि के द्वारा नहीं होता, तथापि 'जुहोति' पद से होम-रूप प्रधान क्रिया का उल्लेख हो जाता है। फिर भी इसे उत्पत्तिविधि नहीं मान सकते, क्योंकि उत्पत्तिविधि में केवल मुख्य क्रिया का विधान होता है और यहां गुणविधि-स्थल में पूर्वविहित क्रिया का तो अनुवाद ही होता है, विधान केवल गुण का होता है। इसी प्रकार अन्य विधियों के विषय में भी समझना चाहिए। यही कारण है कि **कर्मस्वरूपमात्रबोधकः** में 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

विभाग १८ के अन्तर्गत मीमांसक **उद्भिदा यजेत पशुकामः** विधि को अधिकार-विधि के साथ-साथ उत्पत्तिविधि भी मानता है; जब कि यह विधि 'पशुरूप फल' की भी बोधिका है, न कि 'कर्मस्वरूपमात्र' की; फिर इसे उत्पत्तिविधि क्यों माना जाय? इस आशङ्का का निवारण मीमांसक इस प्रकार करता है—**उद्भिदा यजेत पशुकामः** यह मुख्यतः अधिकारविधि है; किन्तु प्रकृत स्थल में दूसरा कोई उत्पत्तिवाक्य विद्यमान नहीं था, इसलिये इसे गौणरूप में उत्पत्तिविधि मान लिया गया है।[2]

अग्निहोत्रं जुहोति यह उत्पत्तिविधि है। विधि होने के नाते इसमें भावना विद्यमान है। भावना के साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता—ये तीन अंश होते हैं। उत्पत्तिवाक्य में कर्म-वाचक 'अग्निहोत्रम्' पद द्वितीयान्त है।[3] द्वितीयान्त 'अग्निहोत्रं' पद द्वारा ज्ञाप्य 'अग्निहोत्रम्'

---

१. कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह सम्बन्धबोधकत्वं वारयति। (कौमुदी)

२. 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेवोत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूप-बोधकविध्यन्तराभावेनार्थिकमेवेति न दोषः। (कौमुदी)

तथा

दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। (विभागसंख्या-१८)

३. 'अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः' वाक्य के अन्तर्गत 'कर्मणः' पद में प्रयुक्त 'कर्म' शब्द का अर्थ 'कर्म कारक' नहीं; अपितु 'क्रिया' अर्थात् याग आदि क्रिया है। कारण, उत्पत्तिविधि का लक्षण करते हुये ग्रन्थकार ने यागादि क्रिया के लिये ही 'कर्मशब्द का प्रयोग किया है—**कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः** अतएव 'कर्मणः'-गत 'कर्म'

क्रिया प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म के अनुष्ठान से ही स्वर्गादि मुख्य फल (इष्ट) की प्राप्ति होती मानी जाती है। आयाससाध्य अग्निहोत्रादि क्रियायें अनुष्ठानमात्रप्रयोजक नहीं हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'अग्निहोत्र' क्रिया स्वर्गादि (इष्ट) फल का साधक है; अतएव प्रकृत स्थल में क्रियावाचक 'अग्निहोत्र' पद द्वितीयान्त न होकर तृतीयान्त होना चाहिए अर्थात् 'अग्निहोत्र' पद अन्य कारक के रूप में प्रयुक्त हुआ न समझकर करण कारक अर्थ में प्रयुक्त समझा जाना चाहिये। तब **अग्निहोत्रं जुहोति** का रूप होगा— **अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्**। यहाँ 'भावयेत्' पद स्पष्टतः भावना की सत्ता का सङ्केत कर रहा है तथा 'अग्निहोत्रहोमेन' एवं 'इष्टम्' क्रमशः साधन एवं साध्य का। यद्यपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में 'इष्ट' पद का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि यतः प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है, इसलिये अग्निहोत्र याग का भी कुछ न कुछ प्रयोजन होगा। इस प्रकार का प्रयोजन अधिकारविधि द्वारा निर्दिष्ट हुआ करता है। प्रकृत स्थल की अधिकारविधि **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** है। अतएव अग्निहोत्र-रूप होम का फल स्वर्ग है। यही स्वर्ग कर्ता को इष्ट होता है। अतएव **अग्निहोत्रं जुहोति** का अर्थ करते समय 'इष्ट' पद का अध्याहार किया गया है। तब प्रकृत उत्पत्तिविधि का उक्त **अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्** अर्थ सम्पन्न हुआ।[1]

प्रसङ्ग—अब 'अग्निहोत्रं जुहोति' के उत्पत्तिविधि होने में आक्षेप उपस्थित करके उसका निवरण किया जा रहा है—

२१. यागस्य द्वे रूपे

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति कथमुत्पत्तिविधिः। अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न, रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोति' इत्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

अर्थ—पूर्वपक्षी का प्रश्न यह है कि याग के दो रूप होते हैं—१. द्रव्य एवं २. देवता; किन्तु **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य में द्रव्य एवं देवता में से किसी एक भी रूप

वस्तुतः 'कर्मस्वरूपमात्रबोधक'-गत कर्म की ओर ही सङ्केत कर रहा है, अतएव उससे अभिन्न है।

लौगाक्षिभास्कर ने विनियोगविधि-प्रकरण संख्या-२२ में क्रिया के साध्यरूप में प्रयुक्त करने का उल्लेख किया है, वहाँ 'कर्मणः' पद के स्थान पर स्पष्टतः 'धात्वर्थस्य' पद का प्रयोग किया है। धातु का अर्थ 'क्रिया' ही होता है—**गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः।**

१. अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किन्तदिष्टमिति वीक्षायामग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः स्वसाधननिष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः। (कौमुदी)

का श्रवण नहीं है, फिर इसे उत्पत्तिविधि क्यों माना जाय? अग्निहोत्र शब्द में द्रव्य अथवा देवता का श्रवण नहीं है, क्योंकि 'तत्प्रख्यन्याय'[१] से 'अग्निहोत्र' शब्द याग का नाममात्र है।

सिद्धान्ती का उत्तर है कि नहीं; क्योंकि यद्यपि **अग्निहोत्रं जुहोति** में रूप का श्रवण नहीं है, फिर भी यह वाक्य उत्पत्तिविधि हो सकता है। अन्यथा, यदि रूप के श्रवण से ही कोई वाक्य उत्पत्तिविधि हो जाता तो **दध्ना जुहोति** भी उत्पत्तिविधि हो जाता; क्योंकि इसमें 'दधि' जैसे द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होता है और **दध्ना जुहोति** वाक्य को उत्पत्तिविधि मान लेने पर **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु गुरुमते विधिः स्वसिद्ध्यर्थमेव नित्यादिषु कर्मसु पुरुषं प्रवर्तयति। तथा च काम्यकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वेऽपि न नित्यादिकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वं सम्भवति। न च लिङादिशब्दव्यापारस्य विधेर्नित्यत्वेन कथं तस्य स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमिति वाच्यम्। गुरुमतापरिज्ञानात्। तथा हि—विशिशब्दस्तावल्लिङादिशब्दवचनस्तदर्थवचनश्च भवति। तत्र भट्टमते तदर्थस्तु शब्दव्यापारविशेषो भावनैव। गुरुमते तु नियोगाख्यमपूर्वमेव लिङादिशब्दार्थभूतो विधिः। तस्य च साध्यस्वभावत्वेन स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमुपपद्यते। यथा च लोके लिङः कार्यव्युत्पत्त्यनुरोधेनाग्निहोत्रं जुहुयादित्यादावपि लिङा नियोग एव प्रतीयते। नियोगश्चाधिकारिविषयादिसापेक्ष एव। तत्र कस्य नियोग इत्यधिकार्याकाङ्क्षायां जीवनादिमत इति जीवनादिविशिष्टोऽधिकारित्वेन सम्बध्यते। कुत्र नियोग इति विषयाकाङ्क्षायां तु होमादाविति होमादिर्विषयत्वेन सम्बध्यते। होमादिविषयश्च नियोगः कृतिसाध्यतयैव प्रतीयते। तस्य च साक्षात्कृतिसाध्यत्वासम्भवेन स्वस्य कृतिसाध्यत्वनिर्वाहार्थविषयतया सम्बद्धस्य होमादेः करणत्वमप्याक्षिपति। तदुक्तं शालिकायां—**

कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो मतः।
कार्येऽसङ्घटिताकारे करणत्वेन सम्मतः।। इति।

तस्मात् काम्यकर्मोत्पत्तिविधेः 'विश्वजिता यजेते'त्यादिविधेश्च स्वप्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या सामान्यतः प्रयोजनविशेषाक्षेपकत्वेऽपि नित्यकर्मोत्पत्तिविधेः स्वसिद्धेरेव प्रयोजनत्वान्न प्रयोजनान्तराक्षेपकत्वमिति चेत्, न। नियोगाख्यविधेः स्वरूपेणाप्रयोजनत्वेन स्वसिद्धये पुरुषप्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। अन्यथा 'विश्वजिता यजेते'त्यादावपि विधेः स्वसिद्ध्यर्थमेव पुरुषप्रवर्तकत्वापत्तेः, तच्चानिष्टम्, 'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषात्' इति न्यायविरोधात्। तस्मान्नित्यादिष्वपि कर्मसु स्वर्गः, 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिशास्त्रानुरोधेन पापक्षयादिकं वा प्रयोजनं स्वीकर्तव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसरामः। तस्मात् साधूक्तमुत्पत्तिविधौ कर्मणः करणत्वेनान्वय इति।

---

१. देखिये—विभागसंख्या-७१

ननु 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यस्य नोत्पत्तिविधित्वं द्रव्यदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्यात्राश्रवणादित्याशङ्कते—नन्विति। ननु 'अग्नये होत्रमत्रे'त्यग्निहोत्रशब्देनाग्निदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्य श्रवणात्कथं रूपाश्रवणमित्याशङ्क्याह—अग्निहोत्रशब्दस्येति। अग्निहोत्रशब्दस्य 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्र'मिति तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वान्न कस्यापि कर्मरूपस्य श्रवणमत्रेत्यर्थः। यद्यप्यत्र कर्मणो रूपं न श्रूयते तथापि विध्यन्यथानुपपत्त्या तत्कल्प्यते, तच्च सामान्यतः कल्प्यमानं द्रव्यदेवतात्मकं कर्मणो रूपं विशेषाकाङ्क्षया गुणविधिमन्त्रवर्णाभ्यां विशेषेण चावगम्यमानमत्र सम्भवति। ततश्चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र द्रव्यदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्य श्रवणाभावेऽप्यस्य होमरूपकर्मस्वरूपमात्रबोधकत्वरूपमुत्पत्तिविधित्वं सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—नेति। तत्र निरुक्ताशयं हेतुमाह—रूपाश्रवण इति। विपक्षे बाधकमाह—अन्यथेति। अग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य रूपाश्रवणमात्रेणोत्पत्तिविधित्वानङ्गीकारे 'दध्ना जुहोती'त्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वं स्यात्, अत्र कर्मस्वरूपस्य श्रवणादित्यर्थः। 'दध्ना जुहोती'त्यस्याग्निहोत्रकर्मोत्पत्तिविधित्वे वाक्यान्तरस्यानर्थकत्वमनिष्टमापादयति—तथा चेति। न चाग्निरूपगुणविधित्वेनाप्यस्योपपत्तिरिति वाच्यम्। 'अग्निर्ज्योति'रित्यादिमन्त्रवर्णेनाग्निरूपगुणस्य प्राप्तत्वात्, कर्मनामधेत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। तस्मादनर्थकमिति साधूक्तम्। किञ्च 'दध्ना जुहोती'त्यस्योत्पत्तिविधित्वे 'पयसा जुहोती'त्यस्यापि वैयर्थ्यं कर्मान्तरविधायकत्वं वा स्यात्, होमस्योत्पत्तिशिष्टदध्यवरुद्धत्वेन तत्र पयोरूपगुणविधित्वासम्भवात्। तथा चानेकादृष्टकल्पनापत्तिः। 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यस्य होमोत्पत्तिविधित्वे तु 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'त्यादिवाक्यस्य सर्वस्यापि तत्र खले कपोतन्यायेन युगपद्दध्यादिगुणविधायकत्वेनाप्युपपत्त्या नानेकादृष्टकल्पनाप्रसङ्ग इत्यग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वं न्याय्यमित्यलमतिविस्तरेण।

अर्थबोधिनी—पूर्वपक्षी कहता है कि अग्निहोत्रं जुहोति को उत्पत्तिविधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि उत्पत्तिविधि यागस्वरूप प्रधान कर्म का विधान करती है; परन्तु अग्निहोत्रं जुहोति वाक्य में याग का लक्षण चरितार्थ नहीं होता। मीमांसा के अनुसार याग का लक्षण है—**उद्दिश्य देवतां द्रव्यत्यागो यागोऽभिधीयते**[1] अर्थात् याग उसे कहते हैं, जिसमें देवता को उद्देश्य करके तन्निमित्तक द्रव्य का त्याग किया जाता हो। इस प्रकार द्रव्य एवं देवता—ये दो याग के 'रूप' हुए और इन दो रूपों में से एक भी रूप अग्निहोत्रं जुहोति वाक्य में नहीं पाया जाता। 'अग्निहोत्र' शब्द एक क्रिया का पारिभाषिक नाम है, न कि 'अग्नि' देवता का अथवा क्रिया के आधारभूत अग्निरूप गुण का वाचक। इस विषय का विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के नामधेयप्रकरण[2] में देखा जा सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'अग्निहोत्र' शब्द एक क्रियाविशेष का पारिभाषिक नामधेय

१. 'ऐतरेय ब्राह्मण' पर सायणभाष्य (१-१)।
२. देखिये—विभागसंख्या-७१-७२।

अर्थात् नाम (संज्ञा) है। यह बात तत्प्रख्यन्याय से सिद्ध होती है। यहाँ तत् (वह) शब्द का अर्थ 'गुण' है और 'प्रख्य' शब्द का अर्थ 'प्रख्यापक' या 'बोधक' है। अर्थात् **यदाहवनीये जुहोति** एवं **यदग्ने च प्रजापतये च सायं जुहोति** वाक्यों में क्रमश: 'यज्ञ के आधारभूत अग्नि एवं देवताभूत अग्नि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जिस आधारभूत अग्नि में हवन किया जाता है, उस अग्नि की एवं जिसके लिये द्रव्य-त्याग किया जाता है, उस अग्नि की—इस प्रकार गुणभूत दोनों प्रकार की अग्नियों की प्राप्ति हो जाने के कारण **अग्निहोत्रं जुहोति** के 'अग्निहोत्र' शब्द में आये हुए 'अग्नि' शब्द का अर्थ होमाधाररूप अग्नि या देवतारूप अग्नि नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अग्निहोत्र' शब्द एक विशेष याग का पारिभाषिक नाम होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य में द्रव्य अथवा देवता का श्रवण नहीं होता और द्रव्य एवं देवता के प्रख्यापन किये बिना कोई वाक्य याग-लक्षण के अनुसार 'याग' जैसे कर्म का बोधक नहीं हो सकता। फिर **कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः** के अनुसार **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य उत्पत्तिविधि नहीं हो सका।

सिद्धान्ती—यद्यपि 'द्रव्य' एवं 'देवता' जैसे याग के दो रूपों में से कोई एक भी **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य से साक्षात् नहीं प्राप्त होता है तथापि अर्थापत्ति प्रमाण से द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति होती है। द्रव्य एवं देवता की उपस्थिति के बिना याग सम्पन्न ही नहीं हो सकता। अतएव इन दो रूपों की कल्पना कर लेनी चाहिये।[1] इस प्रकार **अग्निहोत्रं जुहोति** को उत्पत्तिविधि ही मानना उचित होगा। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की विधियों में जहाँ द्रव्य अथवा देवता का श्रवण न हो, वहाँ उनकी कल्पना कर लेनी चाहिये। रूपों का श्रवण आवश्यक नहीं है। ऐसा नहीं माना जा सकता कि जिस विधि में द्रव्य या देवता का श्रवण न हो, वह उत्पत्तिविधि ही न हो सके।

दूसरे, यह आवश्यक नहीं कि जिस विधि में रूप का श्रवण हो, वही उत्पत्तिविधि होती हो, अन्यथा **दध्ना जुहोति** को भी उत्पत्तिविधि मानना होगा; क्योंकि यहाँ 'दधि' जैसे द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होता है और यदि **दध्ना जुहोति** को उत्पत्तिविधि मान लेंगे तो **अग्निहोत्रं जुहोति** वाक्य व्यर्थ हो जायेगा; इस वाक्य का कुछ भी प्रयोजन नहीं रह पायेगा, जबकि मीमांसा दर्शन के लिये पद अथवा प्रत्यय को भी व्यर्थ मानना असह्य है, घोर अनर्थ है।

इसलिये **अग्निहोत्रं जुहोति** को उत्पत्तिविधि ही मानना उचित होगा।

प्रसङ्ग—जैसा कि पूर्व उल्लेख हो चुका है कि विधि के चार प्रभेद हैं—१. उत्पत्ति-

१. यद्यप्यत्र कर्मणो रूपं न श्रूयते, तथापि विध्यन्यथानुपपत्त्या तत्कल्प्यते। (कौमुदी)

विधि, २. विनियोगविधि, ३. अधिकारविधि एवं ४. प्रयोगविधि। इनमें से विधि के प्रथम प्रभेद—उत्पत्तिविधि का लक्षण एवं परीक्षा अभी हो चुकी है। अब ग्रन्थकार विधि के द्वितीय प्रभेद—विनियोग विधि का लक्षण करते हैं—

२२. विनियोगविधिः

अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोति' इति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते 'दध्ना होमं भावयेत्' इति।

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः। क्वचिदाश्रयत्वेनापि। यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठमित्याकाङ्क्षायां सन्निधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

अर्थ—जिस विधि से अङ्ग (गुण) एवं अङ्गी (प्रधान) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे विनियोग विधि कहते हैं। जैसे **दध्ना जुहोति** वाक्य विनियोगविधि है। तृतीया विभक्त्यन्त 'दध्ना' पद से ज्ञात होता है कि 'दधि' अङ्ग है और 'होम' अङ्गी। इस प्रकार विधि से 'दधि' एवं 'होम' के बीच अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का बोध होता है। **दध्ना जुहोति** का अर्थ **दध्ना होमं भावयेत्** अर्थात् 'दधि के द्वारा होम को सम्पन्न करे' होता है।

दध्ना जुहोति आदि गुणविधि में धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का साध्यरूप में अन्वय होता है, किन्तु कहीं धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में भी होता है। उदाहरण के लिए **दध्नेन्द्रियकामस्य जहुयात्** इस गुणविधि में धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में होता है, क्योंकि इस विधि का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार हुआ—**दधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्**। इस पर यह दधिकरणत्व किसमें स्थित होगा? इस प्रकार की आकाङ्क्षा होने पर समीप श्रुत होम ही आश्रय-रूप में अन्वित होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तृतीयाध्यायस्यार्थभूतं शेषशेषिभावं निरूपयितुमिदानीं विनियोगविधिं लक्षयति—अङ्गप्रधानेति। अङ्गानां द्रव्यदेवतादिलक्षणानां प्रधानैर्वाक्यान्तरविहितैः सह सम्बन्धस्य शेषत्वलक्षणस्य बोधको विधिरित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—यथा दध्नेति। 'दध्ना जुहोती'ति, 'पयसा जुहोती'त्यादेरुपलक्षणार्थम्। स हि विधिस्तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्यादेरग्निहोत्रं जुहोतीति विहितहोमसम्बन्धं विधत्त इत्याह—स हीत्यादिना। ननु 'दध्ना होमं भावयेत्, होमेनेष्टं भावयेदि'ति साध्यत्वेन करणत्वेन च होमस्यान्वयः स्यात्। तथा च विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। तथा हि—दध्ना जुहोतीत्यत्र सकृदुच्चरितस्य जुहोतीत्याख्यातस्य दधिरूपगुणे किञ्चिदिष्टे च तन्त्रेण सम्बन्धाङ्गीकारे सत्युपादेयत्वं, विधेयत्वं, गुणत्वं, चेत्येकं त्रिकम्; उद्देश्यत्वं, अनुवाद्यत्वं, प्राधान्यं, चेत्यपरं त्रिकं होमे सम्पद्यते, कथम्? शृणु—फलमुद्दिश्य होम उपादीयते, फलमनूद्य होमो विधीयते, फलं प्रधानं होम उपसर्जनम्। एवं होममुद्दिश्य दध्युपादीयते, होममनूद्य**

दधि विधीयते, होमः प्रधानं दध्युपसर्जनम्। ततश्च होमे फलापेक्षयोपादेयत्वं विधेयत्वं गुणत्वं, दधिरूपगुणापेक्षया चोद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्राधान्यं च सम्पद्यते। न चात्र त तन्त्रेण सम्बन्धः, किन्तु पृथग्घोमावृत्त्या सम्बन्धो भवतीति वाच्यम्। वाक्यभेदप्रसङ्गात्, 'दध्ना होमं भावयेत्, होमेन चेष्टं भावये'दिति वाक्यद्वयप्राप्तेः। तस्मात्र दधिशब्दो गुणपर इति चेत्, न। भ्रान्तिमत्त्वात्, तथा हि—यत्र हि साध्यत्वेन करणत्वेन चैकस्य युगपत्तन्त्रेण सम्बन्ध आशङ्क्यते तत्रैव विरुद्धत्रिकद्वयस्य प्रसक्तिर्भवति—यथा 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यत्र। तत्र च वाजपेयशब्दस्य पेयसुराद्रव्यवाचित्वेन गुणविध्याशङ्कायां मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गाक्षेपे तन्त्रेण युगपत्स्वाराज्यफलवाजपेयगुणसम्बन्धो यागस्य पूर्वपक्षितः। तत्र विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गापादनेन यथोक्तद्रव्यनिमित्तं वाजपेयशब्दस्य नामधेयत्वं राद्धान्तितम्। विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गश्च फलमुद्दिश्य याग उपादीयते फलमनूद्य यागो विधीयते। फलं प्रधानं याग उपसर्जनम्। एवं यागमुद्दिश्य वाजपेय उपादीयते, यागमनूद्य वाजपेयो विधीयते। यागः प्रधानं वाजपेय उपसर्जनम्। फलस्योद्देश्यत्वं च मानसापेक्षा विषयत्वाकारः। यागस्योपादेयत्वं त्वनुष्ठीयमानत्वाकारः। तौ चोभौ मनःशरीरोपाधिकौ धर्मौ भवतः। अनुवाद्यत्वविधेयत्वे तु शब्दोपाधिकौ धर्मौ स्तः। अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वम्। विधेयत्वं चाज्ञातस्यानुष्ठेयत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वम्। फलस्य प्राधान्यं नाम साध्यत्वेन, यागस्योपसर्जनत्वं च साधनत्वेन बोध्यम्। तथा यागस्योद्देश्यत्वं नाम मानान्तरसिद्धस्य विधेयान्वयितया निर्देश्यत्वमन्यद्यथोक्तम्।

न चैवं होमे विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। तस्य साध्यत्वेन साधनत्वेन चात्र विधौ युगपत्तन्त्रेणान्वयानङ्गीकरात्, किन्तु साध्यत्वेनैव। तथा च होमस्योद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमेव न तूपादेयत्वादिकम्। तस्मान्न विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरित्याशयेनाह—गुणविधौ चेति। धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वय इति। धात्वर्थस्य यागदानहोमादेः साध्यत्वेनैवेत्यनेन साधनत्वेनान्वयं वारयति। साधनत्वेनान्वयस्तु धात्वर्थस्योत्पत्तिविधावधिकारविधौ च भवति, न तु गुणविधावित्यर्थः।

ननु गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वये 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दित्यत्र दध्ना होमं भावयेदिन्द्रियकामस्येति वाक्यार्थः स्यात्। तथा चेन्द्रियस्य साध्यत्वेनानन्वये तस्याफलत्वप्रसङ्गः। न च नात्र गुणविधिः, गुणपदस्यानर्थकत्वप्रसङ्गात्। होमस्योभयरूपेणान्वये तु पूर्वोक्तदोषापत्तिश्चेत्याशङ्क्याह—क्वचिदित्यादिना। यद्वा—गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वयो नान्यथा। यत्र तु तृतीययोपात्तं दध्यादिगुणकरणत्वं तस्य प्रत्ययार्थत्वेन दध्यादिगुणादपि प्रधानत्वात्फलभावनायां करणत्वेन विधीयते, तत्र तु धात्वर्थस्याश्रयत्वेनैवान्वय इत्याह—क्वचिदित्यादिना। क्वचिदिति यत्र दध्यादिगुणकरणत्वस्य फलभावनायां करणत्वेन विधानं तत्रेत्यर्थो न तु गुणविधावित्यर्थः। तच्चेति। तृतीययोपात्तं दधिकरणत्वं चेत्यर्थः। होमाश्रयादधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेदिति

वाक्यार्थः। तथा च करणस्य कर्तुर्व्यापारव्याप्यत्वनियमात् केवलदध्नः कर्तृव्यापारानाविष्टस्य करणत्वानुपपत्तेर्होमस्य च वाक्यान्तरप्राप्तत्वात्तयोर्विध्यनुपपत्तेः। होमस्य गुणसम्बन्धविधाने फलपदस्यानर्थकत्वप्रसङ्गात्तस्य फलसम्बन्धविधौ च गुणपदस्यानर्थक्यापातात्फलगुणोभयसम्बन्धविधौ च प्राप्ते कर्मण्यनेकपदार्थविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्राप्ते कर्मण्यनेकपदार्थविधानस्य च वाक्यभेदापादकस्य—

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः।। इति।

वचनविरोधेन स्वीकर्तुमशक्यत्वात्तृतीययोपात्तस्य दधिकरणत्वस्य होमनिरूपितत्वेन फलभावनायां करणत्वमत्र विधीयत इति भावः। प्राप्ते कर्मणीत्यत्र कर्मणो द्रव्याद्युपलक्षणत्ववद् गुणस्यापि प्रधानोपलक्षणत्वमेकोद्देशेनानेकविधावेव वाक्यभेदात्। अत एव गृहैकत्वाधिकरणे 'गृहं सम्मार्ष्टी'त्यत्र ग्रहोद्देशेनैकत्वसम्मार्जनविधौ वाक्यभेदाद् गृहैकत्वमविवक्षितमित्युक्तम्। तेन 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दित्यत्रेन्द्रियसम्बन्धस्य प्रधानसम्बन्धत्वेऽपि न क्षतिः। ननु कर्मणो द्रव्योपलक्षणत्वं भवतु, गृहस्य द्रव्यत्वाद् गुणस्य प्रधानोपलक्षणत्वं कुत्र चरितार्थमिति चेत्, न। रेवत्यधिकरणे चरितार्थत्वात्। तत्र हि 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेते'ति। तत्र च ननु पशुकामस्य 'रेवतीर्नः सधमाद' इत्यादिरेवतीष्वृक्षु वारवन्तीयं साम गातव्यं, तथा चात्र रेवतीनामृचां वारवन्तीयनामकेन साम्ना यः सम्बन्धः सोऽयं पशुफलायाग्निष्टुति गुणो विधीयते। एतस्यैवेत्यत्र प्रकृतपरामर्शकेनैतच्छब्देनान्यव्यावर्तकेन चैवकारेणाग्निष्टुतः समर्प्यमाणत्वादिति चेत्, न। रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयसाम्नोऽग्निष्टुत्कर्मसाधनत्वं पशुफलसाधनत्वं चेत्युभयस्य विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततश्च पशुफलकं रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयगुणविशिष्टं कर्मान्तरमत्र विधीयते न प्रकृते गुणः। एतच्छब्दस्य तु बुद्धिस्थपरामर्शकत्वेनाप्युपपत्तेः, एवकारस्य चायोगव्यवच्छेदकत्वमन्ययोगव्यवच्छेदकत्वं वोपपद्यत इत्युक्तम्। तस्मात्प्राप्ते होमे गुणफलसम्बन्धोभयविधौ वाक्यभेदो दुष्परिहर इत्यलम्।

अर्थबोधिनी—विनियोग विधि अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान कराती है। इसी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि स्थलविशेष में कौन किसका अङ्ग है और कौन किसका अङ्गी (प्रधान)। अङ्ग का अर्थ होता है—जो दूसरे के लिए हो अर्थात् साधन और अङ्गी का अर्थ होता है—जिसका कोई साधन हो अर्थात् साध्य या मुख्य। साध्य (अङ्गी) मुख्य होता है एवं तत्साधनभूत अङ्ग तदपेक्षया गौण होता है। इसीलिये अङ्ग को गुण कहा जाता है। प्रकृत स्थल में 'अङ्गाङ्गिभावबोधक' विधि का उदाहरण दध्ना जुहोति है। दधि के द्वारा होम सम्पन्न होता है। अतएव दधि अङ्ग है और ('जुहोति'-बोध्य) होम प्रधान या अङ्गी। अतएव 'दध्ना जुहोति' का स्पष्ट अर्थबोधक वाक्य 'दध्ना होमं भावयेत्' होता है।

'दध्ना' पद में 'दधि' करण कारक है और 'होमं' पद में 'होम' कर्म कारक। अतएव **दध्ना होमं भावयेत्** अथवा **दध्ना जुहोति** वाक्यों के सुनने से यह ज्ञात हो जाता है कि दधि होम का अङ्ग है और होम दधि का अङ्गी अर्थात् प्रधान। उक्त अङ्ग एवं प्रधान के सम्बन्ध का ज्ञान कराने के कारण **दध्ना जुहोति** को विनियोग विधि माना जाता है।

यह स्पष्ट हो गया कि विनियोगविधि अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराती है। विनियोग विधि[1] की एक विशेषता यह भी है कि इसमें प्रयुक्त धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का अन्वय प्रायः साध्यरूप में होता है। उदाहरण के लिए **दध्ना जुहोति** एक ऐसी ही विनियोगविधि है। इसका मीमांसाभिमत अर्थबोध **दध्ना होमं भावयेत्** वाक्य से होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'जुहोति' पद से प्राप्त 'होम' जैसा धात्वर्थ साध्यरूप से अन्वित है। 'होम' साध्य है और 'दधि' साधन—करण। साध्य होने के कारण ही 'होम' को कर्म कारक रखा गया है।

किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं, जहाँ गुणविधि में प्राप्त धात्वर्थ का अन्वय आश्रय अर्थात् अधिकरणरूप में होता है अर्थात् तत्तत् स्थलों के अर्थबोधक वाक्यों में धात्वर्थ (होम आदि क्रिया) साध्यरूप में प्रयुक्त न होकर अधिकरणरूप में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए **दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्** यह एक गुणविधि है।

उक्त गुणविधि का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'होमाश्रित दधिकरणकत्व के द्वारा इन्द्रियबल को प्राप्त करे'। यहाँ पर 'दधि' शब्द का अर्थ 'दधिकरणत्व' में लाक्षणिक है अतः लक्षणा द्वारा 'दधि' शब्द का अर्थ 'दधिकरणत्व' मान लेना चाहिए। 'दधिकरणकत्व' में 'दधिकरणक' का अर्थ बहुव्रीहि समास से 'दधि है करण जिसका' ऐसा समझना चाहिए। 'दधिकरणकत्व' भी 'घटत्व', 'पटत्व' आदि की भाँति ही एक धर्म है। धर्म कभी धर्मी के बिना नहीं रह सकता अर्थात् आश्रय के बिना नहीं रह सकता; अतएव उस 'दधिकरणकत्व' धर्म को किसी आश्रय की आवश्यकता होती है; अतः 'दधिकरणकत्व' धर्म किन्निष्ठ है अर्थात् इसका आश्रय कौन है? इस प्रकार की आकाङ्क्षा होने पर धात्वर्थभूत 'होम' उसके आश्रय-रूप में उससे अन्वित होता है। इस प्रकार अन्वय होने के कारण वह 'दधिकरणकत्व' धर्म होमाश्रित हो जाता है। अतः उक्त प्रकार से **होमाश्रितेन दधिकरणकत्वेन इन्द्रियं भावयेत्** अर्थात् होमाधारक दधिकरणकत्व के द्वारा अर्थात् होम को दधिकरणक बनाकर इन्द्रियबल प्राप्त करे—इस प्रकार का वाक्यार्थबोध **दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्** इस वैदिक वाक्य से होता है। इसलिये यहाँ धात्वर्थभूत होम आश्रय-रूप में अन्वित होता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है।

---

१. ग्रन्थकार ने यहाँ 'गुणविधि' पद का प्रयोग विनियोगविधि के अर्थ में ही किया है; क्योंकि दृष्टिकोण-भेद से गुणविधि ही विनियोगविधि होती है।

(देखिये—विभागसंख्या-१९ की अर्थबोधिनी

यहाँ विचारणीय यह है कि किस गुणविधि में धात्वर्थ साध्यत्वेन अन्वित होता है और किसमें आश्रयत्वेन। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस गुणविधि में फलश्रवण न हो और न ही अधिकारविधि के लक्षण के माध्यम से फलश्रुति हो, वहाँ धात्वर्थ का अन्वय साध्य-रूप में होगा; जैसे—दध्ना जुहोति स्थल में और जहाँ साक्षात् अथवा अधिकारी के विशेषणरूप में फल का श्रवण हो, वहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ गुणरूप से विवक्षित पदार्थ का अन्वय फलभावना के साथ विवक्षित हो, वहाँ धात्वर्थ का आश्रयत्वेन अन्वय होता है। उदाहरण के लिए **दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्** इस गुणविधिवाक्य-स्थल में 'इन्द्रिय'रूप फल का श्रवण होता है; अतएव यहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय-रूप में हुआ है। सारांश यह है कि जिस गुणविधि में मुख्य पद का श्रवण होगा; वहाँ धात्वर्थ आश्रयत्वेन अन्वित होगा, अन्यथा साध्यत्वेन अन्वित होगा।

प्रसङ्ग—विनियोगविधि से अङ्गाङ्गि का ज्ञान कराने में जो छः प्रमाण सहायक होते हैं, उनका उल्लेख किया जा रहा है—

२३. विनियोगविधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि

एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणनि श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

अर्थ—विनियोगविधि छः प्रमाणों की सहायता से अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराती है। ये छः प्रमाण इस प्रकार हैं—१. श्रुति, २. लिङ्ग, ३. वाक्य, ४. प्रकरण, ५. स्थान एवं ६. समाख्या। यह विधि इन प्रमाणों की सहायता से अङ्गत्व का बोध कराती है। अङ्गत्व का पर्यायवाची शब्द 'पारार्थ्य' (दूसरे के लिए होना) है और अङ्गत्व का लक्षण है—परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्[1]।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एतस्य विधेरिति। **लक्षितस्य विनियोगविधेरित्यर्थः।** एतत्सहकृतेनेति। **एतत्प्रमाणषट्कसहकृतेनेत्यर्थः। विनियोगविधिसहकारित्वं च तेषां विनियोगविधिकृतविनियोगे प्रमाणत्वाद्भवतीति बोध्यम्। अनेन विधिनाङ्गत्वं ज्ञाप्यत इत्यन्वयः। अङ्गत्वं लक्षयति**—परोद्देशेत्यादिना। **यद्वा—ननु न शेषत्वापरनामकस्य विनियोगविधिबोध्यत्वं सम्भवति तस्यानिरूपणात्। तदनिरूपणं च लक्षणप्रमाणाभावान्न तावदविनाभूतत्वं तत्त्वम्, आग्नेयादीनां षण्णामविनाभूतत्वेन परस्परं शेषत्वापत्तेः। नापि प्रयोज्यत्वं,**

---

१. लक्षण की व्याख्या इस प्रकार भी है—
परोद्देशेन प्रवृत्ता कृतिसाध्यता यत्र तत्परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यं, तस्य भावः परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्।

शेषत्वं 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपती'त्यत्र तुषोपवपनं प्रति शेषत्वेन श्रुतस्यापि पुरोडाशकपालस्योपवापाप्रयोज्यत्वात्। न च विध्यन्तरविहितत्वं शेषत्वमिति वाच्यम्। 'इषे त्वेति च्छिनत्ती'त्यत्र पलाशशाखाच्छेदनस्य सत्यपि शेषत्वे विध्यादिविहितत्वेनाव्याप्तिसङ्गात्। नापि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, लोके तत्त्वेऽपि वेदे तस्य शब्दैकगम्यत्वोपगमात्। नापि शब्दः, केनापि शब्देन शेषशेषिभावस्याप्रतीयमानत्वात्। लोके क्रियाकारकान्वयस्यैव व्युत्पत्तिप्रयोजकत्वदर्शनेन तत्र कस्यापि शब्दस्य व्युत्पत्त्यग्रहात्। तत्र च न हेतुरप्युपलभ्यत इति चेत्, अत्रोच्यते—न तावदस्य लक्षणासम्भवः, पारार्थ्यस्यैव निर्दुष्टशेषत्वलक्षणत्वात्। नापि तत्र प्रमाणाभावः, शब्दग्राम्यत्वात्। न च तत्र व्युत्पत्त्यभावात्कथं शब्दगम्यत्वमिति वाच्यम्। शेषशेषिभावस्यान्वयेऽन्तर्भावात्तत्र व्युत्पत्त्युपपत्तेः। न हि गुणप्रधानभावमन्तरेणान्वयः सम्भवति, द्वयोः प्रधानयोर्गुणयोर्वा परस्पराकाङ्क्षारहितत्वेनान्वययोग्यत्वाभावात्। ततो यथा क्रियाकारकतदन्वयाः शब्दगम्यास्तथा तदन्वयान्तर्गतः शेषशेषिभावोऽपि शब्दगम्य एव। नापि तत्र हेतोरभावः, विवादास्पदः प्रयाजानुयाजप्रोक्षणादिः शेषो भवितुमर्हति, पारार्थ्यात् भृत्यादिवदिति हेतुसत्त्वात्। न च पारार्थ्यस्येव लक्षणत्वे च हेतुत्वे साङ्कर्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्। सेनानां महारथिवदाकारभेदेन तद्भेदोपपत्तेः। दृष्टान्ते गृहीतव्याप्तिं हि सहायीकृत्य बोधकत्वाकारो हेतुरितरव्यावृत्त्या बोधकत्वाकारश्च लक्षणमिति तद्भेद इत्यभिप्रेत्याङ्गत्वं लक्षयति—परोद्देशेति परं स्वर्गादिरूपमुत्कृष्टं साध्यं फलं तदुद्देशेन सङ्कलनया मनसि सिद्धवत्करणेन तत्साधनयागादिषु प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृतिसाध्यत्वरूपं कृतिव्याप्यत्वरूपमित्यर्थः। तथा च स्वर्गफलोद्देशेन दर्शादिषु प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजानुयाजावघातप्रोक्षणादीनां सुप्रसिद्धमिति तेषां शेषत्वम्। यद्वा—परशब्दो दर्शादिपरः। तथा च तदुद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजादीनां भवतीति तेषां तत्त्वम्, दर्शादिस्तु प्रयाजाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिः। केवलप्रयाजाद्युद्देशेन कस्यचिदपि पुरुषस्य प्रवृत्त्यभावादिति ध्येयम्। ननु 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्', 'तत्फलं च पुरुषार्थत्वात्' 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वादि'त्यत्र जैमिनिसूत्रत्रये कर्मफलपुरुषाणामपि शेषत्वमुक्तं, तत्र च कर्मणां फलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिसाध्येऽपि फलपुरुषयोस्तु पुरुषकर्मोद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृत्यसाध्यत्वात्कथं शेषत्वमिति चेत्, अत्र वक्तव्यम्—स्वर्गस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वाभावेऽपि यदा पुरुषः स्वस्वर्गोद्देशेन दर्शादिषु प्रयतते तदैव कालान्तरेऽपूर्वद्वारेण स्वर्गो जायते नान्यथेति भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वं तस्य, तथा स्वर्गफलोद्देशेन दर्शाद्युद्देशेन वा प्रवृत्तः पुरुषो यदैव तदनुष्ठानानुकूलं स्वं प्रयत्नेन सम्पादयति तदैव कर्म निष्पद्यते नान्यथेति तस्यापि भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वमिति सर्वमनवद्यम्।

अर्थबोधिनी—विभाग २२ के अन्तर्गत हम देखते हैं कि दध्ना जुहोति जैसे विनियोगविधि में दधि अङ्ग है और होम अङ्गी। 'दधि' के अङ्गत्व का ज्ञान अर्थात् 'दधि

अङ्ग है' यह ज्ञान 'दध्ना' पद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति (श्रुति) से होता है। इस प्रकार यहाँ अङ्गत्वज्ञापन में तृतीया विभक्ति प्रमाण हुई; किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अङ्गत्व का ज्ञापन सर्वत्र तृतीया विभक्ति से ही हो। तृतीया विभक्ति के अतिरिक्त और भी प्रमाण हैं, जिनकी सहायता से कोई विनियोगविधि अङ्गत्व का ज्ञान कराती है। तृतीया विभक्ति एक प्रमाण-श्रुति—का एक प्रभेद—मात्र है। अङ्गत्वज्ञापन में सहायकभूत कुल छः प्रमाण माने गये हैं। ये हैं—१. श्रुति, २. लिङ्ग, ३. वाक्य, ४. प्रकरण, ५. स्थान एवं ६. समाख्या। कभी-कभी किसी स्थल में एक से अधिक प्रमाण प्राप्त होते हैं और उनसे क्रमशः भिन्न-भिन्न पदार्थ अङ्ग होते हुये समझे ज़ाने लगते हैं, किन्तु एक काल में एक विधि से एक ही पदार्थ का अङ्गत्व समझा जायेगा, एकाधिक पदार्थ का अङ्गत्व नहीं; अतएव जो प्रमाण प्रबल होता है, उसके साहाय्य से निश्चित किया गया अङ्गत्व ही मान्य होगा, तदितर नहीं। उक्त छः प्रमाणों में क्रमशः पूर्ववर्ती प्रमाण सबल है अर्थात् सर्वप्रबल श्रुति प्रमाण है। श्रुति से निर्बल लिङ्ग है; किन्तु लिङ्ग श्रुति के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों से सबल है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। समाख्या सबसे अधिक निर्बल है। इन सभी प्रमाणों का विवेचन ग्रन्थकार आगे करेंगे।

ध्यान रहे कि अङ्गत्व का ज्ञापन विनियोगविधि के द्वारा होता है (अनेन विधिना अङ्गत्वं ज्ञाप्यते), साक्षात् श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा नहीं। प्रमाण विधि के द्वारा अङ्गत्वज्ञापन में सहकारी (सहायक) होते हैं (एतत्सहकृतेन), न कि स्वयं ज्ञापक हैं।

विनियोग विधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है। अङ्ग गौण होता है और अङ्गी मुख्य श्रेष्ठ अर्थात् पर। अङ्ग से अङ्गी उपकृत होता है। अङ्ग (अङ्गी—पर) के लिये होता है अर्थात् अङ्ग परार्थ होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अङ्गत्व पारार्थ्य का दूसरा (अपर) पर्याय शब्द है (**अङ्गत्वं पारार्थ्यापरपर्यायम्**)। ग्रन्थकार ने अङ्गत्व का लक्षण—**परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्** किया है, जिसे अन्य शब्दों में 'पारार्थ्य' शब्द की ही व्याख्या समझनी चाहिये। अङ्गत्व के लक्षण के साथ ही **पारार्थ्यापरपर्यायम्** पद का प्रयोग ग्रन्थकार के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है, जिसको लौगाक्षिभास्कर ने अत्यन्त भेद से उद्धृत-सा कर दिया है। उदाहरण के लिये आचार्य आपदेव के मीमांसान्यायप्रकाश में 'अङ्गत्व'-लक्षणविषयक वाक्य इस प्रकार मिलता है—**एतत्सहकृतेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते**। पं. चित्रस्वामीशास्त्री का यह मत है कि **पारार्थ्यापरपर्यायम्** पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि यहाँ अङ्गत्व का लक्षण जैमिनि के अङ्गत्व-लक्षण से भिन्न न समझा जाए।[1] जैमिनि ने शेष का लक्षण इस प्रकार किया है—**शेषः परार्थत्वात्**[2]।

१. किमिदं जैमिनीयात् पारार्थ्यरूपादङ्गत्वाद् भिन्नम्? नेत्याह पारार्थेति। (सारविवेचिनी)
२. जैमिनिसूत्र—३.१.२

अब अङ्गत्व के लक्षण—**परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्** के अर्थ पर विचार करना चाहिए। **परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्** की मुख्यत: दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—**१. परम् (उत्कृष्टं स्वर्गादिफलं) तस्य उद्देशेन (तल्लाभार्थमित्यभिप्रायः) प्रवृत्तः (यागादिप्रवृत्तः यः पुरुषः) तस्य (पुरुषस्य) कृत्या व्यापारेण साध्यत्वम् सम्पाद्यत्वम्।** 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् स्वर्गादि फल है। स्वर्गप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से स्वर्ग के साधनभूत 'दर्श' आदि याग करने में प्रवृत्त होगा। ऐसे व्यक्ति को 'परोद्देशप्रवृत्त' कहेंगे और यागानुष्ठान में सक्रिय उस व्यक्ति की क्रिया ही 'परोद्देशप्रवृत्तकृति' कहलायेगी। उस 'परोद्देशप्रवृत्तकृति'रूप क्रिया के द्वारा साध्य अर्थात् सम्पाद्य प्रयाज, अनुयाज, अवघात एवं प्रोक्षण आदि कर्म अङ्ग हुये तथा इन प्रयाज आदि का 'अङ्ग होना' ही अङ्गत्व है।[१] **२. परः दर्शादियागः तस्य उद्देशेन प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृत्या व्यापारेण साध्यत्वं सम्पाद्यत्वम्।** यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ स्वर्ग का साधनभूत याग लिया गया है। स्वर्ग के साधनभूत याग के सम्पादन में प्रवृत्त पुरुष की कृति (क्रिया) का साध्यभूत प्रयाज आदि क्रियायें अङ्ग होंगी—**यद्वा परशब्दो दर्शादिपरः तथा च तदुद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजादीनां भवतीति तेषां तत्त्वम्** (कौमुदी)।

वस्तुस्थिति यह है कि 'पर' शब्द अन्यवाची है, तदनुसार किसी भी अन्य के लिए कृतिसाध्य अर्थात् निष्पाद्य होने वाला अङ्ग कहलाने का अधिकारी होता है। इस व्याख्या के अनुसार प्राप्त होने वाला अङ्गत्व सभी क्षेत्रों के लिए समान रूप से उपयुक्त हो पाता है, अत: अङ्गत्व की यह व्याख्या सर्वाधिक व्यापक होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि हाथ, पाँव आदि शरीर-रूप अङ्गी के अङ्ग इसलिए हो जाते हैं कि वे स्वातिरिक्त समग्र शरीरात्मक अङ्गी के लिए ही निष्पन्न हुए होते हैं, इसीलिए शरीर के किसी भी भाग में मक्खी बैठने पर हाथ उसे हटाने के लिए प्रवृत्तशील पाया जाता है। इसीलिये हाथ-पाँव आदि शरीर के अङ्ग कहलाते हैं।

'अङ्गी' शब्द का अभिप्रेत अर्थ होता है—मुख्य और 'अङ्ग' शब्द का अभिप्रेत अर्थ होता है—उस मुख्य के प्रयोजनसिद्धि में काम आने वाला गौण; इसीलिये स्वामी होता है मुख्य—अङ्गी और उसके अनेक भृत्य होते हैं—उसके अङ्ग; क्योंकि स्वामी की प्रयोजनसिद्धि के लिये सारे भृत्य सचेष्ट हुआ करते हैं।

प्रसङ्ग—विनियोगविधि के सहकारीभूत उक्त श्रुत्यादि छः प्रमाणों में से सर्वप्रथम प्रमाण—श्रुति के लक्षणसहित प्रभेदों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. परं स्वर्गादिरूपमुत्कृष्टं साध्यं फलं तदुद्देशेन सङ्कलनया मनसि सिद्धवत्करणेन तत्साध्ययागादिषु प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृतिसाध्यरूपं कृतिव्याप्यरूपमित्यर्थः। तथा च स्वर्गफलोद्देशेन दर्शादिषु प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजानुयाजावघातप्रोक्षणादीनां सुप्रसिद्धमिति तेषां शेषत्वम्। (कौमुदी)

२४. श्रुतेर्लक्षणं प्रभेदाश्च

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङाद्यात्मिका। द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

अर्थ—उनमें से प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुति के तीन प्रभेद हैं—१. विधात्री, २. अभिधात्री और ३. विनियोक्त्री। १. 'लिङ्' आदि श्रुति को विधात्री श्रुति कहते हैं, २. व्रीहि आदि श्रुति को अभिधात्री श्रुति कहते हैं और ३. जिस शब्द के सुनने-मात्र से अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, उस शब्द को विनियोक्त्री श्रुति कहते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तत्र श्रुतिं लक्षयति—तत्र निरपेक्षो रव इति। **तत्र षण्णां, श्रुत्यादिप्रमाणानां मध्ये इत्यर्थः। स्वकरणीये शेषत्वबोधे प्रमाणान्तनिरपेक्षः शब्दः श्रुतिरित्यर्थः। रव इत्युक्ते वाक्यादावतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय निरपेक्ष इत्युक्तम्।** तां च श्रुतिं विभजते—सा च त्रिविधेति। **विधात्री विधानकर्त्री, अभिधात्री अभिधानकर्त्री, विनियोक्त्री विनियोगकर्त्री।** तत्राद्यामुदाहरति—तत्राद्या लिङाद्यात्मिकेति। **तत्र तिसृणां श्रुतीनां मध्य इत्यर्थः। आदिना लेडादिग्रहः।** अभिधात्रीमुदाहरति—द्वितीया व्रीह्यादीति। तृतीयां विनियोक्त्रीं लक्षयति—यस्य चेत्यादिना। सम्बन्ध इति। **विनियोज्यविनियोजकभावः सम्बन्ध इत्यर्थः। शेषशेषिणोरिति वा शेषः।**

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने यहाँ थोड़े अन्तर के साथ आपदेव के 'मीमांसान्यायप्रकाश' को ही उद्धृत कर दिया है।[1] श्रुति का लक्षण **निरपेक्षो रवः** किया गया है, जैसा कि लिङ्ग, वाक्य आदि के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि लिङ्ग एवं वाक्यादि अङ्ग-भाव के बोधन में सहकारी अवश्य होते हैं; किन्तु स्वतन्त्र अर्थात् निरपेक्ष रूप से नहीं। सबों को अपने पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा रखते हुए अन्त में श्रुति की अपेक्षा होती है। उदाहरण के लिए 'स्थान' प्रमाण को ही लीजिए। 'स्थान' को 'प्रकरण' प्रमाण की अपेक्षा होगी, 'प्रकरण' को 'वाक्य' की, 'वाक्य' को 'लिङ्ग' की एवं 'लिङ्ग' को 'श्रुति' की अपेक्षा होगी। इस प्रकार 'वाक्य' को यहाँ अपने से पूर्व के सभी प्रमाणों की अपेक्षा होती है; किन्तु 'श्रुति' को किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है। 'श्रुति' विनियोगविधि द्वारा किये जाने वाले अङ्गत्वबोध में निरपेक्ष रूप से अर्थात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुये सहकारिणी होती है। इसीलिये 'श्रुति' को **निरपेक्षो रवः** कहा गया है।[2]

---

१. तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री चेति। तत्र विधात्री लिङ्गाद्यात्मिका। अभिधात्री व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री। (मीमांसान्यायप्रकाश)

२. अङ्गत्वबोधने लिङ्गादिवत्प्रमाणान्तरमनपेक्षमाण इत्यर्थः। (सारविवेचिनी)

यहाँ विनियोगविधि का प्रसङ्ग चल रहा है; किन्तु यहाँ जिस श्रुति के विधात्री, अभिधात्री एवं विनियोक्त्री—ये तीन विभाजन किये गये हैं, वह विनियोगविधिपरक श्रुति के विभाग नहीं हैं। विनियोगविधिपरक श्रुति तो उन तीनों में से केवल एक विनियोक्त्री श्रुति है। परन्तु श्रुति-सामान्य को बिना समझे विनियोक्त्री-रूप श्रुतिविशेष को भला कैसे समझा जा सकता है? इसलिये 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इस लक्षण-वाक्य के द्वारा विधात्री, अभिधात्री एवं विनियोक्त्री—तीनों श्रुतियों को पहले सामान्य भाव से समझाया गया। किसी भी वस्तु को सामान्यरूपेण समझ लेने के पश्चात् विशेष रूप से उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा का उदित होना सम्भव ही है कि श्रुति के प्रकार कितने हैं? अतः इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए 'विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च' इस कथन के द्वारा श्रुति के तीन प्रभेदों का उल्लेख किया गया है। अनन्तर विनियोक्त्री श्रुति ही विनियोगविधि के साथ मिलने पर उस विधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव के स्थापन में साहाय्य करती है, इसे बतलया गया है।

'विधात्री' श्रुति लिङाद्यात्मिका होती है। जैसे **अग्निहोत्रं जुहोति** में 'लट्' मात्र विधात्री श्रुति है; क्योंकि लिङ् अथवा तदर्थवाची 'लट्' आदि में ही शाब्दी भावना होती है, जिसके सुनने पर आर्थी भावना की उत्पत्ति होती है एवं विधि का विधान सम्पन्न होता है (विधत्ते इति विधात्री)। इसलिये 'लिङ्ग' आदि प्रत्यय का श्रवण 'विधात्री' श्रुति कहे जाते हैं।[1] 'अभिधात्री' श्रुति व्रीहि आदि का अभिधान-मात्र करती है। अतएव जिस स्थल पर विधान एवं विनियोग अभिप्रेत न होकर केवल पदार्थ के अभिधानउच्चारण के द्वारा अपेक्षित वस्तु का ज्ञापन होता है, वह श्रुति 'अभिधात्री' श्रुति मानी जाती है।[2] जैसे—**व्रीहीनवहन्ति** यहाँ 'व्रीहीन्'पदगत 'व्रीहि' शब्द का उच्चारण, 'अभिधात्री' श्रुति है। 'अभिधात्री' का अर्थ है—**(या) अभिधया स्वार्थं प्रतिपादयति इति (सा) अभिधात्री।**

'विनियोक्त्री' श्रुति का लक्षण **यस्य शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री** है। उक्त लक्षण में 'शब्दस्य' पद श्रुति (रव) का वाचक है, इसी प्रकार **श्रवणादेव** 'निरपेक्ष' की ओर और **सम्बन्धः प्रतीयते** अंश अङ्गाङ्गिभावबोधन की ओर सङ्केत करता है। इस प्रकार विनियोक्त्री श्रुति में श्रुति के **निरपेक्षो रवः श्रुतिः** एवं विनियोग विधि के **अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः**[3] दोनों लक्षणों का समावेश हो जाता है। विनियोगविधि में सहायक होने के कारण इस श्रुति को विनियोक्त्री कहते हैं।[4]

१. यः प्रत्ययो विधायको लिङादिः स एव विधात्री श्रुतिरित्यभिधीयते इत्यर्थः। (सारविवेचिनी)

एवं

विधात्री—विधानकर्त्री। (कौमुदी)

२. अभिधात्री—अभिधानकर्त्री। (कौमुदी)

३. देखिये—विभागसंख्या-२२

४. विनियोक्त्री—विनियोगकर्त्री। (कौमुदी)

प्रसङ्ग—अब विनियोक्त्री श्रुति के प्रभेदों का उल्लेख करके प्रथम प्रभेद के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

२५. विनियोक्त्र्याः श्रुतेस्त्रैविध्यम्, तृतीयाविभक्तिश्रुतेरुदाहरणञ्च

सापि त्रिविधा—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्याङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेत' इति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविःप्रकृतितया यागाङ्गत्वम्। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

अर्थ—और उस विनियोक्त्री श्रुति के भी तीन प्रभेद होते हैं—१. विभक्तिरूपा, २. एकाभिधानरूपा और ३. एकपदरूपा। विभक्तिश्रुति के सुनने से अङ्गत्व का ज्ञान होता है। व्रीहिभिर्यजेत वाक्यगत 'व्रीहिभिः' पद में तृतीया विभक्ति के सुनने पर ज्ञात होता है कि व्रीहि याग का अङ्ग है। व्रीहि पुरोडाश की प्रकृति होने से याग का अङ्ग बनते हैं, यह उसी प्रकार जैसे कि हविर्भूत हृदय आदि की प्रकृति होने से पशु याग का अङ्ग होता है, साक्षात् नहीं। **अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति** यह एक विधि-वाक्य है। इसका अर्थ है—'पीली आँखों वाली एक रक्तवर्ण गाय से सोम खरीदे।' इस वाक्य में 'अरुणया' पद में श्रुत तृतीया विभक्ति से 'आरुण्य' क्रयण का अङ्ग समझा जाता है, वह भी साक्षात् नहीं; अपितु गोरूप पिण्ड के ज्ञापकरूप में। यह इसलिये कि 'आरुण्य' अमूर्त पदार्थ है, वह साक्षात् 'क्रयण' क्रिया का अङ्ग नहीं बन सकता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**विनियोक्त्रीमपि श्रुतिं विभजते—सापि त्रिविधेति। तत्र विभक्तिरूपां विनियोक्त्रीमुदाहरति—तत्रेति। यद्वा—ननु विनियोक्त्र्याः श्रुतेर्लक्षणविभागावनुपपन्नौ तस्या अङ्गत्वाबोधकत्वादित्याशङ्क्य तत्र विभक्तिश्रुतेरङ्गत्वबोधकत्वं दर्शयति—तत्रेति। तिसृणां विनियोक्त्रीणां मध्य इत्यर्थः। विभक्तिश्रुत्याङ्गत्वं बोध्यत एव तथोपलब्धेरिति शेषः। कुत्रोपलम्भ इति वीक्षायां तत्रोदाहरणमाह—यथा व्रीहिभिरिति। तदपीति। व्रीहीणां यागाङ्गत्वमपीत्यर्थः। व्रीहीणां पुरोडाशप्रकृतितया यागाङ्गत्वे दृष्टान्तमाह—यथा पशोरिति। 'अथ हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ वक्षस' इत्यादिशास्त्रात्, पशोर्हृदयादिरूपहविरुपादानतयैव यागाङ्गत्वं न साक्षात्, तद्वदत्रापीत्यर्थः। क्वचित्तु साक्षात्पशोरेव यागाङ्गत्वं यथा पात्नीवतयागे। तत्र हि पशोराग्नेयस्य जीवत एवोत्सर्गः क्रियते, 'पर्यग्निकृतं पात्नीवन्तमुत्सृजन्ती'ति वाक्यात्। तथा च यत्र पशोर्विशसनं हृदयाद्यवदानं च भवति तत्र हृदयादिप्रकृतिरेव पशुरिति सिद्धम्।**

तृतीयाविभक्तिरूपाया विनियोक्त्र्या उदाहरणान्तरमाह—आरुण्यस्यापीत्यादिना। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाती'ति ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतस्यारुणिमगुण-

स्येत्यर्थः। क्वचित्पुस्तके मूलग्रन्थ एवेदं वाक्यमुदाहृतम्। अत्रारुणशब्दोऽरुणिमानं गुणमाचष्टे, तस्य गुणिविषयतया प्रयुक्तस्यापि 'नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धि'रिति न्यायेन गुणबोधकत्वादन्वयव्यतिरेकसिद्धगुणमात्रव्युत्पत्तिकत्वाच्च। पिङ्गाक्षीशब्दस्तु पिङ्गलवर्णविशिष्टाक्षिमद्द्रव्यवाचको भवति। एकहायनीशब्दश्चैकसंवत्सरविशिष्टगोद्रव्यवाचकः। तौ च शब्दौ यद्यप्येकगोवाचकौ भवतस्तथापि विशेषणभूतधर्मभेदाच्छब्दद्वयमुपपद्यते, तच्च युगपत्प्रवृत्तं सद्धर्मद्वयविशिष्टं गोद्रव्यं क्रयसाधनत्वेन विधत्ते। अरुणशब्दस्त्वरुणिमगुणस्य कारकाणां क्रियान्वयनियमेन सोमक्रयणान्वयेऽपि साक्षात्तत्साधनत्वेनामूर्तमरुणिमानं गुणं न विदधाति, अमूर्तस्य साक्षात्तत्साधनत्वासम्भवात्, किन्तु सोमक्रयणसाधनीभूतगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन तत्साधनम्। तथा च परस्परमनन्वितानामेवारुण्यपिङ्गाक्षीत्वादीनां कारकाणां क्रियान्वयनियमात्करणविभक्तिभिः सोमक्रयणेऽङ्गत्वेनान्वये सत्यारुण्यादेश्च गुणत्वेनामूर्तस्य स्वतः सोमक्रयणसाधनत्वायोगात्तत्साधनगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन पश्चात्परस्परं पार्ष्णिकान्वयो भवति एकहायनी गौः, सा पिङ्गाक्ष्यरुणा चेत्याशयवानाह—तदपीति। क्रयाङ्गत्वमपीत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने श्रुति के तृतीय प्रभेद—'विनियोक्त्री' के प्रभेद करके उन प्रभेदों के स्वरूप का परिचय उदाहरणों द्वारा दिया है; किन्तु उन्होंने श्रुति के प्रथम एवं द्वितीय प्रभेदों का उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया। इसका कारण यही है कि प्रथम एवं द्वितीय श्रुतिप्रभेद विनियोगविधि के प्रसङ्ग में अपेक्षित नहीं हैं।[1] वस्तुतः विनियोगविधि के प्रसङ्ग में 'श्रुति' पद का अर्थ 'विनियोक्त्री' श्रुति ही समझना चाहिये। प्रभेदकाल में 'श्रुति' पद का अर्थ व्यापक लिया गया था, न कि विनियोगविधिपरक।

'विभक्ति' 'एकाभिधान' एवं 'एकपद'-रूपा विनियोक्त्री श्रुति के द्वारा अङ्गत्व के निश्चय होने में सहायता प्राप्त होती है; अतएव (विनियोक्त्री) श्रुति तीन प्रकार की बतलाई गई है—१. विभक्तिरूपा, २. एकाभिधानरूपा एवं ३. एकपदरूपा।

व्रीहिभिर्यजेत एक विनियोगविधि है। यहाँ 'व्रीहिभिः' में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति विनियोक्त्री श्रुति है। तृतीया विभक्तिरूपा श्रुति द्वारा यह समझा जाता है कि 'व्रीहि' याग का अङ्ग है। याग क्रिया को मुख्य समझकर उसके अनुष्ठान करने में 'व्रीहि' साधनरूप में विनियुक्त होता है। साधन मुख्य की अपेक्षा गौण या अङ्ग होता है। अतएव 'व्रीहि' याग का अङ्ग हुआ। 'व्रीहि याग का अङ्ग होता है'—यही अर्थ **व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्** पदों से अभिहित होता है; किन्तु जैसा कि यज्ञविधानों से अवगत होता है—याग में व्रीहि का विनियोग अपने प्रकृति रूप में अर्थात् धान के रूप में नहीं होता, अपितु विकृति रूप

१. एवं श्रुतिं विभज्य विधात्र्याः अभिधात्र्याश्च साक्षाद् विनियोजकत्वस्याभावेन ते उपेक्ष्य विनियोक्त्र्याः विनियोजकत्वमुपपादयति। (सारविवेचिनी)

में—पुरोडाशरूप में होता है। धान से चावल निकाल कर चावल को पीसकर उसके आटे से बने पके हुये पिण्ड को पुरोडाश कहते हैं।[१] याग में धान (व्रीहि) का साक्षात् विनियोग न होने के कारण व्रीहि याग का साक्षात् अङ्ग भी नहीं बनता, अपितु अपनी विकृति—पुरोडाश के माध्यम से अङ्ग होता है। इस प्रकार पुरोडाश की प्रकृति होने से व्रीहि याग का अङ्ग होता है। याग में विनियुक्त, अथ च यागाङ्गभूत किसी पदार्थ की प्रकृति होने के कारण प्रकृतिभूत पदार्थ भी याग का अङ्ग होता है। इस मान्यता की पुष्टि एक सामान्य उदाहरण से की गई है। पशुयागों में पशु को यागसम्पादक माना जाता है, तदनुसार पशु को याग का अङ्ग समझा जाता है; परन्तु समूचे पशु की आहुति नहीं[२] दी जाती; अपितु पशु के हृदय आदि विभिन्न अवयवों को काटकर उनकी हवि दी जाती है। फिर इस प्रकार 'पशु' उस याग का साक्षात् अङ्ग नहीं बनता है, अपितु हविर्भूत अपने हृदयादि अवयवों की प्रकृति होने के कारण अङ्ग बनता है। पुरोडाश के अङ्गत्व का समर्थन पशु के अङ्गत्व-रूप दृष्टान्त से करने का कारण यह है कि प्राचीन ग्रन्थों में पशु के यागाङ्ग का विस्तृत विवेचन मिलता है। कालान्तर में पशु का स्थान पुरोडाश ने ले लिया और पुरोडाश के विनियोग से ही पशुविनियोग का फल मान लिया गया।[३] इस प्रकार यहाँ पूर्ववृत्त के द्वारा परवृत्त का समर्थन किया गया है।

'विभक्ति'-रूपा श्रुति के द्वारा व्रीहि आदि मूर्त पदार्थ के यागाङ्गत्व का विवेचन करने के बाद अमूर्त पदार्थ के यागाङ्गत्व का विवेचन **अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति** वाक्य को उद्धृत करके किया गया है। उक्त उदाहरण में सोमक्रयण का विधान है। सोम को ऐसी गाय देकर खरीदना चाहिये (विनिमय करना चाहिये) जिसमें ये तीनों विशेषतायें हों—१. गाय अरुण (लाल) हो, २. उसकी आँखें पिङ्गवर्ण (पीली) हों और ३. उसकी आयु एक वर्ष हो। यदि किसी गाय में इन तीनों विशेषताओं में से एक भी कम होगी तो उससे सोमक्रयण नहीं हो सकता और स्वेच्छया सोमक्रयण कर लेने पर तत्प्रयुक्त अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं होगी।

---

१. यथोक्तदेवतां प्रति हविष्ट्वेन प्रदेयद्रव्यरूपः पक्वः पिष्टपिण्डः पुरोडाश इत्युच्यते।
(ऐतरेयब्राह्मण पर सायणभाष्य-१.१)

२. यहाँ यह पर ध्यान रखने की बात है कि जिस 'पात्नीवत्' याग में समग्र जीव का ही हवन विहित है, वहाँ पशु हव्य विकृति के प्रकृतिरूप में यागाङ्ग न होकर साक्षात् रूप में ही अङ्ग बनता है, अतः ग्रन्थकार का **यथा पशोर्हृदयादिहविःप्रकृतितया यागाङ्गत्वम्** इत्यादि कथन 'पात्नीवत्' याग से अतिरिक्त याग के लिये उपन्यस्त समझना चाहिये।
(कौमुदी)

एवं

पात्नीवत्—यागे तु साक्षात् पशुरेवाङ्गम्। (मीमांसान्यायप्रकाश)

३. स वा एष पशुरेवालभ्यते यत् पुरोडाशः। (ऐतरेयब्राह्मण-६.९)

'अरुणया' पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यहाँ तृतीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'आरुण्य' 'क्रयण' क्रिया का अङ्ग समझा जाता है, यद्यपि सोमक्रयण में साक्षात् गाय का विनियोग होता है। गाय से ही सोम खरीदा जाता है, आरुण्य से नहीं। आरुण्य गुण है, गुण में क्रिया नहीं होती।[1] क्रिया तो पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन— इन पाँच मूर्त द्रव्यों में ही होती है।[2] गाय 'पृथिवी' द्रव्य के अन्तर्गत है और सोमक्रयण में साक्षात् विनियुक्त होने के कारण क्रयण का अङ्ग होती है। फिर 'आरुण्य' सोमक्रयण का कैसे अङ्ग बनता हैं? क्या 'अरुणया' पद ही व्यर्थ है? नहीं। 'आरुण्य' गाय का विशेषण है। हर एक गाय से सोम खरीदने से क्रयणजन्य अदृष्ट नहीं उत्पन्न हो सकता, अपितु तीन विशेषणों से परिच्छिन्न (व्यावृत्त) गायों के द्वारा ही हो सकता है। आरुण्य भी उनमें से एक विशेषण है, जो अरुणेतर गायों का निराकरण कर देता है। इसी प्रकार पिङ्गाक्षीत्व एवं 'एकहायनीत्व' भी गोद्रव्यपरिच्छेदक होते हैं। गाय क्रयण का साक्षात् अङ्ग है; किन्तु आरुण्य गुणविशिष्ट गाय ही क्रयण का अङ्ग बन सकती है, तदितर नहीं। इस प्रकार 'आरुण्य' गोव्यावर्तक रूप में (अर्थात् परम्परया) क्रयण का अङ्ग होता है, साक्षात् नहीं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि विभक्तिरूपा श्रुति से आरुण्य जैसे अमूर्त पदार्थ भी क्रियाङ्ग समझे जाते हैं।

प्रसङ्ग—द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति अङ्गत्वबोध में विनियोगविधि की सहायिका होती है, इस विषय का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

२६. द्वितीयाविभक्तिश्रुतेरुदाहरणम्

'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्। एवम् 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति-रूपा श्रुति से अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है, जैसे व्रीहीन् प्रोक्षति (अर्थात् 'व्रीहि को पानी से छिड़कता है') इस वाक्य के 'व्रीहीन्' पद में श्रुत द्वितीया विभक्ति से यह समझा जाता है कि प्रोक्षण (छिड़कना) क्रिया व्रीहि का अङ्ग है। यह प्रोक्षण इसलिये नहीं किया जाता है कि व्रीहि को उसका अपना रूप प्राप्त कराया जाय

---

१. गुणादिर्निर्गुणक्रियः। (कारिकावली-१४)

२. क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी।। (कारिकावली-२६)
अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु वं मन इन पाँच द्रव्यों में से प्रत्येक में निम्नलिखित सभी धर्म रहते हैं—१. परत्व, २. अपरत्व, ३. मूर्तत्व, ४. क्रिया और ५. वेग।

क्योंकि प्रोक्षण के बिना भी व्रीहि के स्वरूप की सिद्धि रहती है। प्रोक्षण का अनुष्ठान अपूर्व के साधन के रूप में होता है; क्योंकि याग में व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर अभिप्रेत अपूर्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार के अन्य सभी अङ्ग अपूर्व को उत्पन्न करने के कारण ही अङ्ग माने जाते हैं। इसी तरह **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते** एक विधि है, जिसमें विधान है कि 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र को पढ़कर अश्व की गलरज्जु को पकड़े। **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य** का अर्थ है कि 'सत्य की इस रज्जु को पकड़ लिया'। उक्त विधि में 'अश्वाभिधानीम्' पद में श्रुत द्वितीया विभक्ति से यह समझा जाता है कि **इमागमृभ्णन् रशनामृतस्य** यह मन्त्र 'अश्वरज्जु के ग्रहण' का अङ्ग है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—द्वितीयारूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—व्रीहीन्प्रोक्षतीति। तच्चेति। प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं चेत्यर्थः। तच्चेत्यस्यापूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमित्यनेनान्वयः। प्रोक्षणं व्रीहिस्वरूपार्थमेव स्यादिति कुतस्तस्यापूर्वप्रयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमित्यत आह—प्रोक्षणं नेति। प्रोक्षणस्य व्रीहिस्वरूपार्थत्वाभावे हेतुमाह—तस्येत्यादिना। तस्य व्रीहिस्वरूपस्य। तेन विना प्रोक्षणेन विनेत्यर्थः। ननु यागानुष्ठानेनैवापूर्वसिद्धौ किं प्रोक्षणेन व्रीहिस्वरूपानुपयोगिनेत्यत आह—व्रीहीनप्रोक्ष्येति। अनुपनीतानुष्ठितदेदाध्ययनस्यापूर्वाजनकत्ववद् व्रीहीणां प्रोक्षणं न कृत्वा तैरनुष्ठितस्य यागस्यापूर्वजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। प्रोक्षणे सिद्धमपूर्वप्रयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमन्यत्रातिदिशति—एवमित्यादिना। एवं दर्शपूर्णमासप्रकरणसहकृतया द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य तण्डुलनिष्पत्तिप्रणालिकया व्रीहीणामपूर्वसाधनत्वप्रयुक्ताङ्गत्ववत्सर्वेषामङ्गानामवघातादीनां तत्तत्प्रमाणवशादपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमेवाङ्गत्वमित्यर्थः।

द्वितीयारूपाया विनियोक्त्र्याः श्रुतेरुदाहरणान्तरमाह—एवमित्यादिना। एवम्, द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वादित्यर्थः। ऋतस्येति। सत्यफलस्येत्यर्थः। तथा च सत्यफलसम्बन्धिनीं रशनामिमां गृहीतवन्त इति मन्त्रार्थः। अश्वाभिधान्यङ्गत्वमिति। अश्वाभिधान्या अश्वरशनाया अङ्गत्वमित्यर्थः। केचित्तु वाक्यीयमिमं विनियोगमाहुः। अन्ये तु वाक्याल्लिङ्गस्य बलीयस्त्वेन यावद्वाक्यादश्वाभिधान्यङ्गत्वं भवति तावद्रशनामात्राङ्गत्वमेव स्यादिति तत्र दूषणमाहुः। वाक्यविनियोगवादिनस्तु मन्त्रस्य न रशनामात्रप्रकाशकत्वं किन्तु ऋतस्य सत्यफलसाधनभूतस्याश्वस्येमां रशनां गृहीतवन्त इत्यश्वरशनाप्रकाशकत्वमेवेति लिङ्गसहकृतादश्वाभिधानीमादत्त इति वाक्यान्मन्त्रस्याश्वरशनादाने विनियोग इति स्वाशयमाहुः। रशनाविशेषस्य न लिङ्गमिति मूलग्रन्थतात्पर्यम्।

अर्थबोधिनी—इसके पूर्व तृतीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है। ग्रन्थकार अब यहाँ द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे हैं। **व्रीहीन् प्रोक्षति** यह एक विनियोगविधि है। **व्रीहीन् प्रोक्षति** का अर्थ है—व्रीहि (धान) को (जल से) छिड़कता है (अर्थात् छिड़के)। यहाँ 'व्रीहीन्' पद द्वितीया विभक्त्यन्त है, अतएव 'व्रीहि' कर्म कारक होने से साध्य हुआ और इसलिये

'प्रोक्षति' क्रियापदबोध्य प्रोक्षण (छिड़कना) उसका साधन हुआ। अभिप्राय यह है कि 'व्रीहि' साध्य होने से प्रधान अर्थात् अङ्गी है और उसका साधनभूत 'प्रोक्षण' व्रीहि का अङ्ग हुआ। सारांश यह है कि द्वितीया विभक्ति से 'प्रोक्षण' व्रीहि का अङ्ग सिद्ध होता है। यही अर्थ **प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्त्वं द्वितीयाश्रुत्या** इन शब्दों का है।

प्रोक्षण व्रीहि का अङ्ग है सही, किन्तु प्रश्न यह है कि प्रोक्षण का प्रयोजन है क्या? क्या प्रोक्षण से व्रीहि अपने स्वरूप को प्राप्त करता है? उत्तर मिलेगा—नहीं (**प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्**); क्योंकि बिना प्रोक्षण किये भी व्रीहि व्रीहि ही रहते हैं (**तस्य व्रीहिस्वरूपस्य तेन प्रोक्षणेन विना अपि उपपत्त सिद्धत्वात्**)। पुनश्च प्रोक्षण के द्वारा व्रीहि के स्वरूप में कोई विशेषता भी आती नहीं देखी जाती। अतएव प्रोक्षणक्रिया का कोई ऐसा नहीं प्रयोजन जो दृष्ट हो—जिसे प्रत्यक्षतः देखा जा सके। फिर प्रोक्षण का क्या प्रयोजन है? ग्रन्थकार का उत्तर है कि उससे अपूर्व या अदृष्ट की उत्पत्ति होती है; अतएव प्रोक्षण अपूर्व के साधनार्थ व्रीहि का अङ्ग होता है (**किन्तु तच्च अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्**[1])। यदि व्रीहि का प्रोक्षण नहीं किया जायेगा तो अपूर्व की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी (**व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तिः**) और बिना अपूर्व की उत्पत्ति हुये याग के फल की प्राप्ति भी नहीं होगी। यही स्थिति अन्य अपूर्व-प्रयोजक अङ्गों के विषय में भी समझना चाहिये। **आज्यमवेक्षते** विधि में आज्याङ्गभूत अवेक्षण क्रिया भी अपूर्वफलक है, क्योंकि उस आज्यावेक्षण (घृतदर्शन) का कोई दृष्ट फल नहीं है।

ध्यान रहे कि 'प्रोक्षण' एवं 'अवेक्षण' आदि अङ्गभूत क्रियायें, जिन्हें अदृष्टार्थक कहा जाता है, उन्हें केवल अदृष्टार्थक ही समझना चाहिये, क्योंकि उनका विनियोग अपूर्व की उत्पत्ति के लिये होता है; किन्तु 'अवघात' आदि अङ्गभूत क्रियायें, जिन्हें दृष्टार्थक कहा गया है;[2] दृष्टार्थक होने के साथ ही साथ अदृष्टार्थक भी होती हैं; ऐसा न मानने पर प्रासङ्गिक वितुषीकरणरूप दृष्ट प्रयोजन नखविदलन आदि अन्य क्रियाओं से भी सम्पन्न हो सकता है। किन्तु उस स्थल पर नियम-विधि द्वारा केवल वही क्रिया करने का विधान किया जाता है[3], अन्यथा क्रियाजन्य अपूर्व की उत्पत्ति नहीं मानी जा पायेगी, जो कि मानी जा...

---

१. तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थं..............किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। वाक्य का अन्वय इस प्रकार होगा—
प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्तु तच्चापूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्।
'तच्च' से 'प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम्' गृहीत होता है और 'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्' से अ...
होता है। देखिये—
तच्चेति। प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम् चेत्यर्थः। तच्चेत्यस्यापूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमित्यनेनान्वयः।
(कौमुदी)

२. तत्र दृष्टार्थमवघातादि। (विभागसंख्या-४...

३. देखिये—नियमविधिप्रकरण (विभागसंख्या-६...

है एवं 'नियमापूर्व' शब्द द्वारा कथित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि **व्रीहीनवहन्ति** इस विधि-स्थल में 'अवघात' केवल तुषविमोचन (भूसी हटाने-मात्र) के लिये होता तो भूसी अवघात द्वारा न हटाकर नखविदलन द्वारा भी हटाई जा सकती थी; किन्तु नाखून द्वारा धान की भूसी को हटाने से अपेक्षित अपूर्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगी, इसीलिये दृष्टार्थक क्रियायें दृष्टार्थक होते हुये भी अपूर्वार्थक (अदृष्टार्थक) भी होती हैं।[1]

'आरुण्य' गुण है और क्रयण क्रिया है। गुण और क्रिया दोनों अमूर्त हैं। दो प्रकार के अमूर्तों के अङ्गत्व पर विचार करने के पश्चात् एक अन्य अमूर्त पदार्थ—मन्त्र के अङ्गत्व पर विचार किया गया है। **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते** यहाँ 'अश्वाभिधानीम्' पद में द्वितीया विभिक्ति है, अतएव द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य** यह मन्त्र अश्वाभिधानी (घोड़े के गले में बँधी हुई रस्सी[2]) के ग्रहण का अङ्ग होता है। **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य** यह मन्त्र तैत्तिरीयसंहिता (५.१.२.१) में प्राप्त होता है एवं इसका उल्लेख करके **अश्वाभिधानीम् आदत्ते** इस प्रकार का विनियोग शतपथब्राह्मण (१३.१८.१) में मिलता है। महानिचयन प्रकरण में मिट्टी की यज्ञवेदी बनाने के लिये अध्वर्यु एक अश्व एवं एक गर्दभ से अरण्य जाकर मिट्टी लाये, ऐसा विधान है। अध्वर्यु[3] अश्वरशना को पकड़ते समय **इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य** मन्त्र को पढ़े, ऐसा विधान है। द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति से मन्त्र अङ्ग बनता है और 'अश्वाभिधानी का ग्रहण' अङ्गी। इस प्रकार अमूर्त मन्त्र भी द्वितीया विभक्ति द्वारा अश्वाभिधानी के ग्रहण का अङ्ग हुआ समझा जाता है। मन्त्रोच्चारण अदृष्टार्थक है, क्योंकि इसका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है; अन्यथा मन्त्रोच्चारण के बिना भी अश्वरशना का ग्रहण किया जा सकता था।

प्रसङ्ग—सप्तमी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से अङ्गत्व समझा जाता है तथा इसी प्रकार अन्य अनुल्लिखित विभक्तियों से भी अङ्गत्व का बोध होता है, इसी विषय का उल्लेख किया जा रहा है—

२७. सप्तमीविभक्तिश्रुतेरुदाहरणम्

'यदाहवनीये जुहोति' इत्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः'।

अर्थ—**यदाहवनीये जुहोति** (अर्थ—'आहवनीय अग्नि में हवन करे') इस वाक्य

---

१. यत्र दृष्टार्थता न सम्भवति, तादृशाङ्गेषु केवलापूर्वप्रयुक्तत्वम्, यत्र तु दृष्टार्थता, तत्र नियमापूर्वप्रयुक्तत्वमित्यर्थः। (सारविवेचिनी)

२. तत्राश्वगले बद्धा रज्जुरश्वाभिधानी। (सारविवेचिनी)

३. चार ऋत्विकों में से एक। होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा—ये चार ऋत्विक हैं। अध्वर्यु यजुर्वेद का ऋत्विक् है।

के 'आहवनीये' पद में श्रुत सप्तमी विभक्तिरूपा श्रुति से यह बोध होता है कि 'आहवनीय' अग्नि 'याग' का अङ्ग है। इसी प्रकार विभक्तिश्रुति से अन्य विनियोग भी समझे जाने चाहिए।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**सप्तमीविभक्तिरूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—यदाहवनीये इति। एवमन्योऽपीति। 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोती'त्यादौ होमानुवादेन दध्यादेस्तदङ्गत्वे तृतीयाविभक्तिश्रुत्या विनियोग इत्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—यदाहवनीये जुहोति विनियोगविधि है। 'होम' क्रिया है, वह आहवनीय नामक अग्नि में सम्पन्न होती है, अतएव अधिकरण होने के कारण 'आहवनीये' में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। यहाँ सप्तमी विभक्तिबोध्य अधिकरण (आधार) 'आहवनीय' गुण हुआ और आधेय—'होम' प्रधान।

विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के जो उदाहरण अभी तक दिये जा चुके हैं[१] वे तृतीया, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्तिरूप हैं। चतुर्थी, पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति के उदाहरण मूल ग्रन्थ में नहीं दिये गये हैं, अतएव मूल में अनुल्लिखित ये विभक्तियाँ भी जहाँ विनियोगविधि के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होती हैं, विनियोगविधि द्वारा अङ्गत्व-बोध में सहायिका होती हैं। जैसे **मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति** यहाँ चतुर्थी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'मैत्रावरुण' नामक पुरोहित 'दण्ड-प्रदान' क्रिया का अङ्ग समझा जाता है। **अग्नेः तृणान्यपचिनोति** में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्तिरूपा श्रुति से 'अग्नि' तृणापचयन' (तिनके हटाने) क्रिया का अङ्ग समझा जाता है। **यजमानस्य याज्या** में प्रयुक्त षष्ठी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से यह बोध होता है कि यमजान 'याज्या' का अङ्ग है।[२] उक्त विवरण से यह भी सिद्ध होता है कि प्रकृत स्थल में द्वितीया विभक्त्यन्त पदार्थ अङ्गी होता है; किन्तु अन्य विभक्त्यन्त पदार्थ अङ्ग होते हैं।

इस प्रकार विनियोक्त्री श्रुति के प्रथम प्रभेद विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का प्रभेद सहित विवेचन समाप्त हुआ।

प्रसंङ्ग—विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के विवेचन होने के पश्चात् अब विनियोक्त्री श्रुति के द्वितीय प्रभेद—'एकाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति' एवं तृतीय प्रभेद—'एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति' का विवेचन किया जा रहा है—

---

१. यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विभक्तियों में से चूँकि द्वितीया और सप्तमी दोनों आदि एवं अन्तभूत विभक्तिश्रुति के द्वारा विनियोग बताया गया है, इससे प्रतीत यह होता है कि अनुक्त चतुर्थी, पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्तिश्रुति से भी विनियोग होता है अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव समझा जाता है। उन विभक्तिश्रुति से होने वाले विनियोग के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं।

२. सर्वेभ्यः कामेभ्यो दशपूर्णसासौ, मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति अग्ने तृणान्यपचिनोति, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्, यजमानस्य याज्या इत्यादौ चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीविभक्तिभिः विनियोगो बोध्य इत्यर्थः। (सारविवेचिनी)

२८. एकपदैकाभिधानश्रुत्योरुदाहरणम्

'पशुना यजेत' इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। 'यजेत' इत्याख्याताभिहितसङ्ख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव। एकपदश्रुत्या च यागाङ्गवत्म्।

अर्थ—'पशुना यजेत' इस विधि में श्रुत 'टा' प्रत्ययरूप समानाभिधानश्रुति से यह ज्ञात होता है कि 'एकत्व' सङ्ख्या एवं 'पुंस्त्व'—ये दोनों करण कारक (पशु) के अङ्ग हैं। इसी प्रकार 'यजेत' पद में श्रुत 'त' प्रत्यय-रूप समानाभिधान श्रुति से यह बोध होता है कि आख्यातबोध्य सङ्ख्या (एकत्व) उसी 'त' प्रत्यय से बोध्य भावना का अङ्ग है और यजेत-रूप एक पदश्रुति से यह बोध होता है कि सङ्ख्या (एकत्व) याग का अङ्ग है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एकाभिधानरूपामेकपदरूपां च विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति—पशुना यजेतेतीति। पशुनेत्यत्रैकपदश्रुत्या ह्येकत्वपुंस्त्वयोः पशुद्रव्याङ्गत्वमेकाभिधानश्रुत्या च कारकाङ्गत्वं च भवति। यजेतेत्यत्राप्याख्याताभिहितसङ्ख्याया एकाभिधानश्रुत्या भावनाङ्गत्वमेकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वं च भवतीति भावः। यजेतेत्यभिहितसङ्ख्यायाः समानाभिधानश्रुतेरेव भावनाङ्गत्वमिति सम्बन्धः। समानाभिधानश्रुतेरेवेति। एकशब्दरूपप्रत्ययश्रुतेरेवेत्यर्थः। अभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्याभिधानशब्देन शब्द उच्यते। पदश्रुत्या चेति। यजेतेत्येकपदश्रुत्या चेत्यर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्—यथा 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टी'त्यत्रैकत्वमुद्देश्यगतत्वेनाविवक्षितं तथा प्रकृते नोद्देश्यगतमेकत्वं किन्तु विधेयगतत्वेन विवक्षितमेव। न च ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्र नोद्देश्यगतमेकत्वं किन्तु स्वयं विधेयमिति वाच्यम्। 'ग्रहं सम्मृज्याद्यं सम्मृज्यात्तैश्चैक'मिति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तथा च ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्येप्सिततमत्वेनोद्देश्यत्वात्प्रयोजनत्वाच्च प्राधान्यं गम्यते। सम्मार्गस्तु ग्रहं प्रति गुणभूत एव। ततश्च 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय' इति न्यायाद्यावन्तो ग्रहास्तावतां सर्वेषां सम्मार्ग इति निश्चये सति कति ग्रहाः सम्मार्जनीया इति बुभुत्साया अभावादुद्देश्यगतमेकत्वं श्रूयमाणमपि न विवक्ष्यते। यस्य च विशेषणस्य विवक्षामन्तरेणोद्देश्यप्रत्ययो न पर्यवस्यति तादृशं विशेषणमुद्देश्यगतमपि विवक्ष्यत एव, यथा तत्रैव ग्रहत्वं तद्विवक्षामन्तरेण चोद्देश्यस्वरूपं ज्ञातुमशक्यमेव उद्देश्यतावच्छेदकनिर्णयमन्तरेण चमसेष्वपि सम्मार्गप्रसङ्गात्। तेन च तत्र तद्वारणं फलम्। 'पशुना यजेते'त्यत्र तु यागं प्रति पशोर्विधेयत्वेन गुणभूतत्वात् 'प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय' इति न्यायप्रवेशो नास्ति। यागस्य च प्रधानत्वादिति। कियता पशुना यागः कर्तव्य इति बुभुत्सायाः सत्त्वादेकवचनेन प्रतीयमानं विधेयगतमेकत्वं विवक्षितमेव। किञ्च लिङ्गसङ्ख्याविशेषितस्यैकपदोपात्तस्य पशुद्रव्यरूपकारकस्य विधेयपशुद्वारा तत्तल्लिङ्गसङ्ख्यादेरपि क्रियाङ्गत्वादेकत्वादिकं विवक्षितम्। किञ्च तृतीयया विभक्त्याऽभिहितयो-

लिङ्गसङ्ख्ययोर्विभक्त्यभिहिततया करणकारकशक्त्यात्मसात्कृतयोः प्रातिपदिकार्थपशु-द्रव्येण सह सम्बन्धमानदृत्य पशुवदेव साक्षाद्यागक्रियाङ्गत्वेन विधौ पश्चादरुणैकहायनी-न्यायेन वा परस्परमन्वयोऽपि भवति—यो यागाङ्गत्वेन विहितः पशुः पुमांश्चेति। तस्मा[त्] सर्वथा पश्वेकत्वादिकं विवक्षितमेवेति।

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने विनियोक्त्री श्रुति के विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा एवं एक-पदरूपा—तीन प्रभेदों का उल्लेख (विभागसङ्ख्या २५ में) किया था, जिनमें से विभक्ति-रूपा विनियोक्त्री श्रुति का विवेचन इससे पूर्व किया जा चुका है। यहाँ 'एकाभिधानरूपा' एवं 'एकपदरूपा' प्रभेद के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है। ग्रन्थकार ने यहाँ 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग न करके इसके स्थान पर 'समानाभिधान' पद का प्रयोग किया है। यद्यपि इन दोनों शब्दों के अर्थों में कोई अन्तर नहीं है; किन्तु संज्ञा में परिवर्तन कर देना उचित नहीं प्रतीत होता है। हमारे ग्रन्थकार 'मीमांसान्यायप्रकाश' से प्रायः वाक्य के वाक्य कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत कर देते हैं; किन्तु कहीं-कहीं वे मूल वाक्य को ज्यों का त्यों रख देते हैं। इसलिए उक्त संज्ञा-स्खलन हो गया है। विनियोक्त्री श्रुति के प्रभेद करते हुये 'मीमांसान्यायप्रकाश' के ये शब्द हैं—**सा च त्रिधा विभक्तिरूपा समानाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति** एवं विवेचन करते समय उन्होंने इस प्रकार लिखा है—**पशुना यजेतेत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसङ्ख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेः। एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्।** किन्तु लौगाक्षिभास्कर ने विनियोक्त्री के प्रभेदों का उल्लेख करते समय 'समानाभिधान' शब्द का प्रयोग न करके 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग किया है—**सापि त्रिविधाविभक्तिरूपा एकाभिधानरूपा एकपदरूपा चेति।** किन्तु इन प्रभेदों का विवेचन करते समय उन्होंने उक्त स्वकृत परिवर्तन को भूलकर 'मीमांसान्यायप्रकाश' के वाक्यों को शब्दशः (एवकार को छोड़कर) उद्धृत कर दिया हैं। इसीलिये उक्त स्खलन हो गया है—**पशुना यजेत' यत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। 'यजेत' इत्याख्याताभिहितसङ्ख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव। एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्।**

'पशुना यजेत' यह एक विधिवाक्य है। इसमें दो पद हैं—एक 'पशुना' और दूसरा 'यजेत'। 'पशुना' में 'टा' (ना) प्रत्यय है और 'यजेत' में 'त' प्रत्यय। यहाँ 'टा' एवं 'त' प्रत्ययों को 'समानाभिधान' (एकाभिधान)-रूपा विनियोक्त्री श्रुति के उदाहरण एवं 'यजेत' पद को 'एकपदरूपा' विनियोक्त्री श्रुति के उदाहरण की दृष्टि से विचार किया गया है। 'टा' प्रत्यय के वाक्य कारक (करण), एकत्व (सङ्ख्या) एवं पुंस्त्व लिङ्ग हैं, अतएव इन तीनों के एक (समान) प्रत्यय (टा) से ही अभिहित अर्थात् कथित होने के कारण (टा) प्रत्यय को एकाभिधान या समानाभिधान कहते हैं। इन तीनों में से करण मुख्य है

क्योंकि कारक का ही साक्षात् क्रिया से अन्वय होता है, सङ्ख्या आदि का नहीं। 'सङ्ख्या' आदि 'कारक' की अपेक्षा गौण होती हैं; अतएव एकत्व सङ्ख्या एवं पुंस्त्व लिङ्ग कारक के अङ्ग होते हैं। यद्यपि लिङ्ग एवं सङ्ख्या प्रातिपदिक के अर्थभूत पशु में वर्तमान रहने के कारण उनके अङ्ग कहे जाने चाहिये; क्योंकि **पशुना यजेत** का यही अर्थ होता है कि 'एक नरपशु से याग करना चाहिये'। इस प्रकार सङ्ख्या आदि प्रातिपदिकार्थ से ही साक्षात् सम्बद्ध रहते हैं।[१] किन्तु करण एवं सङ्ख्या आदि एकप्रत्ययगम्य होते हैं; अतएव करण की उपस्थिति मन में शीघ्र होती है और प्रत्ययार्थ प्रधान होता है, इसलिये सङ्ख्या एवं लिङ्ग का अन्वय कारक से ही हुआ माना गया है।[२]

'यजेत' पद में 'त' प्रत्यय है। इसी 'एक' प्रत्यय से एकत्व सङ्ख्या एवं भावना (आर्थी) दोनों अर्थों का अभिधान होता है (देखिये—विभाग-सङ्ख्या ९)। अतएव 'त' प्रत्यय एकाभिधान अर्थात् समानाभिधान है, इसीलिये 'त' प्रत्यय के वाच्च सङ्ख्या एवं भावना (आर्थी) में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है। यहाँ सङ्ख्या अङ्ग है एवं भावना अङ्गी। 'भावना' पद से आर्थी भावना ली जानी चाहिये; क्योंकि शाब्दी भावना का साध्य होने के कारण शाब्दी भावना की अपेक्षा आर्थी भावना ही मुख्य है। ध्यान रहे; यहाँ एकाभिधान अर्थात् समानाभिधान का अर्थ एकप्रत्ययाभिधान अर्थात् समानप्रत्ययाभिधान समझना चाहिये।

'एकपदरूपा' विनियोक्त्री श्रुति का उदाहरण 'यजेत' यह तिङन्त पद है, जिससे पूर्ववत् सङ्ख्या भी अभिहित होती है और धात्वर्थ याग भी। स्वर्गसाधनभूत याग सर्वापेक्षया मुख्य होने के कारण अङ्गी होता है एवं सङ्ख्या तदपेक्षया गौण होती है। अतएव 'यजेत' इस एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति से सङ्ख्या याग का अङ्ग समझी जाती है।

प्रसङ्ग—अमूर्त होने पर भी सङ्ख्या भावना का अङ्ग हो सकती है, इस विषय का उल्लेख किया जा रहा है—

२९. अमूर्तपदार्थस्यापि भावनाङ्गत्वम्

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम्। कर्तृपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः। आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।

अर्थ—यह भी कहना उचित नहीं है कि 'वह अमूर्त सङ्ख्या भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है? यह इसलिये कि कर्ता के व्यावर्तक होने के कारण सङ्ख्या भावना का अङ्ग

१. एवं च पुमानेक एव पशुरालब्धव्य इति सिद्धम्। (सारविवेचिनी)

२. यद्यपि लिङ्गसङ्ख्ययोः प्रातिपदिकार्थनिष्ठत्वेन तदङ्गत्वमेव वक्तुं युक्तम्, तथापि करणत्वस्य एकप्रत्ययगम्यत्वेन शीघ्रमुपस्थितत्वात् प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्याच्च पूर्वं तत्रैवान्वयः। (सारविवेचिनी)

होती है। यद्यपि यहाँ कर्ता का वाचक कोई पद नहीं है, फिर भी कर्ता का आक्षेप होता है। कर्ता का आक्षेप अर्थापत्ति प्रमाण से इस प्रकार होता है—आख्यात का वाच्य भावना होती है, भावना कर्ता के बिना सम्पन्न नहीं होती है, इसलिये भावना के द्वारा कर्ता का आक्षेप होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु सङ्ख्याया न यागाङ्गत्वं भावनाङ्गत्वं च भवति, गुणत्वेनामूर्तत्वात्। न ह्यमूर्तस्य रूपादेः कुत्रचिदङ्गत्वं दृश्यते, व्रीह्यादिद्रव्यस्यैव मूर्तभूतस्य ह्यङ्गत्वमित्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। भावनाया यागस्याप्युपलक्षणत्वम्। न चेति प्रतिषेधे हेतुमाह—कर्त्रिति। कर्तुरर्थभावनारूपव्यापारवतो यागकर्तुः परिच्छेदद्वारा सङ्ख्याया भावनाद्यङ्गत्वोपपत्तेरित्यर्थः। नन्वेवं समानाभिधानश्रुत्या साक्षादेव कर्तरि सङ्ख्याख्यातार्थभूतान्वये तु तस्यैवाख्यातार्थत्वात्, भावना तु कर्तृव्यापारभूता धातुनापि लभ्यते। यथा चोक्तम्—

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृता। इति।

फलं विक्लित्त्यादि व्यापारस्तु भावनाभिधस्तत्र धातुः स्मृतः। आश्रये तु फलाश्रये कर्मणि व्यापाराश्रये कर्तरि च तिङः स्मृता इति वैयाकरणवृद्धवचनपदार्थः। न च कर्तुराख्यातवाच्यत्वमप्रामाणिकमिति वाच्यम्। 'लः कर्मणि च भवे चाकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) इति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव चकारात् 'कर्तरि कृत्' इति सूत्रोक्तकर्तरीत्यनुकर्षणेन लकाराणां सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि चाकर्मकेभ्यश्च भावे कर्तरि च विधायकस्य प्रमाणत्वात्। तस्मात्कर्तर्येव समानाभिधानश्रुत्याख्यातार्थसङ्ख्या सम्बध्यते न भावनायामित्याशङ्क्याह—कर्ता चाक्षेपलभ्य इति। आक्षेपोऽनुमानमर्थापत्तिर्वा तादृशाक्षेपलभ्योऽनुमेयः कल्प्यो वेत्यर्थः। तथा च भावना साश्रया गुणत्वाद् व्यापारविशेषत्वाच्च सम्प्रतिपन्नगुणवत्तादृशव्यापारविशेषवच्च। तथा लोके व्यापारविशेषस्य निराश्रयस्यादर्शनाद्भावनारूपो व्यापारविशेषोऽप्यन्यथानुपपद्यमानः स्वाश्रयमाक्षिपतीत्यर्थापत्तिः। न चाचेतनस्यैव कस्यचिदाश्रयस्य लाभ इति वाच्यम्। कृतिशब्दाभिधेयस्य भावनारूपव्यापारविशेषस्याचेतनाश्रयत्वानुपपत्तेः, किञ्च भावनाक्षिप्ते च कर्तर्याख्यातस्य लक्षणास्वीकारान्न शाब्द्याः सङ्ख्याया अशाब्देन कर्त्रान्वयानुपपत्तिः। तस्यापि लक्षणया शब्दत्वात्। शब्दगम्यत्वस्य हि शाब्दत्वात्। न च कर्तुरिवाख्यातवाच्यत्वेन भावनाया आक्षेपलभ्यत्वं स्यादिति वाच्यम्। कृतिमत एव कर्तृत्वेन कृतेरेव भावनापरनामधेयाया आकृत्यधिकरणन्यायेनाख्यातवाच्यत्वसम्भवे तद्वतः कर्तुराख्यातवाच्यत्वकल्पनाया गौरवात्। किञ्च यस्य हि प्रकारान्तरेणालाभः स एव शब्दस्यार्थो भवति, न तु तदन्यः शब्दवाच्यार्थः 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इति न्यायात्। अत एव न तीरं गङ्गापदार्थः, तस्य लक्षणयैव प्रतिपन्नत्वात्। एवं चोक्तन्यायेन भावनाया आख्यातवाच्यत्वे सम्प्रतिपन्ने तया च कर्तुराक्षेपलाभे पुनरपि तस्याख्यातवाच्यत्वकल्पनं न न्यायविदां शोभते। न च 'लः कर्मणि च

भावे चाकर्मकेभ्यः' (३.४.६९) इति मुनिस्मरणबलादेव कर्तुराख्यातवाच्यत्वं न स्वयं कल्पितमिति युक्तम्। वाच्यवाचकभावस्योक्तन्यायसहकृतान्वयव्यतिरेकगम्यत्वेन तस्य मुनिस्मरणाप्रयोज्यत्वात्। तत्र कर्तृकर्मपदयोः कर्तृत्वकर्मत्वपरत्वेन तस्य कृतिकर्मत्वयोर्लकारविधायकत्वसम्भवाच्च। किञ्च नास्य स्मरणस्य कर्तुराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणत्वं सम्भवति 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१.४.२२) 'बहुषु बहुवचनम्' (१.४.२१) इत्यनेन सूत्रेण तस्य स्मरणस्यैकवाक्यत्वेन कर्तुरेकत्व एकवचनात्मको लकारो द्वित्वे द्विवचनात्मको बहुत्वे बहुवचनात्मको लकारो भवेदित्यस्मिन्नेवार्थे प्रमाणत्वात्। न च कर्तुराख्यातानभिधेयत्वे देवदत्तेन पचतीति प्रयोगापत्तिः। अनभिहितयोः कर्तृकरणयोः कर्तृकरणयोस्तृतीयाया एव विहितत्वादिति वाच्यम्। उक्तन्यायेन कर्तुर्भावनयैवाक्षेपात्, तद्गतसङ्ख्यायाश्चाख्यातेनैव प्रतीतेस्तृतीयायाः कर्तृप्रतिपत्त्यर्थत्वतद्गतसङ्ख्याप्रतिपत्त्यर्थत्वयोरसम्भवात्। तथा चोक्तं वृद्धैः—

सङ्ख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्तते।
उभयं चात्र तत्सिद्धं भावनातिङ्विभक्तितः।। इति।

न च कृतामपि ण्वुल्तृजादीनां कर्तृवाचकत्वं न स्यात्तत्र मानस्य वक्तव्यत्वादिति वाच्यम्। 'कर्तरि कृदि'ति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव तेषां तत्र शक्तिग्राहकत्वात्।

ननु तर्हि 'कर्तरि कृदि'ति सूत्रादेव 'लः कर्मणी'त्यत्र कर्तृपदमनुवर्तते। तथा च तत्र तस्य धर्मिपरत्वेऽत्रापि तत्परता न्याय्या। अत्र धर्मपरतायां तु तत्रापि धर्मपरतैव स्यादिति चेन्न। शब्दाधिकाराश्रयणादनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरतायां बाधकाभावात्। न च शब्दाधिकाराश्रयस्य गमकमन्तरेणासम्भवात्कृतामिवाख्यातस्यापि कर्तृवाचित्वमेवास्त्विति वाच्यम्। कृतिमत इत्यादिना तत्र गमकस्य दर्शितत्वात्। तथा च कृतिशब्दाभिधेयस्य कर्तृधर्मस्याख्यातवाच्यत्वे सिद्धेऽनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरत्वमेव न्याय्यम्। समुच्चयार्थकेन 'लः कर्मणि चे'ति सूत्रस्थचकारेणैव वा कर्तृधर्मस्यैव लाभो भवति, न कर्तृपदानुवृत्तिः कर्तव्या, कल्पनालाघवात् पूर्वोक्तन्यायेन कर्तृधर्मस्य भावनारूपस्याख्यातवाच्यत्वसिद्धेश्चेत्यलमतिविस्तरेण।

तस्माद्भावनेवाख्यातवाच्या न कर्ता तद्वाच्य इत्यभिप्रेत्याह—आख्यातेन हि भावनोच्यत इत्यादिना। सा कर्तृव्यापाररूपा भावना कर्तारं विनानुपपद्यमाना पूर्वोक्तप्रकारेण कर्तारमाक्षिपतीत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—विभागसङ्ख्या २८ में यह बतलाया गया है कि भावना सङ्ख्या का अङ्ग होती है, किन्तु सङ्ख्या अमूर्त है, अतः वह भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है? यह प्रश्न है। ऐसा ही प्रश्न इसके पूर्व विभागसङ्ख्या २५ के अन्तर्गत हो चुका है तथा उसका उत्तर भी वहीं दे दिया गया है। प्रश्न यह था कि 'आरुण्य' गुण होने के कारण अमूर्त है, फिर

वह 'क्रयण' क्रिया का अङ्ग कैसे हो सकता है? आरुण्य के अङ्गत्व की सिद्धि में जो समाधान वहाँ मिलता है, प्रायः वही समाधान यहाँ भी है। वहाँ आरुण्य 'गोद्रव्यपरिच्छेदद्वारा' क्रिया का अङ्ग बनता है और यहाँ सङ्ख्या 'कर्तृपरिच्छेदद्वारा' भावना का अङ्ग बनती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि सङ्ख्या 'कर्तृपरिच्छेदद्वारा' भावना का अङ्ग कैसे बनती है? जैसा कि पूर्व में विवेचन हो चुका है आख्यात—'त' प्रत्यय के सङ्ख्या एवं भावना दोनों अर्थ होते हैं। भावना सर्वापेक्षया मुख्य होती है; किन्तु कोई भी भावना भावक—कर्ता के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती; अतएव भावना की सिद्धि के लिये भावक कर्ता का होना अनिवार्य है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से कर्ता के आक्षेप (सिद्धि) हो जाने पर भी कर्ता एक होगा, दो होंगे या अनेक होंगे? यह प्रश्न उपस्थित होगा। तब 'यजेत' पद के 'त' प्रत्ययगत एकत्व सङ्ख्या कर्ता का परिच्छेद—व्यावर्तन करती है कि कर्ता एक होगा। इस प्रकार 'एकत्व' सङ्ख्या कर्ता को परिच्छिन्न करती है और कर्ता भावना का भावक होता है। इस प्रकार एकत्व सङ्ख्या कर्ता के परिच्छेदक होने के माध्यम से भावना का अङ्ग होती है। इसीलिये 'यजेत' पद का अर्थ यही समझा जाता है कि (एक व्यक्ति) याग करे। यद्यपि 'यजेत' पद के साथ 'एकजनः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है; फिर भी 'त' प्रत्यय से ही कर्तृगत एकत्व सङ्ख्या का बोध हो जाता है। यह सङ्ख्या पूर्वोक्त प्रकार से 'त' प्रत्ययबोध्य भावना का अङ्ग होती है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि 'व्रीहि' आदि की भाँति सङ्ख्या मूर्त नहीं है, जो कि क्रिया में विनियुक्त हो सके, तथापि अमूर्त होते हुये भी सङ्ख्या कर्ता का व्यावर्तन करने के कारण भावना का अङ्ग होती है। यह सही है कि मीमांसक आख्यात (यथा 'त' प्रत्यय) का अर्थ कर्त्ता न मानकर भावना मानता है, किन्तु भावना के सम्पन्न होने के कारण कर्त्ता का होना आवश्यक होता है। इस प्रकार आख्यात का वाच्य न होने पर भी कर्त्ता आक्षिप्त हो जाता है।

प्रसङ्ग—'श्रुति' प्रमाण 'लिङ्ग' प्रमाण से प्रबल होता है, इस विषय का विवेचन करते हैं—

३०. श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला

सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्य प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत् प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्र्या लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्, किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

अर्थ—पूर्वोक्त श्रुति लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणों से अधिक बलवती होती है। इसका कारण यह है कि लिङ्ग आदि स्थल में अङ्गाङ्गिभावबोधक श्रुति का साक्षात् श्रवण नहीं रहता है, अपितु उसकी कल्पना करनी पड़ती है। उन लिङ्ग आदि प्रमाणों से जब तक

प्रत्यक्षविनियोजक शब्द अर्थात् श्रुति की कल्पना की जाय तब तक प्रत्यक्ष श्रुति से विनियोग के हो जाने के कारण उन लिङ्गादि प्रमाणों की श्रुतिकल्पनाविषयक शक्ति खण्डित हो जाती है। इसीलिए लिङ्ग प्रमाण से **कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे** यह ऐन्द्री ऋचा इन्द्रपूजन का अङ्ग नहीं होती है, किन्तु **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इस वाक्य में श्रुत 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीया श्रुति से ऐन्द्री ऋचा 'गार्हपत्य' नामक अग्नि के पूजन का अङ्ग समझी जाती है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवं श्रुतेः प्रमाणान्तरनिरपेक्षविनियोजकत्वं निरूप्य तस्या लिङ्गादिभ्यः पञ्चभ्यः प्रमाणेभ्यः प्राबल्यमाह—सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबलेति। कुत इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह—लिङ्गादिषु न प्रत्यक्ष इत्यादिना। यावच्च लिङ्गादिभिर्विनियोजकः शब्दोऽर्थप्रकाशनादिना कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षोपलब्धया श्रुत्या शेषिणा शेषसम्बन्धबोधस्य कृतत्वेन लिङ्गादीनां विनियोजकश्रुतिकल्पनद्वारेण विनियोगशक्तेः प्रतिबद्धत्वादित्यर्थः। तत्र लिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्यसिद्ध्यैव तस्मादपि दुर्बलेभ्यो वाक्यादिभ्यस्तस्याः प्राबल्यसिद्धये तावल्लिङ्गात्प्राबल्यमुदाहरणं प्रदर्शयन्साधयति—अत एवेत्यादिना। अत एव लिङ्गादिभ्यः श्रुतेः प्रबलत्वादेव। ऐन्द्र्या इति षष्ठी 'नेन्द्र सश्चसी'तीन्द्रप्रकाशनसमर्थाया अपि ऋचो न लिङ्गादिन्द्रोपस्थानाङ्गत्वमित्यर्थः। ननु यदीन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादैन्द्र्या ऋच इन्द्रोपस्थानार्थत्वं न भवति तर्हि तत्रान्यप्रकाशनसामर्थ्यादर्शनेन तस्याः कस्यचिदप्युपस्थानार्थत्वासम्भवाद्वैयर्थ्यमेव स्यादित्याशङ्कते—किन्त्विति। यद्यपीन्द्रशब्दस्य गार्हपत्येऽग्नौ रूढिर्नास्ति तथापि तस्यैश्वर्यगुणयोगेन यागसाधनत्वेन वा मुख्येन्द्रसदृशत्वाद् गुणवृत्तिरस्ति। तथा चैन्द्र्यास्तत्प्रकाशनसामर्थ्यस्यापि सत्त्वेन द्वितीयाश्रुत्या तदुपस्थानार्थत्वं निर्विघ्नमुपपद्यत इति समाधत्ते—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमित्यादिना। अत्रायमाशयः—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपत्तिष्ठत इति श्रूयते। तत्र च 'कदाचनस्तरीरसि—नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इत्यसावृगैन्द्री तत्रेन्द्रस्य प्रकाशनात्। भो इन्द्र! कदाचिदपि न सश्चसि घातको न भवसि किन्त्वाहुतिं दत्तवते यजमानाय प्रीयस इति तस्या अर्थः। तत्रेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्मन्त्रस्येन्द्रविषयक्रियासाधनत्वं गम्यते। यद्यसौ मन्त्र इन्द्रप्रधानक्रियायाः साधको न भवेत् तदानीमनेन मन्त्रेणेन्द्रप्रकाशनं व्यर्थं स्यात्। तस्मादेतन्मन्त्रकरणकक्रियां प्रति इन्द्रः प्रधानमित्येतादृशबुद्ध्युत्पादनं लिङ्गविनियोगः। कासौ क्रियेति विशेषजिज्ञासायामैन्द्र्योपतिष्ठत इत्यनेनाविरुद्धपदद्वयरूपेण वाक्येनोपस्थानक्रियायां पर्यवसानं क्रियते। तथा सत्यैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेत्ययमर्थः पर्यवस्यति। तथा गार्हपत्यमित्यनया द्वितीयान्तपदरूपया श्रुत्या गार्हपत्यस्य प्राधान्यं गम्यते। तच्च गुणभूतां यत्किञ्चित्करणकक्रियामन्तरेण न सम्भवति। ततस्तादृशीं काञ्चित्क्रियां प्रति गार्हपत्यः प्रधानमित्येतादृशबुद्ध्युत्पादनं श्रुतिविनियोगः, ऐन्द्र्योपतिष्ठत इति पदद्वये मन्त्रविशेषक्रियाविशेषयोः पर्यवसानं भवति। तथा सत्यैन्द्रमन्त्रेण गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यर्थो भवति। यद्यपि प्रमाणत्वविशेष-

श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधे प्राप्ते व्रीहियववद्विकल्पः स्यात्। इन्द्रगार्हपत्ययोः प्रधानत्वविशेषा-दुपस्थानस्य च गुणत्वात् 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्ति'रिति न्यायेनोपस्थानावृत्त्या श्रुतिलिङ्गयोः समुच्चयो वा स्यात्। श्रुतिर्विनियुञ्जाना वस्तुसामर्थ्यमनुसृत्यैव विनियुङ्क्ते, अन्यथा वह्निना सिञ्चेद्वारिणा दहेदित्यपि विनियुज्येत। तस्मात्तदुपजीव्यत्वेन लिङ्गस्य प्रबलत्वादिन्द्र एव मन्त्रेणोपस्थेयो वा स्यात्। तथाप्यैन्द्रमन्त्रस्य गार्हपत्येऽग्नौ मुख्यवृत्त्या सामर्थ्याभावेऽपि गुणवृत्त्या सामर्थ्यस्योक्तत्वासामर्थ्याभावकृतप्रतिबन्धाभावान्निर्विघ्ना श्रुतिराशु विनियुङ्क्ते। लिङ्गं तु विलम्बेन विनियुङ्क्ते। तथा हि—तत्र प्रथमं मन्त्रपदानि स्वाभिधेयार्थं प्रतिपादयन्ति, तत ऊर्ध्वं मन्त्रस्य वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं निरूप्यते, तत ऊर्ध्वं च तत्सामर्थ्यवशात्साधनत्ववाचिनी प्रधानत्ववाचिनी च श्रुतिः कल्प्यते। कल्पिता च श्रुतिः पश्चादैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेति विनियुङ्क्त इति मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनविनियोगपयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपणश्रुतिकल्पनव्यापारौ भवतः। प्रत्यक्षश्रुतिविनियोगपक्षे तु मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनमात्रेण तस्या विनियोजकत्वसम्भवात्, न तौ मध्यवर्तिनौ व्यापारौ भवत इति श्रुतेः प्राबल्यात्तया लिङ्गं बाध्यते। न च प्रत्यक्षश्रुतिविनियोगवेलायामलब्धात्मकत्वेन प्राप्तं लिङ्गं श्रुत्या कथं बाध्यत इति वाच्यम्। तार्तीयबाधत्वेन भविष्यत्प्राप्तिबन्धस्यैवात्र बाधत्वात्। बाधश्च द्विविधः—प्राप्तबाधोऽप्राप्तबाधश्च। तत्र दशमे प्राकृतानामङ्गानां चोदकेन विकृतौ प्राप्तानां प्रत्याम्नानादर्थलोपात्प्रतिषेधाद्वा यो बाधः स प्राप्तबाधः। यथा चोदकप्राप्तानां प्राकृतानां कुशानां शरमयं बर्हिरिति प्रतिकूलशराम्नानाद्बाधः। यथा चावघातप्रयोजनस्य वैतुष्यरूपस्य लोपात्कृष्णलेष्ववघातस्य बाधः। यथा च पित्र्येष्टौ 'न होतारं वृणीत' इति प्रतिषेधाद्धोतृवरणस्य बाधः। अप्राप्तबाधस्तु तृतीयाध्याये यो बाधः। तत्र हि यावद्दुर्बलप्रमाणेन विनियोगः कर्तुमारभ्यते तावत्प्रबलप्रमाणेन विनियोगस्य कृतत्वादेव, तेन वा तद्बोधितेन वेतरबाधोऽप्राप्तबाध एव दुर्बलप्रमाणस्याप्रवृत्तत्वादेव। ततश्च कथञ्चित्प्राप्तभाविप्रवृत्तिप्रतिबन्धस्यैवात्र बाधत्वमिति सिद्धम्। तस्माद्, द्वितीयया श्रुत्या विनियुक्तस्यैव मन्त्रस्य पुनर्विनियोगाकाङ्क्षाया अनुदयाद्विनियोजकं तस्यैव लिङ्गं न प्राप्स्यति। तस्माद् गार्हपत्योपस्थान एव मन्त्रः प्रत्यक्षश्रुत्यैव विनियुज्यत इति सिद्धम्। एवमग्निचयने-समाम्नाता 'निवेशनः सङ्गमन' इत्यादिकापि काचिदृगैन्द्री भवति। तस्या उत्तरार्ध 'इन्द्रो न तस्था'विति पठनात्। सापि 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इति ब्राह्मणे तृतीययैन्द्र्येति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यते। तथा अपि पूर्वोक्तन्यायेन गार्हपत्यप्रकाशनसामर्थ्यस्य सत्त्वात्। न च मन्त्रस्थेन्द्रपदस्य गुणवृत्त्या गार्हपत्येऽग्नौ वृतत्वेऽपि रूढ्या तु स्वर्गाधिपतौ सहस्राक्ष इन्द्रे वृतत्वान्मन्त्रेण प्रकाशिते मुख्येन्द्रे मन्त्रब्राह्मणयोर्विवादपरिहाराय ब्राह्मणस्थगार्हपत्यशब्देन निरुक्तगुणसम्बन्धद्वारेणेन्द्रो लक्षणीय इति वाच्यम्। इन्द्रगार्हपत्यशब्दयोरन्यतरस्य गौणत्वेऽवश्यम्भाविनि सति मन्त्रस्य प्राप्तार्थत्वेनानुवादकत्वसम्भवान्मन्त्रस्थेन्द्रपदस्यैव गौणत्वस्य न्याय्यत्वात् ब्राह्मणवाक्यस्याप्राप्तार्थत्वेन विधायकत्वाद्विधौ लक्षणाया अन्याय्यत्वाच्च। तस्माद् गार्हपत्यप्रकाशने समर्थमेव मन्त्रमैन्द्र्येति तृतीया-

श्रुतिर्गार्हपत्योपस्थाने विनियुङ्क्त इति सिद्धम्। एवं श्रुतेर्लिङ्गस्य दौर्बल्यवल्लिङ्गादेः पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परस्य परस्य वाक्यादेरेकविनियोज्यविषयत्वेन विरोधे दौर्बल्यं, स्वार्थावबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेः। तथा च सूत्रं—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि'ति।

अर्थबोधिनी—कुछ विनियोग-स्थल ऐसे होते हैं, जहाँ श्रुति आदि अनेक प्रमाण इकट्ठे होकर विनियोग का बोध कराने लगते हैं, जैसे कि यदि श्रुति द्वारा पदार्थविशेष किसी एक का अङ्ग होता हुआ ज्ञात होता है तो लिङ्ग द्वारा वही पदार्थविशेष दूसरे का अङ्ग होता हुआ प्रतीत होता है; किन्तु कोई पदार्थ एक काल में एकाधिक पदार्थों का पृथक्-पृथक् अङ्ग नहीं हो सकता; अपितु 'एक पदार्थ' का ही अङ्ग हो सकता है। उसी अङ्गीभूत 'एक पदार्थ' का निश्चय श्रुति आदि प्रमाणों के परस्पर बलाबल से होता है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या—इन छः प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण से अपेक्षाकृत अधिक बलवान और पूर्ववर्ती प्रमाणों से अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल है। श्रुति प्रथम प्रमाण है। वह अपने परवर्ती 'लिङ्ग' प्रमाण से अधिक बलवान है। लिङ्ग वाक्य से बलवान किन्तु श्रुति से दुर्बल है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के विषय में भी समझना चाहिए। अन्तिम प्रमाणसमाख्या सर्वापेक्षया दुर्बल है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रुति लिङ्ग एवं तत्परवर्ती सभी प्रमाणों से बलवती है; इसीलिए ग्रन्थकार ने श्रुति को 'लिङ्गादिभ्यः प्रबला' कहा है।

श्रुति आदि छः प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण अपने परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा अङ्गाङ्गिभाव का बोध शीघ्र करा देता है। जो प्रमाण जितना अधिक परवर्ती होता है, वह अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराने में उतना ही अधिक दूर (विप्रकृष्ट) रहता है, अतएव अङ्गाभावबोधरूप प्रयोजन (अर्थ) से दूर होने के कारण परवर्ती प्रमाण अपने पूर्ववर्ती प्रमाण से अपेक्षाकृत दुर्बल होता है।[१]

लिङ्ग की परिभाषा अग्रिम विभाग में की गई है, जिसके अनुसार लिङ्ग का अर्थ 'शब्दसामर्थ्य' होता है। 'शब्दसामर्थ्य' से अभिप्राय शब्द के अभिधेय अर्थ के बोध कराने में क्षम 'रूढ्यात्मक शक्ति' से है।[२]

लिङ्ग के स्वरूप एवं श्रुति से उसकी दुर्बलता का स्पष्ट ज्ञान ग्रन्थोक्त उदाहरण पर विचार करने से हो जाता है। **कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे** इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद

---

१. श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। (जैमिनिसूत्र-३.३.१४)

२. 'गार्हपत्य' एक प्रकार की अग्नि होती है। अग्नियाँ तीन प्रकार की होती हैं—१. गार्हपत्य, २. दक्षिण एवं ३. आहवनीय।

(८.५१.१७) में मिलता है। इस ऋचा में 'इन्द्र' पद का प्रयोग हुआ है, इसलिये इस ऋचा को ऐन्द्री कहते हैं। प्रश्न यह है कि इस ऋचा का विनियोग कहाँ होना चाहिए? इस ऋचा में 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है तो क्या यह मन्त्र इन्द्रपूजन ('इन्द्रोपस्थान') का अङ्ग है? अथवा **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते** (मैत्रायणी संहिता-१.५.११) वाक्य के 'गार्हपत्यम्'–पदगत द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से 'गार्हपत्यपूजन' (गार्हपत्योपस्थान) का अङ्ग है? इस प्रकार **कदाचन स्तरीरसि** आदि एक ही ऋचा एक ही काल में लिङ्ग प्रमाण से इन्द्रपूजन एवं श्रुति प्रमाण से गार्हपत्यपूजन का अङ्ग हो रही है, जो कि सम्भव नहीं है; अतः यह निर्णय करना आवश्यक है कि श्रुति एवं लिङ्ग—इन दोनों में कौन अधिक बलवान है, जिसकी बलवत्ता के आधार पर उक्त मन्त्र को इन्द्रस्तुति अथवा गार्हपत्यस्तुति किसी एक का ही अङ्ग माना जा सके, यह जिज्ञासा होने पर निर्णय यह होता है कि 'श्रुति' यतः लिङ्ग से भी प्रबल है; क्योंकि वह लिङ्गापेक्षया शीघ्र गार्हपत्यस्तुति के प्रति मन्त्र की अङ्गता सिद्ध करती है; अतः मन्त्र गार्हपत्यस्तुति का ही अङ्ग सिद्ध हो जाता है। इस विषय को इस प्रकार समझना चाहिये कि लिङ्ग से विनियोग के बोध होने में अधिक समय लगेगा, वह इस प्रकार है—लिङ्ग से विनियोग-बोध होने में चार व्यापारों की आवश्यकता होती है—

१. **स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन**—सर्वप्रथम **कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे** इस मन्त्र के पदों का अभिधेय अर्थ ज्ञात होता है।

२. **वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण**—मन्त्रार्थबोध के पश्चात् 'इन्द्र' शब्द की शक्ति से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र इन्द्रपरक है।

३. **अङ्गाङ्गिबोधकश्रुतिकल्पना**—'मन्त्र इन्द्रपरक है' ऐसा बोध होने के पश्चात् 'इस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थापन करता है' ('अनेन मन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते') इस प्रकार की श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी।

४. **विनियोग**—उक्त श्रुति की कल्पना हो जाने के पश्चात् 'ऐन्द्रमन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठेत' (अर्थात् 'ऐन्द्र मन्त्र से इन्द्र की पूजा करे') इस प्रकार विनियोग होता है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि 'ऐन्द्र मन्त्र इन्द्रोपस्थापन का अङ्ग है' ('ऐन्द्रमन्त्रस्य इन्द्रोपस्थानाङ्गत्वम्')। इस प्रकार स्वार्थाभिधेयप्रतिपादन एवं विनियोग के बीच वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण एवं अङ्गाङ्गिबोधकश्रुतिकल्पना—इन दो व्यापारों का व्यवधान होता है।

---

१. तत्र प्रथमं मन्त्रपदानि स्वाभिधेयार्थं प्रतिपादयन्ति, तत ऊर्ध्वं मन्त्रस्य वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं निरूप्यते। तत ऊर्ध्वञ्च तत्सामर्थ्यवशात् साधनत्ववाचिनी प्रधानत्ववाचिनी च श्रुतिः कल्प्यते। कल्पिता च श्रुतिः पश्चादैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेति विनियुङ्क्ते इति मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनविनियोगयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपणश्रुतिकल्पनव्यापारौ भवतः। (कौमुदी)

किन्तु श्रुति के द्वारा विनियोग होने में केवल दो व्यापारों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते** यहाँ 'गार्हपत्यम्' पद में श्रुति है ही, उसकी कल्पना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; अतएव विनियोग के लिए दो व्यापारों का आवश्यकता होती है—

१. स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन अर्थात् **ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इस मन्त्र के पदों के अभिधेय अर्थ का ज्ञान। अभिप्राय यह है कि ऐन्द्री ऋचा के अर्थ-सहित **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** पदों का ज्ञान आवश्यक है।

२. विनियोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लिङ्ग' द्वारा विनियोग होने पर चार व्यापारों की आवश्यकता होती है, जबकि श्रुति द्वारा विनियोग होने पर केवल दो व्यापारों की। अभिप्राय यह है कि श्रुति के द्वारा विनियोग होने के स्थल में मन्त्रबोध के पश्चात् तुरन्त अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दो व्यापारों में ही श्रुति के द्वारा विनियोग हो सकता है, जबकि लिङ्ग द्वारा दो व्यापारों में वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण ही हो पाता है, अतएव श्रुतिविनियोगपक्ष में श्रुति द्वारा विनियोग हो चुकने के कारण लिङ्गविनियोग पक्ष में लिङ्ग द्वारा श्रुति की कल्पना करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, अतएव लिङ्ग की श्रुतिकल्पना-विषयक शक्ति खण्डित हो जाती है।

इसीलिये श्रुति लिङ्ग से प्रबल मानी जाती है और तदनुसार **कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे** यह मन्त्र श्रुति प्रमाण से गार्हपत्योपस्थान का अङ्ग होता है, न कि लिङ्ग से इन्द्रोपस्थान का।

ग्रन्थ के अन्य स्थलों में **व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्** (विभागसंख्या-२५), **आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्** (विभागसङ्ख्या-२५), **प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम्** (विभागसङ्ख्या-२६) **मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्** (विभागसङ्ख्या-२६) आदि पदों में 'अङ्गत्वम्' पद का प्रयोग किया गया है; किन्तु प्रकृत स्थल में **अत एवैन्द्र्या लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्** एवं **गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्** में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः 'अङ्गत्व' एवं 'अर्थत्व' पर्यायवाची शब्द हैं। प्रकृत 'अर्थत्व' को 'परार्थत्व' या 'पारार्थ्य' भी कहा जा सकता है।[1] अर्थसंग्रह के मूलभूत ग्रन्थ—'मीमांसान्यायप्रकाश' में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग मिलता है।[2] प्रायः सर्वत्र 'अङ्गत्वम्' पद का प्रयोग करने पर भी यहाँ श्रुतिलि-

१. एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते। (विभागसंख्या-२३)

२. अत एव 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र यावल्लिङ्गादैन्द्र्या इन्द्रोपस्थानाङ्गत्वं कल्प्यते तावत् प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्वं क्रियत इति ऐन्द्री गार्हपत्योपस्थानाङ्गम्। (मीमांसान्यायप्रकाश)

ङ्गबलाबलविचारस्थल में 'अर्थत्वम्' पद का प्रयोग करने का कारण 'श्रुति', 'लिङ्ग' आदि प्रमाणों के बलाबल का प्रतिपादन करने वाले जैमिनिसूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद का प्रभाव है।[1]

प्रसङ्ग—अब 'लिङ्ग' प्रमाण एवं 'समाख्या' प्रमाण की अपेक्षा उसकी प्रबलता का निरूपण किया जा रहा है—

३१. लिङ्गस्वरूपकथनम्

शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव, तेन समाख्यातोऽस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्य 'बर्हिर्दामि' इति लिङ्गात् तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः।

अर्थ—शब्द की अभिधा शक्ति को लिङ्ग कहा जाता है। इसीलिये तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—**सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते** अर्थात् 'सभी शब्दों में होने वाले सामर्थ्य को लिङ्ग कहा जाता है'। इसलिये समाख्या से यह लिङ्ग भिन्न माना जाता है, क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि यौगिक शब्द—समाख्या से रूढ्यात्मक लिङ्ग शब्द भिन्न होता है। इसीलिये तो **बर्हिर्देवसदनं दामि** यह मन्त्र 'कुशलवन' क्रिया का अङ्ग है, न कि उलप आदि तृणों के खण्डन का। **बर्हिर्दामि**-निष्ठ लिङ्ग से 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवन का बोध कराने में समर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिङ्ग द्वारा विनियोग समझना चाहिये।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवं श्रुतिं निरूप्य लिङ्गं लक्षयति—शब्दसामर्थ्यमिति। लिङ्गमिति लक्ष्यनिर्देशः। सामर्थ्यं लिङ्गमित्युक्तेऽङ्कुरादिजननानुकूलबीजादिसामर्थ्ये तत्प्रसङ्गः स्यात्तद्वारणाय—शब्देति विशेषणम्। सामर्थ्यं द्विविधं शब्दगतमर्थगतं चेति। तत्राद्यस्य लक्षणमत्रोक्तं तत्रैव वृद्धसम्मतिं प्रदर्शयंस्तदर्थमाह—यथाहुरित्यादिना। अन्त्यं तु यथा 'स्रुवेणावद्यती'त्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य लिङ्गात्सामर्थ्यरूपादाज्यसान्नाय्यादिद्रवद्रव्यावदानविशेषाङ्गत्वं स्रुवेण मांसादिद्रव्यावदानस्य कर्तुमशक्यत्वादिति। ननु रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो न भेदः स्यात्। तथा च 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्योलपादिलवनाङ्गत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह—समाख्यातो भेद इति। रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्येति शेषः। यौगिकशब्दरूपसमाख्यातो रूढ्यात्मकस्य लिङ्गशब्दस्य भेद एव प्रसिद्धेः। तथा च न तयोरभेद इत्यर्थः। समाख्यातो नाभेद इति पाठेऽपि स एवार्थः। रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो भेदे फलितमाह—तेनेति। रूढिसमाख्ययोर्मिथोभेदेन पुरोडाशसदन-

---

१. श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।
(जैमिनिसूत्र-३.३.१४)

भूतं बर्हिः खण्डयामीति श्रुतपदसामर्थ्यात् 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशकाशादि-रूपाणां मुख्यबर्हिषां लवनाङ्गत्वं न तु समाख्यातो दर्भसदृशानामुलपादिरूपतृणविशेषाणां गौणबर्हिषां लवनाङ्गत्वमित्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह—तस्येत्यादिना। तस्येति बर्हिर्देवेत्यादि-मन्त्रस्येत्यर्थः। तल्लवनमिति। कुशलवनमित्यर्थः।

एवमन्यत्रापीति। 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्व'वदग्नये जुष्टं निर्वपामी'त्यादिमन्त्रस्यापि निर्वापादिप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्निर्वापादौ विनियोग इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्—तस्य हि मन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं सम्भवति, यस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य मन्त्रस्य तदङ्गत्वमिति न्यायात्। तच्च लिङ्गं द्विविधं, सामान्यसम्बन्धबोधकप्र-माणान्तरापेक्षं तत्सापेक्षं चेति। तत्र यद्विना यन्न सम्भवति तस्य तदङ्गत्वम्। सामान्य-सम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्षकेवललिङ्गाद्भवति। यथार्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानाङ्गत्वम्, अर्थज्ञानं विना तदनुष्ठानासम्भवात्। यद्विना यत्सम्भवति तस्य तदङ्गत्वं तत्सापेक्षलिङ्गा-द्भवति यथोक्तमन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं निर्वापस्य हि सम्भवति, किंत्वपूर्वसाधनीभूतनिर्वाप-प्रकाशनार्थ एव। तादृशनिर्वाप्रकाशनार्थत्वं च न सामर्थ्यमात्राल्लभ्यते, सामर्थ्यस्य निर्वापप्रकाशनमात्रे सत्त्वात्। ततश्चावश्यं प्रकरणादिसामान्यसम्बन्धबोधकं प्रमाणं स्वीकर्तव्यम्, तथा च दर्शपूर्णमासप्रकरणे तस्य मन्त्रस्य पाठादेवानेन मन्त्रेण दर्शपूर्ण-मासापूर्वसम्बन्धिकिञ्चित्प्रकाश्यत इत्यवगम्यते। अन्यथा दर्शादिप्रकरणपाठस्य वैयर्थ्या-पत्तेः। किं तद्दर्शपूर्णमासापूर्वसम्बन्धि प्रकाश्यमित्याकाङ्क्षायां निर्वापप्रकाशनसामर्थ्या-त्पुरोडाशनिर्वाप इत्यवगम्यते। निर्वापश्च पुरोडाशसंस्कारद्वाराऽपूर्वसम्बन्धीति लिङ्गा-न्मन्त्रस्य निर्वापार्थत्वे सति न तस्यानर्थक्यापत्तिः। तस्मात् 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'ति मन्त्रस्य प्रकरणाद्दर्शपूर्णमाससम्बन्धितयाऽवगतस्य निर्वापप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गा-न्निर्वापाङ्गत्वमिति।

अर्थबोधिनी—शब्द की अभिधा शक्ति को 'लिङ्ग' कहा जाता है। अभिधा का अर्थ रूढि समझना चाहिये, यौगिक नहीं। जैसे 'कुशल' शब्द का रूढार्थ 'दक्ष' है, एवं यौगिकार्थ 'कुश लाने वाला' है। सारांश यह कि यहाँ लिङ्ग शब्द का तात्पर्य शब्द का रूढार्थबोधनसामर्थ्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि लिङ्ग रूढि है, जो यौगिक शब्द से सर्वथा भिन्न है। यौगिक शब्द को ही 'समाख्या' कहते हैं।

यद्यपि किसी शब्द के रूढार्थ एवं यौगिकार्थ—दोनों ही अर्थ हो सकते हैं; किन्तु रूढार्थ मुख्य होता है और यौगिकार्थ गौण। रूढार्थ की बुद्धि में उपस्थिति या प्रतीति प्रथमतः हुआ करती है और यौगिकार्थ की बाद में। इसीलिये रूढ्यात्मक लिङ्ग से विनियोग शीघ्र होता है एवं समाख्या से बाद में। अतएव यदि किसी स्थलविशेष में विभिन्न विषयों को समझाने के लिये ये दोनों प्रमाण एक काल में ही उपस्थित हो जाते हैं तो लिङ्ग द्वारा

ही विनियोग होता है, समाख्या द्वारा नहीं; क्योंकि लिङ्ग विनियोग का ज्ञान शीघ्र कराता है एवं समाख्या विलम्ब से। अतएव समाख्या की विनियोगबोधक शक्ति खण्डित हो जाती है। लिङ्ग द्वारा मन्त्र का विनियोगबोध होने में सर्वप्रथम—१. मन्त्र का स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन, उसके बाद २. वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरूपण, तत्पश्चात् ३. अङ्गाङ्गिभावबोधकश्रुतिकल्पना एवं अन्त में ४. विनियोगबोध होता है।

उदाहरण द्वारा इस विषय का स्पष्टीकरण हो जायेगा। **बर्हिर्देवसदनं दामि** एक मन्त्र है। 'बर्हिष्' शब्द का रूढार्थ 'कुश' एवं यौगिकार्थ 'उलप' (तृणविशेष) होता है। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि 'मैं' बर्हिष् को, जो कि देवताओं के बैठने का स्थान है, काटता हूँ। अब प्रश्न यह होता है कि यह मन्त्र कुशलवन (कुश काटने की क्रिया) में विनियुक्त होगा अथवा 'उलप' आदि के लवन में। लिङ्ग द्वारा विनियोग होने के लिये सर्वप्रथम मन्त्रार्थ का बोध आवश्यक है (स्वाभिधेयार्थप्रतिपादन)। इसके बाद मन्त्रगत 'दामि' एवं 'बर्हिष्' पदों के सामर्थ्य से यह ज्ञात होता है कि यहाँ कुश काटने का प्रसङ्ग है। पदसामर्थ्य ही लिङ्ग होता है। 'बर्हिष्' पद के लिङ्ग से ही 'कुश' का ग्रहण एवं उलप आदि अन्य तृणों का निरास हो जाता है (वस्तुसामर्थ्यनिरूपण)। इस प्रकार कुश काटने के प्रसङ्ग से श्रुति की कल्पना करनी होती है। श्रुति की कल्पना इस प्रकार होगी—'इस मन्त्र से कुश का लवन करना चाहिये'—मत्रेणानेन कुशलवनं कार्यम् (अङ्गाङ्गिबोधकश्रुतिकल्पना)। इसके पश्चात् श्रुति से विनियोगबोध इस प्रकार होगा—'अस्य मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वम्' (विनियोगबोध)।

इस प्रकार लिङ्ग द्वारा विनियोगबोध होने में उक्त चार व्यापारों की आवश्यकता होती है, किन्तु समाख्या के द्वारा विनियोग होने में और अधिक व्यापारों की आवश्यकता होती है; क्योंकि समाख्या के द्वारा विनियोग होने में उसे क्रमशः स्थान, प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग, श्रुति की सहायता लेनी होगी। बाद में कल्पित श्रुति से विनियोग होगा। इस प्रकार समाख्या से विनियोग का बोध विलम्ब से होता है, तदपेक्षया लिङ्ग से शीघ्र। अतएव प्रकृत स्थल में **बर्हिर्देवसदनं दामि** यह मन्त्र लिङ्ग प्रमाण से कुशलवन का अङ्ग होगा, उलप आदि के लवन का नहीं।

प्रसङ्ग—अब लिङ्ग अपने परवर्ती वाक्य आदि प्रमाणों से प्रबल होता है, इस विषय का निरूपण करते हैं—

३२. लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्

तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वं 'सदनं कृणोमि' इति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

अर्थ—वही पूर्वोक्त लिङ्ग प्रमाण वाक्य आदि परवर्ती प्रमाणों से प्रबल है। इसीलिए **स्योनं ते सदनं कृणोमि** इत्यादि मन्त्र **सदनं कृणोमि**-निष्ठ लिङ्ग से पुरोडाश के लि

स्थान-निर्माण की क्रिया का अङ्ग है और वाक्य प्रमाण द्वारा होने वाला विनियोग यहाँ मान्य नहीं है; क्योंकि वह लिङ्ग की अपेक्षा निर्बल है। 'स्योनं से सदनं कृणोमि' का अर्थ है—'हे पुरोडाश! मैं तुम्हारे लिये समीचीन सदन अर्थात् बैठने के स्थान का निर्माण कर रहा हूँ।'

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तदिदं निरुक्तं सामर्थ्यरूपं लिङ्गं वाक्यप्रकरणादिभ्यः प्रबलमित्याह—तदिदमित्यादिना। अत एवेति। लिङ्गस्य वाक्यादिभ्यो बलवत्त्वादेवेत्यर्थः। 'स्योनं ते सदनं कृणोमी'त्यत्र 'घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' इति वाक्यशेषः। भोः पुरोडाश! ते तव स्योनं समीचीनं सदनं स्थानं कृणोमि करोमि, तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि। भो व्रीहीणां मेध व्रीहिसारभूत! त्वं सुमनस्यमानः समाहितमनस्कः सन् तस्मिन्नमृते समीचीने स्थाने सीद उपविश प्रतिष्ठित। तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः। तत्र च तस्मिन्नित्यनेन तच्छब्देन प्रकृतवाचकेन पूर्वोत्तरार्धयोरेकवाक्यत्वे सिद्धे मन्त्रद्वयस्याभावात्सर्वोऽप्ययं मन्त्रः स्थानकरणस्याङ्गं पुरोडाशस्थापनस्य चाङ्गं भवति, तत्र विनियोजिका श्रुतिश्चैवं कल्पनीया सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यमिति। तथा सर्वेणानेन मन्त्रेण तत्र पुरोडाशः स्थापनीय इति च। तथा च सदनकरणपुरोडाशस्थापनयोरस्य मन्त्रस्य विकल्पः समुच्चयो वा स्वेच्छया भविष्यतीति पूर्वपक्षः। तत्र हि यदेतत्पूर्वोत्तरार्धयोः परस्परान्वयेनैकवाक्यं सम्पन्नं तदेतदुत्तरार्धस्य सदनकरणे शक्तिमकल्पयित्वा सकलं मन्त्रं सदने विनियोक्तुं नार्हति। तथा तदेव वाक्यं पूर्वार्धस्य पुरोडाशस्थापने शक्तिमकल्पयित्वा न पुरोडाशस्थापने कृत्स्नं मन्त्रं विनियोक्तुं प्रभवति। ततश्च लिङ्गकल्पनव्यवधानेन वाक्यं श्रुतिं प्रति विप्रकृष्यते। प्रत्यक्षं तु लिङ्गद्वयं तां श्रुतिं प्रति न विप्रकृष्यते। तथा सति लिङ्गेन वाक्यस्य बाधान्मन्त्रस्यार्धद्वयं सदनकरणस्थापनयोर्व्यवस्थितमिति राद्धान्तः। तमेतमभिप्रेत्याह—मन्त्रस्येत्यादिना। लिङ्गादिति सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यरूपादित्यर्थः। न तु वाक्यादिति। पुरोडाशसदनसादनरूपार्थकरणाङ्गत्वं, न तु सदनसादनलक्षणशेषशेषिरूपार्थप्रतिपादकात्सदनं कृणोमि तस्मिन्सीदेत्येवं सहोच्चारणरूपाद्वाक्यादित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—प्रकृत स्थल में उदाहरण द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि लिङ्ग प्रमाण वाक्य प्रमाण से प्रबल होता है। स्योनं ते सदनं कृणोमि एक मन्त्र का आदि भाग है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध! सुमनस्यमानः' (तैत्तिरीय ब्राह्मण-३.७.५) इसका अर्थ इस प्रकार है—भोः पुरोडाश! ते तव स्योनं समीचीनं सदनं कृणोमि करोमि, तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुशेवं सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि। भो व्रीहिसारभूत! त्वं सुमनस्यमानः समाहितमनस्कः सन् तस्मिन्नमृते समीचीनस्थाने सीद उपविश प्रतितिष्ठ तत्र स्थिरो भवेत्यर्थः[1]।

---

१. कौमुदी।

वाक्यप्रमाणद्वारा विनियोग की प्रक्रिया—इस मन्त्र के उत्तरार्ध में 'तस्मिन्' पद का प्रयोग हुआ है। 'तस्मिन्' पद सापेक्ष है। इससे मन्त्र के पूर्वार्ध की ओर सङ्केत होता है और इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध अलग-अलग न होकर मिलकर एक वाक्य समझा जाता है। इसी पूरे एक मन्त्र का विनियोग किसी क्रिया में होता है। इसके पश्चात् **सदनं कृणोमि एवं तस्मिन् सीद** लिङ्ग से सम्पूर्ण मन्त्र 'स्थानकरण' एव 'पुरोडाशस्थापन' दोनों क्रियाओं में काम आता है। तदनुसार क्रमशः दो प्रत्यक्ष श्रुतियों की कल्पना इस प्रकार करनी पड़ती है—**सर्वेण अनेन मन्त्रेण तव पुरोडाशः स्थापनीयः।** श्रुतिकल्पना के पश्चात् विनियोग की विशेषता यह होगी कि सम्पूर्ण मन्त्र को चाहे 'स्थानकरण' अथवा 'पुरोडाशस्थापन' किसी एक क्रिया में विनियुक्त माना जाय अथवा दोनों में। इस प्रकार वाक्य प्रमाण से विनियोग मानने में—१. पूरे मन्त्र का विनियोग अलग-अलग दो क्रियाओं में होता है, जबकि मन्त्र का पूर्वार्ध उत्तरार्ध की क्रिया ('पुरोडाशस्थापन') के लिये अप्रासङ्गिक है और मन्त्र का उत्तरार्ध पूर्वार्ध की क्रिया ('स्थानकरण') के लिये अप्रासङ्गिक है। २. वाक्य, लिङ्ग, श्रुति, विनियोग—इन चार व्यापारों की आवश्यकता होगी।

किन्तु लिङ्ग के द्वारा विनियोग होने पर उक्त स्थिति नहीं होगी। **स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि** इस 'मन्त्र' के पूर्वार्ध में 'सदनं कृणोमि' लिङ्ग से यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त मन्त्रांश 'स्थानकरण' के लिए है। इसके अनन्तर अनेन **(स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि) मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यम्** ऐसी श्रुति की कल्पना करनी होगी। श्रुतिकल्पना के पश्चात् विनियोग हो जायेगा। इसी प्रकार **तस्मिन् सीदामृते प्रतिष्ठित व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः** इस मन्त्रोत्तरार्ध में तस्मिन् सीद लिङ्ग से अर्थ-प्रकाशन के पश्चात् श्रुतिकल्पना एवं विनियोग होगा और मन्त्रोत्तरार्ध 'पुरोडाशस्थापन' में विनियुक्त हुआ माना जायेगा। अतः लिङ्गप्रमाण से विनियोग मानने में—१. मन्त्र का पूर्वार्ध पूर्वार्धगत क्रिया में विनियुक्त होगा। इस प्रकार कोई भी मन्त्रांश किसी भी क्रिया के लिये अप्रासङ्गिक हो सकेगा। २. मन्त्रार्थबोध के पश्चात् लिङ्ग, श्रुति एवं विनियोग—इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होती है।

हम देखते हैं कि लिङ्ग द्वारा विनियोग मानने में—१. अङ्गभूत कोई मन्त्रार्ध अङ्गभूत क्रिया के लिए अप्रासङ्गिक नहीं ठहरता है, जबकि वाक्य प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण मन्त्र का आधा-आधा अंश 'स्थानकरण' एवं 'पुरोडाशस्थापन'—इन दोनों क्रियाओं के लिए अप्रासङ्गिक होता है। २. लिङ्ग द्वारा विनियोग मानने में लिङ्ग, श्रुति एवं विनियोग—इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होती है; जबकि वाक्य द्वारा विनियोग मानने में वाक्य, लिङ्ग, श्रुति एवं विनियोग—इन चार व्यापारों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार लिङ्ग एवं विनियोग के बीच लिङ्ग एवं श्रुति—इन दो व्यापारों का व्यवधान है। इस प्रकार वाक्य विनियोग बोध में अपेक्षाकृत विप्रकृष्ट है एवं लिङ्ग सन्निकृष्ट। अतएव लिङ्ग द्वारा विनियोग

होगा, वाक्य द्वारा नहीं। इसीलिए **स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि** यह पूर्वार्ध मन्त्र 'पुरोडाश के सदनकरण' का अङ्ग होता है।

प्रसङ्ग—अब वाक्य प्रमाण के लक्षण एवं उसके द्वारा होने वाले अङ्गाङ्गिभाव के बोध का निरूपण किया जा रहा है—

३३. वाक्यस्वरूपाख्यानम्

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्। तथा च वाक्यार्थः—पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम्। अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः।

सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु। तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसम्भवात् पौनरुक्त्यापत्तेः।

अर्थ—समभिव्याहार अर्थात् सम्बद्ध उच्चारण को वाक्य कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अङ्गत्व का ख्यापन करने वाली द्वितीया आदि विभक्तियों के अभाव में अङ्ग एवं अङ्गी का बोध कराने वाले पदों के सहोच्चारण को वाक्य कहा जाता है। उदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है—**यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** एक विधि है। इसका अर्थ यह है कि 'जिस पुरुष की जुहू पलाशकाष्ठनिर्मित होती है, वह अपनी कुख्याति नहीं सुनता है'। यहाँ 'पर्णता' (पलाशनिर्मितत्व) और 'जुहू'—इन दोनों में पर्णता जुहू का अङ्ग है, क्योंकि 'पर्णमयी' और 'जुहू' दोनों का सहोच्चारणरूप वाक्य प्रमाण प्राप्त होता है।

यह भी कहना समीचीन नहीं है कि पर्ण (पलाश) के अतिरिक्त अन्य काष्ठ से जुहू के निर्माण हो सकने के कारण पर्णता की व्यर्थता सिद्ध होती है। यह इसलिये कि यहाँ 'जुहू' शब्द का अर्थ 'जुहू से उत्पन्न होने वाला अपूर्व' समझना चाहिए अर्थात् 'जुहू' शब्द की 'जुहू' से साध्य 'अपूर्व' में लक्षणा है। तब **पर्णमयी जुहूर्भवति** इत्यादि वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह होगा कि **पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्** अर्थात् पलाशनिर्मित जुहू में खण्डित हवि को रखकर जुहूगत पलाशनिर्मितत्व से जुहू से होने वाले अपूर्व को सम्पन्न करे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यदि जुहू पलाश की बनाई जायेगी तभी जुहू

से साध्य अपूर्व की उत्पत्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं। इसीलिये 'पर्णमयी' यह कहना व्यर्थ नहीं है। उक्त अर्थबोध वाक्य में 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' शब्द का प्रयोग अवश्य होना चाहिये, नहीं तो स्रुवा आदि अन्य यज्ञ-पात्र भी पर्णनिर्मेय समझे जाने लगेंगे।

उक्त पर्णता यद्यपि अनारभ्यविधि में अर्थात् सामान्य विधि में अधीत है, फिर भी इसका अन्वय सभी प्रकृतियागों में होता है, विकृतियागों में नहीं; क्योंकि विकृतियागों में पर्णता की प्राप्ति **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** अर्थात् 'विकृतियाग को प्रकृतियाग के समान करना चाहिये' इस अतिदेश वाक्य से भी होने के कारण पुनरुक्ति हो जाने की आपत्ति होगी।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**वाक्यं लक्षयति**—समभिव्याहार इति। **वाक्यमिति लक्ष्यनिर्देशः। समभिव्याहारशब्दं व्याचष्टे**—समभिव्याहारश्चेत्यादिना। **तत्रोदाहरणमाह**—यथेत्यादिना। पर्णताजुह्वोरिति। **शेषेशेषिलक्षणयोरिति शेषः। ननु काष्ठान्तरेणैव जुह्वाः सिद्धत्वात्पर्णताया आनर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्य परिहरति**—न चेत्यादिना। **न च वाक्यमित्यत्र हेतुमाह**—जुहुशब्देनेत्यादिना।

यदि जुहूः पर्णतयैव क्रियते तदेव जुह्वाऽपूर्वं जन्यते नान्यथेति भावः। फलितं वाक्यार्थमाह—तथा चेत्यादिना। **क्वचित्पुस्तकेऽवत्तेत्यतः प्रागितितः परत्रैवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदेव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यमिति पाठः। अवद्यत इत्यवत्तं अवत्तं च तद्धविश्च तस्य धारणद्वारेत्यर्थः। अवत्तेत्यादेर्व्यावृत्तिमाह**—अन्यथेत्यादिना। **अन्यथाऽवत्तेत्यादेरनुपादान इत्यर्थः। स्रुक्स्रुवादिभिराज्यहविर्धारणद्वारैवोपक्रियत इति भावः। ननु पर्णताया अनारभ्याधीतत्वादनारभ्यविधेश्च सामान्यविधित्वात्पर्णता सर्वेषु प्रकृतिविकृतियागेषु समन्वेत्वित्याशङ्क्याह**—सेयमित्यादिना। **एवकारव्यावर्त्यमाह**—न विकृतिष्विति। तत्रेति। **विकृतिष्वित्यर्थः।** चोदकेनेति। **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति चोदकशब्दितातिदेशवाक्येनेत्यर्थः।** तत्प्राप्तिसम्भवादिति। **पर्णताप्राप्तिसम्भवादित्यर्थः।** पौनरुक्त्यापत्तेरिति। **'प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वा'दिति न्यायविरोधेन पौनरुक्त्यरूपदोषापत्तेरित्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—ग्रन्थकार ने लिङ्ग एवं वाक्य के बीच बलाबल का विचार अवश्य किया है, किन्तु अभी तक वाक्य का लक्षण नहीं बतलाया था; इसलिये अब वाक्य का लक्षण करते हैं। 'समभिव्याहार को वाक्य कहा जाता है' और साध्य-अङ्ग का बोध कराने वाली द्वितीया आदि विभक्तियों के बिना भी केवल समभिव्याहार से अङ्गाङ्गिभाव का बोध कहीं हो जाता है। **व्रीहीन् प्रोक्षति** आदि वाक्यों में द्वितीया विभक्ति व्रीहि एवं प्रोक्षण में होने वाले अङ्गाङ्गिभाव को समझाती है। सर्वत्र यह नियम नहीं है कि श्रुति या उक्त प्रकार के लिङ्ग से अङ्गाङ्गिभाव का बोध हो; अपितु कहीं समभिव्याहारात्मक वाक्य प्रमाण से भी

अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है। 'अभिव्याहार' का अर्थ 'कथन' या 'उच्चारण' होता है। इसीलिये वाक्य को 'सहोच्चारण' भी कहा गया है। 'सहोच्चारण का अर्थ है—साथ-साथ उच्चारण। इससे यही सिद्ध होता है कि **सम्बद्धतया अभिव्याहार** अथवा **सहउच्चारण** को वाक्य कहा जाता है। प्रश्न यह है कि 'सम्बद्धतया' अथवा 'साथ-साथ' उच्चारण किनका होना चाहिये? उत्तर है कि अङ्ग एवं अङ्ग के वाचक पदों का। उदाहरण के लिये **यस्य पर्णमयीय जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** इस मन्त्र में 'पर्णमयी' एवं 'जुहू'—इन दो पदों का साथ-साथ अर्थात् अव्यवधानेन उच्चारण हुआ है और ये दोनों ही पद अङ्ग एवं अङ्गी के बोधक हैं। पूर्व पद पर्णमयता-रूप अङ्ग का बोधक है और परवर्ती 'जुहू:' पद अङ्गीभूत खण्डित घृतपात्र का बोधक है। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** का अर्थ यह है कि 'जिस व्यक्ति की जुहू पर्ण (पलाश) की बनी होती है, वह पापश्लोक (कुख्याति) को नहीं सुनता है'। 'जुहू' घी रखने का एक पात्रविशेष होता है। यह पात्र पलाश की लकड़ी से बनाया जाता है। यदि पलाश के अतिरिक्त अन्य किसी काष्ठ से जुहू बनाई जाय तो जुहू से होने वाला अपूर्व नहीं उत्पन्न होगा, इस प्रकार जुहू का प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यदि जुहू पर्ण (पलाश) की बनी होगी तो उसका फल यही होगा कि यज्ञ कराने वाला व्यक्ति अपने पापश्लोक (कुख्याति) को नहीं सुनेगा। 'श्लोक' शब्द का अर्थ है—'कुख्याति' (बदनामी) हुआ।

यहाँ 'पर्णमयी' और 'जुहू:' दोनों पद अव्यवहितत्वेन उच्चरित हैं, इसीलिये उनके अर्थों के बीच एक-दूसरे से अङ्गाङ्गिभाव-रूप सम्बन्ध समझा जाता है। 'पर्णता' अर्थात् 'पलाशनिर्मितत्व' जुहू का अङ्ग है। जुहू जब पर्ण से बनेगी तभी उसमें पर्णता (पर्णमयता) समवेत हो सकेगी। जिस प्रकार विभागसंख्या २५ में **अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति** इस विधिवाक्य के 'अरुणया पद से 'अरुणा' को अङ्ग नहीं माना जाता, क्योंकि 'अरुण' तो स्वयं गाय ही है जो कि अङ्गी है, अपितु 'आरुण्य' को जो गाय में समवेत रहता है, उसी तरह प्रकृत स्थल में 'पर्णमयी' अथवा 'पर्ण' जुहू का अङ्ग न होकर 'पर्णता' अर्थात् 'पलाशनिर्मित्व' जो जुहू में समवेत रहता है, का अङ्ग है।

पूर्वपक्षी की दृष्टि में जुहू के पर्णनिर्मित होने में कुछ भी सार्थकता नहीं है (**आनर्थक्यम्**); क्योंकि किसी पर्णेतर काष्ठ से भी जुहू का निर्माण हो सकता है (**अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वात्**)। पूर्वपक्षी के इस कथन का खण्डन करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि 'ऐसा नहीं कहना चाहिए (**इति न वाच्यम्**), क्योंकि 'जुहू' शब्द का लक्ष्यार्थ 'पर्ण से बनी हुई जुहू (तत् = पर्णमयी जुहू) से सिद्ध होने वाला अपूर्व' इतना है—**जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्**)। अर्थात् जहाँ कहीं भी 'जुहू' का प्रसङ्ग हो, उसे पर्णनिर्मित जुहू ही समझना चाहिये, क्योंकि पर्णनिर्मित जुहू से ही शास्त्रवर्णित फलसाधनभूत अपूर्व की

उत्पत्ति होती है; अन्यथा नहीं। इसलिये 'जुहू' शब्द 'पर्णनिर्मित जुहू से साध्य अपूर्व' की ओर सङ्केत करता है। 'जुहू' शब्द के दो अर्थ होते हैं—

१. **एक पात्रविशेष**—इसमें 'स्रुवा' नामक पात्र से घी (हवि) काटकर रखा जाता है। 'जुहू' शब्द का प्रकृत 'एक पात्रविशेष' अर्थ रूढ है।

२. **हवन के लिये उपयोगी कोई पात्र**—'हूयते अनया इति जुहूः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जुहू' शब्द का यौगिक अर्थ 'यज्ञोपयोगी पात्र' लिया जा सकता है। उदाहरण के लिये स्रुवा, उपभृत् ध्रुवा आदि पात्र[1] सभी जुहू की संज्ञा से अभिहित हो सकते हैं।

यस्य पर्णमणी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति यहाँ 'जुहू' शब्द से प्रथम अर्थ अभिप्रेत है; किन्तु उक्त प्रथम अर्थ का बोध कैसे होगा? अतएव ग्रन्थकार ने **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** इत्यादि विधि का वाक्यार्थ इन शब्दों में माना है—**पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्** अर्थात् पर्ण की बनी जुहू में कटे हुये हवि को रखकर जुहूगत पर्णनिर्मित्व से जुहू से होने वाले अपूर्व को उत्पन्न करे। इस प्रकार 'जुहू' भी पर्ण की बनानी होगी और 'जुहू' शब्द का अर्थ 'पात्रविशेष' होगा; क्योंकि पात्रविशेष में ही कटे हुये हवि को रखा जाता है, अन्य पात्र अन्य प्रयोजन के लिये होते हैं। उदाहरण के लिये 'स्रुवा' नामक पात्र से हवि को काटा जाता है या उससे हवन किया जाता है। उसका आकार चमचे जैसा होता है। उसका प्रयोजन यह नहीं होता है कि कोई पदार्थ उसमें रखा रहे। इसी प्रकार अन्य पात्रों के भी विशेष प्रयोजन होते हैं। लेकिन उक्त वाच्यार्थ—**पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्** में 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' अंश का प्रयोग अवश्य करना चाहिये अन्यथा 'जुहू' पद का रूढार्थ लेना अनिवार्य नहीं होगा और यौगिक अर्थ लेकर 'पर्णमयी जुहूः' वाक्य से 'स्रुवा' आदि अन्य पात्र भी पर्ण के बनाये जाने लगेंगे, जबकि ये पात्र पर्ण से नहीं बनते; अपितु खदिर आदि अन्य काष्ठों से बनते हैं।

सेयं पर्णता........पौनरुक्त्यापत्तेः वाक्य के भावार्थज्ञान के लिये वाक्यगत कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक होगा। ये शब्द हैं—'अनारभ्याधीत', 'प्रकृति', 'विकृति' एवं 'चोदक'।

अनारभ्य विधि—किसी याग के विवरण को प्रारम्भ करके उसी विवरण के अन्तर्गत उसी याग के लिये अपेक्षित विधिवाक्य को आरभ्यविधि कहा जाता है। इसी विधि को विशेष विधि भी कह सकते हैं; क्योंकि शास्त्र में यागविशेष की प्रक्रिया के विवेचन को प्रारम्भ करके उस याग के प्रसङ्ग में ही यह विधि प्रवृत्त होती है। इसके विपरीत वह विधि, जो किसी याग-विशेष का विवेचन प्रारम्भ करके उसके प्रसङ्ग में न पढ़ी गई हो, अपितु

१. 'स्रुवा' खदिर (खैर) की लकड़ी से, 'उपभृत्' पीपल की लकड़ी से और 'ध्रुवा' विकङ्कत (विकङ्कट) की लकड़ी से बनाया जाता है।

सभी यज्ञों में समान रूप से प्रवृत्त हो, अनारभ्य विधि अथवा सामान्यविधि कही जाती है। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** इस विधि का पाठ किसी याग-विशेष के प्रसङ्ग में नहीं आया है, इसलिये यह विधि अनारभ्य विधि अर्थात् सामान्य विधि है।

प्रकृति—'प्रकृति' ऐसे याग को कहते हैं, जिसकी अङ्गों सहित सम्पूर्ण सम्पादनविधि वर्णित हुई हो; उसे अपने अनुष्ठान के लिये किसी दूसरे स्थल से किसी विधान को ग्रहण न करना पड़े। ऐसे यागों का विधान स्वयं में पूर्ण होता है। 'दर्श' याग एवं 'पूर्णमास' याग प्रकृति कहे जाते हैं, क्योंकि इन यागों के प्रकरण में इनका पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। किसी भी अङ्गविधान के लिए ये याग किसी इतर विधि पर आश्रित नहीं रहते।

विकृति—'विकृति' ऐसे यागों को कहते हैं, जिनका विवेचन स्वतः पूर्ण न हो। इन यागों के प्रकरण में अनुष्ठानापेक्षित सभी अङ्गों का पाठ नहीं मिलता है; अतएव अपने अनुष्ठान की पूर्णता के लिए इन्हें अन्य प्रकृति यागों पर निर्भर रहना पड़ता है। जिन यागों पर ये आश्रित होते हैं, उन्हें इनका प्रकृति याग कहते हैं और जिन अङ्गों को ये अपनी प्रकृति से प्राप्त करते हैं, उन अङ्गों को 'चोदकप्राप्त' या 'अतिदेशप्राप्त' कहते हैं। **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** अर्थात् 'प्रकृति के समान ही विकृति याग को करना चाहिए' यह वाक्य 'चोदक' या 'अतिदेश' कहा जाता है। उदाहरण के लिये 'सौर्य' एक ऐसा याग है, जिसे 'विकृति' कहा जाता है; क्योंकि अनुष्ठान के लिये अपेक्षित कई अङ्गों का विधान इसके प्रकरण में पठित नहीं है; अतएव अङ्गों की प्राप्ति अन्य प्रकृति याग से होती है।

चोदक—प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस वाक्य को चोदक वाक्य कहते हैं। 'चोदक' का अर्थ 'प्रेरक' या 'विधायक' है। इस वाक्य के सुनने से यह प्रेरणा मिलती है कि प्रकृति याग के समान ही विकृति याग का भी अनुष्ठान करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि विकृति याग में कुछ अपेक्षित अङ्गों का विधान न प्राप्त होने से अनुष्ठानकाल में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक होता है कि इस याग का सम्पादन कैसे हो? उसी समय **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** यह वाक्य विकृति को प्रकृति के समान अनुष्ठित करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार चोदक वाक्य भी विधि के अन्तर्गत आ जाता है। चोदक वाक्य को अतिदेश वाक्य भी कहते हैं।

जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** विधि अनारभ्य विधि है। इसमें पठित 'पर्णमयी' अनारभ्याधीत है। उक्त विधि का उपयोग प्रकृति यागों में होने का विधान है, विकृति यागों में नहीं; क्योंकि यागों में उसकी प्राप्ति 'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिए (**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः**) इस चोदक वाक्य से ही हो जायेगी। इसलिए यहाँ भी विकृति यागों में उसका विधान मानने पर दो बार विधान हो जाने पर पुनरुक्ति नामक दोष की आपत्ति होगी।

प्रसङ्ग—अब पूर्वसङ्केतित 'प्रकृति', 'विकृति' एवं 'अनारभ्यविधि' का लक्षण किया जा रहा है—

३४. प्रकृतिविकृत्यनारभ्यविधीनां लक्षणानि

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथा सौर्यादिः। तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात्। अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः। तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद् दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।

अर्थ—जिस याग के विषय में समस्त अङ्गों का पाठ मिलता है, उसे प्रकृति याग कहते हैं। उदाहरण के लिये दर्शपूर्णमास आदि प्रकृति याग हैं; क्योंकि दर्शपूर्णमास याग के प्रकण में उनके सभी अङ्गों का पाठ प्राप्त होता है। जिस याग के विषय में समस्त अङ्गों का पाठ नहीं प्राप्त होता है, उसे विकृति याग कहा जाता है। उदाहरण के लिए सौर्य याग को लिया जा सकता है। सौर्य याग विकृति याग है; क्योंकि सौर्य याग के लिये अपेक्षित कतिपय अङ्गों की प्राप्ति अतिदेश से होती है। सामान्य विधि को ही आरभ्य विधि भी कहा जाता है।

वाक्य प्रमाण प्रकरण आदि से बलवान है। इसीलिये **इन्द्राग्नी इदं हविः** यह मन्त्र वाक्य प्रमाण से 'दर्श' नामक याग का अङ्ग होता है, न कि प्रकरण प्रमाण से 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' दोनों का अङ्ग।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—केयं प्रकृतिर्विकृतिश्चेत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह—यत्रेत्यादिना। अतिदेशेनेति। उक्तचोदकशब्दितातिदेशवाक्येनेत्यर्थः। किञ्च यत्र चोदकेनाङ्गप्राप्तिस्तत्रानारभ्याधीतानां सन्निवेशः, दर्शपूर्णमासयोरपि चोदकप्रमाणेनाङ्गानामप्राप्तेः प्रकरणपठितैरेवाङ्गैर्नैरकाङ्क्ष्यात् तत्र पर्णतायाः सन्निवेशो न्याय्य एव। गृहमेधीययागाद्यद्यपि कुत्रापि विकृतौ नाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तिस्तथापि तस्य क्लृप्तोपकारैराज्यभागादिभिरेव नैराकाङ्क्ष्येण तत्रापि चोदकादङ्गाप्राप्तेः सत्त्वात्तत्रापि पर्णतासन्निवेशो भवत्येव। किञ्च योऽनारभ्यविधिः स सामान्यविधिरित्युच्यते। सामान्यविधेश्चास्पष्टत्वात्तस्य विशेषेणोपसंहारो भवति। तथा चोक्तं—

सामान्यविधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषतः। इति।

तथा च सामिधेन्यृचां साप्तदश्यस्यानारभ्याधीतत्वेऽपि न प्रकृतिषु गमनं तस्य प्रकृतियागानां सामिधेन्युक्पाञ्चदश्यावरोधात्। नापि विकृतिमात्रे तद् गमनं तत्र चोदकप्राप्तपाञ्चदश्यबाधप्रसङ्गात्; किन्तु प्रत्यक्षश्रुतसाप्तदश्यासु मित्रविन्दादिष्वेव विकृतिषु तस्य साप्तदश्यस्य गमनं भवति। तथा चोक्तम्—

एवं च प्रकृतावेतत्पाञ्चदश्यं प्रतिष्ठितम्।
विकृतौ च न यत्रास्ति साप्तदश्यपुनःश्रुतिः।। इति।

न च वाक्यवैयर्थ्यम्। 'अनारभ्याधीतस्यैव साप्तदश्यस्य मित्रविन्दादिप्रकरणस्थवाक्येनोपसंहारात्। उपसंहारश्च नाम सामान्यप्राप्तस्य विशेषे नियमनम्। ततश्च साप्तदश्यस्यानारभ्यविधिः सामान्यविधिः। मित्रविन्दादिप्रकरणस्थश्च विशेषविधिरिति सर्वमभिप्रेत्याह—अनारभ्यविधिः सामान्यविधिरिति। किञ्च तद्धि वाक्यं प्रकरणाद्बलीयो भवति, स्थानादितस्तु सुतराम्। तस्य प्रकरणादपि दुर्बलत्वात् वाक्यस्य प्रकरणादिभ्यो बलवत्त्वादेव 'इन्द्राग्नी इदं हवि'रित्यादिमन्त्रस्य दर्शवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं, न तु दर्शपूर्णमासप्रकरणाद्दर्शपूर्णमासोभयाङ्गत्वमित्याह—तदिदमित्यादिना। अत्र चेदं बोध्यम्—'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्, इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राता'मिति सूक्तवाके श्रूयते। तत्र च देवतावाचकं पदमग्नीषोमादिरूपं पौर्णमास्यादिकाले यथादेवतं विभज्य प्रयोक्तव्यमिति तृतीये स्थितम्। इदं हविरित्यादिपदमवशिष्टं तु यथोक्ताग्नीषोमेन्द्राग्निमन्त्रद्वयगतमपि यथाक्रमममावास्यायामाग्नीषोमपदपरित्यागेन पौर्णमास्यामिन्द्राग्निपदपरित्यागेन च पठनीयम्। तथा च सति तेषां मन्त्रभागानां सर्वशेषत्वबोधको दर्शपूर्णमासप्रकरणपाठोऽनुगृहीतो भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते—अग्नीषोममन्त्रशेषस्येदं हविरित्यादिरूपस्येन्द्राग्निपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयं, तेन च वाक्येनेन्द्राग्निप्रकाशसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पनीयम्। तच्च लिङ्गमनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेयेति विनियोजिकां तृतीयां श्रुतिं कल्पयति। ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति। अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं तु श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते। एवमिन्द्राग्निमन्त्रशेषस्याप्यग्नीषोमपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयमित्यादि स्वयमूह्यम्। तस्माद्वाक्येन स्वस्माद् दुर्बलस्य प्रकरणस्य बाधितत्वात्तत्तन्मन्त्रशेषस्तत्र तत्रैव व्यवतिष्ठत इति।

अर्थबोधिनी—प्रकृति, विकृति, अतिदेश (चोदक) वाक्य एवं अनारभ्य विधि का विवेचन गत विभाग में हो ही चुका है; अतएव प्रकृत स्थल में उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

वाक्य प्रमाण प्रकरण प्रमाण से बलवान होता है; अतएव जिस स्थल में एक ही काल में दोनों प्रमाणों से विनियोग की सम्भावना हो रही होगी, वहाँ वाक्य प्रमाण द्वारा सिद्ध विनियोग मान्य एवं प्रकरण प्रमाण द्वारा सम्भाव्य विनियोग त्याज्य होगा। इसीलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मन्त्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' दोनों यज्ञों का अङ्ग होने लगता है, जिसे स्वीकार नहीं किया जाता। न स्वीकार करने का कारण यही है कि वाक्य प्रकरण से बलवान होता है। बलवान होने के कारण पर निम्नलिखित पङ्क्तियों से विचार किया जा रहा है—

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.५.१०) में प्राप्त प्रासङ्गिक मन्त्र का पाठ इस प्रकार है—

अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।

इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।।

मन्त्र का विच्छेद इस प्रकार है—

अग्निषोमौ इदं हविः अजुषेताम् अवीवृधेताम् महः ज्यायः अक्राताम्। इन्द्राग्नी इदं हविः अजुषेताम् अवीवृधेताम् महः ज्यायः अक्राताम्।।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

'हे अग्नि एवं सोम! तुम दोनों ने इस हवि का सेवन किया है, उसकी वृद्धि की है एवं बहुत श्रेष्ठ कर दिया है। हे इन्द्र एवं अग्नि। तुम दोनों ने इस हवि का सेवन किया है, उसी वृद्धि की है एवं बहुत श्रेष्ठ कर दिया है।'

वाक्य प्रमाण की अपेक्षा प्रकरण विनियोग से विप्रकृष्ट रहता है; अतएव वाक्य की अपेक्षा प्रकरण द्वारा विनियोग अमान्य होता है। प्रकरण प्रमाण से विनियोग मानने के व्यापारों का क्रम इस प्रकार होगा—

१. प्रकरण—अग्निषोमाविदं..............अक्राताम्।

इन्द्राग्नी इदं ....अक्राताम् मन्त्र दर्शपूर्णमास यागों के प्रसङ्ग में पढ़ा गया है। अतएव सम्पूर्ण मन्त्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों में विनियुक्त होना चाहिए; किन्तु मीमांसा दर्शन के अनुसार 'पूर्णमास' यज्ञ के अग्नि एवं सोम देवता हैं तथा 'दर्श' याग के इन्द्र एवं अग्नि। इसलिए 'पूर्णमास' यज्ञ के समय केवल अग्नि एवं सोम (**अग्नीषोमौ**) इन्हीं दो देवताओं का आमन्त्रण होगा। तदनुसार **इन्द्राग्नी** पद का परित्याग कर देना होगा। इसी प्रकार 'दर्श' में **अग्निषोमौ** पद का परित्याग करना होगा। यह सब प्रकरण द्वारा होगा।

२. वाक्यकल्पना—'दर्श' याग के अनुष्ठान में **अग्निषोमौ** पद का परित्याग कर दिया जाता है तब उक्त मन्त्र का रूप यह होगा—**इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्। इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्।** किन्तु **इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्** और **इन्द्राग्नी........ज्यायोऽक्राताम्** के एकवाक्य होने में कोई श्रुति प्रमाण नहीं है अर्थात् दोनों में एकवाक्यबोधक वाक्य वेद में नहीं पाया जाता, अतएव 'वाक्य' प्रमाण से दोनों को 'एकवाक्य' मान लिया जाता है।

३. लिङ्गकल्पना—एकवाक्यता सम्पन्न हो जाने के पश्चात् **इन्द्राग्नी** पदगत लिङ्गरूप शक्ति से 'इन्द्र' एवं 'अग्नि'—इन दो देवताओं का प्रकाशन होता है अर्थात् लिङ्ग से यह समझा जाता है कि मन्त्र एवं उक्त देवताओं के बीच सम्बन्ध होना चाहिए।

४. श्रुतिकल्पना—लिङ्ग के पश्चात् श्रुति की कल्पना की जाती है। श्रुति का रूप इस

प्रकार होगा—इस मन्त्रांश (इदं हवि.........अक्राताम्। इन्द्राग्नी.........अक्राताम्।) से इन्द्र एवं अग्नि देवताओं से सम्बन्धित कोई क्रिया करनी चाहिये (**अनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेया।**

५. **विनियोग**—किन्तु वाक्य प्रमाण द्वारा विनियोग होने में कुल चार व्यापारों की आवश्यकता पड़ती है। वे ये हैं—

(क) **वाक्य**—**इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्** मन्त्रांश के **इन्द्राग्नी** एवं **इदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्** भागों में वाक्य प्रमाण से एकवाक्यता आती है।

(ख) **लिङ्गकल्पना**—तदनतर लिङ्ग प्रमाण से मन्त्र एवं दोनों (इन्द्र एवं अग्नि) देवताओं के बीच सम्बन्ध समझा जाता है।

(ग) **श्रुतिकल्पना**—मन्त्र एवं देवताओं के बीच अङ्गाङ्गिभावबोधक श्रुति की कल्पना की जाती है।

(घ) **विनियोग**—हम देखते हैं कि प्रकरण, प्रमाण एवं विनियोग के बीच तीन व्यापारों (वाक्य, लिङ्ग एवं श्रुति) का व्यवधान है; जबकि वाक्य एवं विनियोग के बीच केवल दो व्यापारों (लिङ्ग एवं श्रुति) का। इससे सिद्ध होता है कि प्रकरण प्रमाण विनियोग से विप्रकृष्ट है और वाक्य सन्निकृष्ट। अतएव प्रकरण द्वारा विनियोग अमान्य एवं वाक्य द्वारा विनियोग ग्राह्य होता है। इसीलिये वाक्य प्रमाण द्वारा **इन्द्राग्नी इदं ......अक्राताम्** इतना मन्त्रांश दर्शयाग का अङ्ग होता है, न कि प्रकरण प्रमाण से **इदं हवि.........अक्राताम्। इन्द्राग्नी.....अक्राताम्** मन्त्रांश का 'दर्श' याग और **अग्नीषोमाविदं ....अक्राताम्। इदं हवि.........अक्राताम्** मन्त्रांश 'पूर्णमास' याग का। इस प्रकार क्रमशः देवताओं के एक युग्म को छोड़कर पूरा मन्त्र 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' दोनों यागों का अङ्ग हो रहा था, जिसका बाध वाक्य प्रमाण से हो गया।[1]

ध्यान रहे कि वाक्य प्रमाण से **अग्नीषोमाविदं हवि..........अक्राताम्** मन्त्रांश 'पूर्णमास' का अङ्ग और **इन्द्राग्नी इदं हवि..........अक्राताम्** मन्त्रांश 'दर्श' याग का अङ्ग होता है।

---

१. अग्नीषोममन्त्रशेषस्येवं हविरित्यादिरूपस्येन्द्राग्निपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयं तेन च वाक्येनेन्द्राग्निप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पनीयम्। तच्च लिङ्गमनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविधया काचित्क्रियानुष्ठेयेति विनियोजिकां तृतीयां श्रुतिं कल्पयति। ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति, अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं तु श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते। एवमिन्द्राग्नीमन्त्रशेषस्याप्यग्नीषोमपदान्वयाश्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयमित्यादि स्वयमूह्यम्। तस्माद् वाक्येन स्वस्माद् दुर्बलस्य प्रकरणस्य बाधितत्वात्तत्तन्मन्त्रशेषस्तत्र तत्रैव व्यवतिष्ठत इति। (कौमुदी)

प्रसङ्ग—अब प्रकरण प्रमाण का लक्ष्य एवं उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

३५. प्रकरणलक्षणम्

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्। यथा प्रयाजादिषु। 'समिधो यजति' इत्यादिवाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात् 'समिद्यागेन भावयेत्' बोधानन्तरं 'किम्' इत्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दशपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इति बोधानन्तरं 'कथम्' इत्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।

अर्थ—दो वाक्यों की परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहते हैं। उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए। प्रयाज यागों के स्थल में **'समिधो यजति'** विधि का पाठ है, किन्तु 'समिद्' याग के अपने फल का निर्देश यहाँ नहीं हुआ है, अतएव 'समिधो यजति' का अर्थबोधवाक्य **समिद्यागेन भावयेत्'** ऐसा होने पर **किं भावयेत्'**? इस प्रकार उपकार्य अर्थात् फल की आकाङ्क्षा होती है। इसी प्रकार **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इस विधि का **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग भावयेत्'** इस प्रकार वाक्यार्थबोध होने पर **'कथं भावयेत्'** इस प्रकार उपकारक (साधन) की आकाङ्क्षा होती है। इस प्रकार उभयाकाङ्क्षा-रूपप्रकरण प्रमाण से प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के अङ्ग समझे जाते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**प्रकरणं लक्षयति**—उभयेत्यादिना। आकाङ्क्षात्वं चेल्लक्षणं शाब्दबोधकारणीभूताकाङ्क्षायामतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय उभयेति विशेषणम्। उभयत्वं चेत्तदोभयत्वावच्छिन्ने घटपटादावतिव्याप्तिस्तद्वारणायोत्तरं बलम्। परस्परमुभयाका-ङ्क्षेत्यर्थः। प्रकरणमिति लक्ष्यनिर्देशः। तत्रोदाहरणद्वारोभयाकाङ्क्षां प्रदर्शयन् लक्षणसमन्वयं करोति—यथेत्यादिना। इत्थं चेति। **अनेन प्रकारेण चेत्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—दो वाक्यों की परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहते हैं। एक वाक्य फलसाधनभूत क्रिया के सम्पादन-प्रकार का विधान करता है, किन्तु साध्य-फल का नहीं, इसलिए उसे क्रियाजन्य फल की आकाङ्क्षा होती है। दूसरा वाक्य फल का निर्देश करता है, किन्तु उस फल के साधनभूत कर्तव्य क्रिया या क्रियाओं का विधान नहीं करता; अतएव इसे 'कथंभाव' (कैसे करे) इस प्रकार साधनभूत क्रियाओं की आकाङ्क्षा होती है। इस तरह दोनों वाक्य एक-दूसरे के प्रति साकाङ्क्ष रहते हैं। यही आकाङ्क्षा प्रकरण कहलाती है।

उदाहरण के लिए प्रयाज यागों के प्रसङ्ग में 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति'—आदि क्रियाविधायक वाक्य पाये जाते हैं। उक्त वाक्यों में केवल क्रियाओं का विधान है। 'समिधो यजति' का अर्थबोध वाक्य—**समिद्यागेन भावयेत्** होगा; किन्तु यहाँ फल का निर्देश नहीं किया गया है; अतएव आकाङ्क्षा होती है कि 'किं भावयेत्' अर्थात् किसका सम्पादन करे।

दूसरा वाक्य **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** है। इसका मीमांसा की दृष्टि से अर्थबोध वाक्य इस प्रकार है—**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्** अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना (प्राप्ति) करे; किन्तु यहाँ यह नहीं बतलाया गया है कि 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करे? अर्थात् वे कौन-सी क्रियायें हैं, जिनके सम्पादन से स्वर्ग मिल सकेगा। 'दर्श' एवं 'पूर्णमास'—दो प्रधान याग हैं, जिनका सम्पादन अन्य अङ्गीभूत क्रियाओं से ही हो सकेगा। इस प्रकार **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्** वाक्य के सुनने पर आकाङ्क्षा होती है कि **दर्शपूर्णमासाभ्यां कथं स्वर्गं भावयेत्?** इस प्रकार हम देखते हैं कि **समिधो येजति** अर्थात् **समिद्यागेन भावयेत्** वाक्य को फल की आकाङ्क्षा एवं **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** अर्थात् **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्** वाक्य को 'कथंभाव' की आकाङ्क्षा है। उक्त दोनों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष हैं। परस्पर इसलिए कि एक वाक्यगत आकाङ्क्षा दूसरे वाक्य के श्रवण से शान्त हो जाती है। अतः परस्पराकाङ्क्षारूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाज आदि क्रियायें दर्श-पूर्णमास का अङ्ग सिद्ध होती हैं।

वाक्यों की परस्पर आकाङ्क्षा को इस प्रकार स्पष्टरूपेण समझा जा सकता है—

वाक्य—१ समिधो यजति = समिद्यागेन भावयेत् में—

(क) उपकारक का विधान—यहाँ साधनभूत अर्थात् उपकारकभूत 'समिद्याग' का विधान है, अर्थात् 'इतिकर्तव्यता' का श्रवण है। वाक्य विधान करता है कि 'इस प्रकार (समिद्याग के सम्पादन से) करो'।

(ख) उपकार्य की आकाङ्क्षा—यहाँ उपकार्य अर्थात् सहायता प्राप्त करने वाले का श्रवण नहीं है अर्थात् समिद्याग किस याग का सहायक होगा, इसका निर्देश नहीं है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'उपकार्य' की आकाङ्क्षा **समिद्यागेन किं भावयेत्** रूप में है।

वाक्य—२ दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत = 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' में—

(क) उपकार्य (याग) का श्रवण—प्रकृत वाक्य में उपकार्य अर्थात् 'दर्शपूर्णमास' याग का श्रवण है।

(ख) उपकारक की आकाङ्क्षा—दर्श पूर्णमास द्वारा जिन साधनों की सहायता से अर्थात् जिन अङ्गभूत क्रियाओं से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, उन साधनभूत अर्थात् उपकारकभूत क्रियाओं का यहाँ पर उल्लेख नहीं है। अतएव प्रकृत वाक्य में उपकारक की आकाङ्क्षा—**दर्शपूर्णमासाभ्यां कथं भावयेत्** इस रूप में है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक्य-१ (ख) में उपकार्य की आकाङ्क्षा है और वाक्य-२ (क) में उपकार्य का श्रवण है। इस प्रकार वाक्य १ की उपकार्याकाङ्क्षा का शमन

वाक्य २ के उपकार्यश्रवण से हो जाता है। इसी प्रकार वाक्य २ (ख) में उपकारक की आकाङ्क्षा है और वाक्य १ (क) में उपकारक का विधान है। इसी प्रकार वाक्य २ की उपकाराकाङ्क्षा का उपशमन वाक्य १ के उपकारकविधान से हो जाता है।

प्रकरण प्रमाण से वाक्य १ में विहित प्रयाज आदि वाक्य २ में विहित 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों के अङ्ग होते हैं, अतएव अङ्गी हैं एवं प्रयाज उनके अङ्ग हैं।

प्रसङ्ग—अब सर्वप्रथम प्रकरण के 'महाप्रकरण' एवं 'अवान्तरप्रकरण' दो भेद बतलाकर महाप्रकरण के स्वरूप का परिचय दिया जा रहा है—

३६. प्रकरणस्य द्वैविध्यं महाप्रकरणलक्षणञ्च

तच्च प्रकरणं द्विविधम्—महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति।

तत्र मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव उभयाकाङ्क्षाया सम्भवान्न तु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इत्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गनामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासम्भवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वम्।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकरण के दो भेद होते हैं—१. महाप्रकरण और २. अवान्तर प्रकरण। इनमें से मुख्य (स्वर्ग) भावनासम्बन्धी प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। इस प्रकार प्रमाण से प्रयाज दर्शपूर्णमास के अङ्ग समझे जाते हैं।

महाप्रकरण प्रकृति याग में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि अभिमत उभयाकाङ्क्षा का होना प्रकृति याग में ही सम्भव है, विकृति याग में नहीं। इसका कारण यह है कि विकृतियाग में उभयाकाङ्क्षा की शान्ति प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या अर्थात् 'प्रकृति के समान विकृति याग का अनुष्ठान करना चाहिये' इस अतिदेशवाक्य से हो जाती है और इसीलिए नवीन अङ्गों का विनियोग भी उभयकाङ्क्षा द्वारा नहीं हो सकता। अतएव स्थान प्रमाण द्वारा ही नवीन अङ्ग विकृति याग के अङ्ग समझे हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—प्रकरणं विभजते—तच्च प्रकरणमित्यादिना। तच्चेति। उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः। तत्रेति। महाप्रकरणावान्तरप्रकरणयोर्मध्य इत्यर्थः। मुख्यभावनेति। फलभावनेत्यर्थः। तेन चेति। महाप्रकरणेन चेत्यर्थः। अङ्गत्वम्। बोध्यत इति शेषः। तद्धि महाप्रकरणं प्रयाजादीन्यङ्गानि दर्शपूर्णमासयोर्विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतच्च। महाप्रकरणं चेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—उभयेति। प्रकृतावेवेत्यनुषङ्गः। एवकारव्यावर्त्यमाह—न त्विति। विकृतावुभयाकाङ्क्षाया असम्भवादिति भावः। तत्रेति। विकृतावित्यर्थः। अतिदेशेनेति। अतिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गजातेनेत्यर्थः। कथंभावाकांङ्क्षायाः। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया इत्यर्थः। तथा च यद्यप्युपहोमादीनामपूर्वाङ्गानामुपहोमादिभिर्भावयेत् किं भावयेदित्यस्त्याकाङ्क्षा

तथापि सौर्यादिविकृतियागस्यातिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गैरेव नैराकाङ्क्ष्येण नापूर्वाङ्गानामप्युपहोमादीनामुभयाकाङ्क्षया विकृतौ विनियोगः सम्भवतीति भावः। ननु प्राकृताङ्गानां विकृतावपठितत्वादप्रत्यक्षाणां कथं विकृत्याकाङ्क्षोपशमहेतुत्वं, वैकृताङ्गानां तूपहोमादीनामत्र पठितत्वेन प्रत्यक्षाणां सम्भवत्याकाङ्क्षोपशान्तिहेतुत्वमिति चेन्न। तेषां विकृतौ पठितत्वेन प्रत्यक्षत्वेऽप्यन्यत्राक्लृप्तोपकारकत्वाच्छीघ्रं विकृत्याकाङ्क्षोपशान्तावसामर्थ्यात्। अतिदिष्टानां तु प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकत्वेन सम्भवति तदाकाङ्क्षोपशमनसामर्थ्यम्। न च तेषामेव प्राकृताङ्गानां विकृतौ प्रकरणाद् ग्रहणं स्यादिति वाच्यम्। तेषामपि प्रकृतावुपकारकत्वेनोपक्षीणाकाङ्क्षत्वात्। न च प्राकृताङ्गानामत्रोपस्थापकाभावेनानुपस्थितत्वमिति वाच्यम्। उपमानप्रामाणस्योपस्थापकस्य सत्त्वेन तेषामत्रोपस्थितत्वात्। तथा हि—सौर्यवाक्यस्य दर्शने ह्यौषधद्रव्यत्वस्यैकदेव ह्युक्तस्य च सादृश्यस्य दर्शनेनानेन सदृशमाग्नेयवाक्यमित्याग्नेयवाक्यमुपमीयते गवयदर्शनादनेन सदृशी मदीया गौरिति गोरुपमानवत्। आग्नेयवाक्ये चोपमिते तेन तदर्थो ज्ञायते। स च त्र्यंशभावनारूपस्तस्मिंश्च ज्ञाते सौर्यवाक्ये भावनाया भाव्यस्य करणस्य च विद्यमानत्वेन तत्राकाङ्क्षाभावेऽपीतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्राकृतोपकारपृष्ठभावेनाग्नेयेतिकर्तव्यतामतिदिश्य सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेदाग्नेयवदिति सिद्ध्यति। तस्मादाग्नेयेतिकर्तव्यतयैव विकृत्याकाङ्क्षोपशमने सौर्यादौ विकृतावुभयाकाङ्क्षारूपप्रकरणाभावात् स्थानादेवोपहोमादीनामपूर्वाङ्गानां विकृतिशेषत्वमित्युपसंहरति—तस्मादिति।

अर्थबोधिनी—प्रकरण के दो प्रभेद हैं—१. महाप्रकरण और २. अवान्तर प्रकरण।

जिस प्रकरण का सम्बन्ध मुख्य भावना अर्थात् फलभावना से होता है, वह प्रकरण महाप्रकरण कहा जाता है। पिछले विभाग (सङ्ख्या ३५) में जिस प्रकरण का उदाहरण दिया गया है, वह महाप्रकरण ही है। स्वर्गरूप फल मुख्य होता है। **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इस वाक्य में मुख्य भावना है। **समिधो यजति** में मुख्य भावना न होकर अङ्गभावना है। मुख्य भावना का सम्बन्ध अङ्गभावना से है; क्योंकि प्रकरण प्रमाण से अङ्गभावना मुख्य भावना का अङ्ग होती हैं, अतः 'मुख्य भावनासम्बन्धी' होने के कारण प्रकृत प्रकरण को महाप्रकरण कहा गया है। **मुख्यभावनासम्बन्धि** की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—**मुख्यभावनासम्बन्धः कस्यापि मुख्यभावनाङ्गत्वम्, मुख्यभावनाङ्गत्वं कस्यापि अस्ति अस्मिन् इति मुख्यभावनासम्बन्धि = प्रकरणम्।** अर्थात् जिस प्रकरण में अङ्गीभूत मुख्य भावना के प्रति कोई अङ्ग होता हुआ प्रतीत हो, वह प्रकरण महाप्रकरण कहलाता है। ध्यान रहे, यहाँ मुख्य का अर्थ सर्वतोमुख्य है, आपेक्षिक मुख्य नहीं। प्रयाज आदि की अङ्गभूत क्रियायें भी प्रयाज की अङ्ग होती हैं और प्रयाज उनके अङ्गी। इस अङ्गाङ्गिभाव को अङ्ग प्रधानभाव भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से अङ्गभूत क्रियाओं के प्रति प्रयाज प्रधान या मुख्य हुये। प्रयाज स्वयं 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' के अङ्ग हैं, परन्तु

महाप्रकरणस्थल में ऐसी मुख्यता विवक्षित नहीं है; अपितु सर्वोत्कृष्ट फलसम्बन्धी मुख्यता विवक्षित है। ऐसी मुख्यता उत्पत्तिविधियों में पाई जाती है। अतएव उत्पत्तिविधि में निहित मुख्य भावना जहाँ पर किसी अङ्ग का अङ्गी हो, वह प्रकरण 'महाप्रकरण' कहा जाता है। इस प्रकार महाप्रकरण से 'प्रयाज' 'दर्श' एवं 'पूर्णमास'रूप अङ्गी के अङ्ग होते हैं।

प्रकरण की प्रवृत्ति केवल प्रकृति याग में होती है, विकृति याग में नहीं। इसका कारण यह है कि विकृति याग में उभयकाङ्क्षा नहीं होती। यदि विकृति याग में 'कथं भावयेत्' इस प्रकार 'कथंभाव' की आकाङ्क्षा होती भी है तो वह आकाङ्क्षा अतिदेश वाक्य से शान्त हो जाती है। **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** यह अतिदेश वाक्य है। इसका अर्थ है कि 'प्रकृति के समान विकृति याग का अनुष्ठान होना चाहिये'। इसलिये जब एक ओर आकाङ्क्षा ही नहीं हुई, तो उभयाकाङ्क्षा भी नहीं हुई। यही कारण है कि विकृतियाग में कोई भी प्रकरण नहीं होता। यह चाहे महाप्रकरण हो और चाहे अवान्तर प्रकरण (अवान्तर प्रकरण का विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा)।

विकृति यागों में कुछ ऐसे नवीन अङ्गों (अपूर्वाङ्गों) का विधान मिलता है, जिनका विधान उनके प्रकृति याग में नहीं हुआ रहता है; अतएव इन अङ्गों के विषय में इस प्रकार फलाकाङ्क्षा होती है कि ये नवीन अङ्ग किसलिये है (एभिः किं भावयेत्)? इस फलाकाङ्क्षा का शमन **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या** इस अतिदेश वाक्य से नहीं हो सकता, क्योंकि ये अङ्ग प्रकृति में पाये ही नहीं जाते हैं। क्या यहाँ उभयाकाङ्क्षा से प्रकरण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि यहाँ फलाकाङ्क्षा अवश्य है, फिर भी कथंभावाकाङ्क्षा नहीं है; क्योंकि कथंभावाकाङ्क्षा यदि होगी तो उसका शमन अतिदेश वाक्य से हो जायेगा। इस प्रकार यहाँ केवल एक आकाङ्क्षा—'फलाकाङ्क्षा' हुई। परस्पर उभय—दो आकाङ्क्षायें नहीं हुईं। अतएव यहाँ प्रकरण की प्रवृत्ति नहीं होगी और 'नवीन अङ्ग विकृति याग के अङ्ग होते हैं' यह निश्चय 'स्थान' प्रमाण से होता है। स्थान प्रमाण का विवेचन विभाग (४१-४५) में किया गया है।[१]

उदाहरण के लिये उक्त विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है—सौर्य एक विकृति याग है। इसका प्रकृति याग दर्शपूर्णमास है। विकृति याग सौर्य के अन्तर्गत 'उपहोम' आदि कई नवीन क्रियाओं का विधान है। 'उपहोम' आदि का विधान दर्शपूर्णमास में नहीं है, अतएव **उपहोमादिक्रियाभिः किं भावयेत्** द्वारा फलाकाङ्क्षा होती है, जिसका शमन अतिदेश वाक्य से नहीं हो सकता। कारण, उपहोम आदि क्रियायें प्रकृति याग में श्रुत नहीं हैं। इस प्रकार प्रकृति स्थल में एक आकाङ्क्षा होती है, दूसरी कथंभावाकाङ्क्षा नहीं होती है, क्योंकि **सौर्ययागेन कथं भावयेत्** इस कथम्भावाकाङ्क्षा का शमन अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। अत एव यहाँ उभयाकाङ्क्षा नहीं रह पाती है कि जिससे प्रकरण हो सके।

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-४३

प्रश्न है कि 'उपहोम' आदि अपने विकृति याग—'सौर्य' के अङ्ग किस प्रमाण से समझे जाते हैं? उत्तर है—'स्थान प्रमाण से'। स्थान प्रमाण का विवेचन विभाग (४१-४५) में किया जायेगा।

प्रसङ्ग—अब अवान्तर प्रकरण का लक्षण किया जा रहा है—

३७. अवान्तरणप्रकरणलक्षणम्

अङ्गभावनासम्बन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च सन्दंशेनैव ज्ञायते। तदभावे चाविशेषात् सर्वेषां फलभावनाकथंभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः।

अर्थ—अङ्गभावना से सम्बन्धित प्रकरण को अवान्तर प्रकरण कहते हैं। इसी अवान्तर प्रकरण से अभिक्रमण आदि क्रियायें प्रयाज आदि यागों का अङ्ग समझी जाती हैं। इस प्रकार के अङ्गत्व का बोध सन्दंश के द्वारा होता है, क्योंकि सन्दंश के अभाव में प्रयाज, अभिक्रमण एवं इसी प्रकार की सभी क्रियायें फलाकाङ्क्षा में अन्वित होने लगेंगी और प्रधान का अङ्ग होने लगेंगी।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**अवान्तरप्रकरणं लक्षयति**—अङ्गभावेनेति। तेन चेति। अवान्तरप्रकरणेन **चेत्यर्थः। अत्रापि बोध्यत इति शेषः।** तच्चेति। **तेन तेषां तदङ्गत्वं चेत्यर्थः।** सन्दंशेनेति। **सन्दंशो लोहकण्टकविद्धलोहशलाकाद्वयरूपस्तेनेत्यर्थः।** तन्न्यायेनेति **यावत्।** तदनङ्गीकारे **दोषमाह**—तदभाव इति। **सन्दंशाभाव इत्यर्थः।** अविशेषात्। **प्रकरणाविशेषात्। सर्वेषां प्रयाजादीनामभिक्रमणादीनां च कथंभावेन इतिकर्तव्यतारूपेण।** प्रधानाङ्गत्वापत्तेः। **दर्शादिप्रधानाङ्गत्वापत्तेः। तथा चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वग्रहे सन्दंशस्याभावे सति दर्शादिप्रधानयागप्रकरणपाठाविशेषात्प्रयाजादिवदभिक्रमणादीनामपि दर्शादिफलभावनाया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षया ग्रहणप्रसङ्गेन दर्शादिप्रधानयागाङ्गत्वापत्तेस्तत्सन्दंशेनैव ज्ञातुं शक्यत इति समुदायार्थः।**

अर्थबोधिनी—अवान्तर प्रकरण होने के कारण यह आवश्यक है कि १. उभयाकाङ्क्षा हो और २. अङ्गक्रियायें अङ्गभावना का अङ्ग हों अर्थात् इस स्थल में अङ्गीभूत क्रिया भी किसी का (अपने प्रधान का) अङ्ग होती है।

उदाहरण के लिये दर्शपूर्णमास के अङ्गरूप में प्रयाज आदि क्रियाओं का **प्रयाजाः कर्तव्याः** इस प्रकार विधान है। इसी प्रसङ्ग में 'अभिक्रमण' (परिभ्रमण) आदि क्रियाओं का विधान है। अतएव **प्रयाजैः कथं भावयेत्** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा एवं **अभिक्रमणादिभिः किं भावयेत्** इस प्रकार उपकार्याकाङ्क्षा होती है। अतः यहाँ परस्पर दोनों की आकाङ्क्षा (उभयाकाङ्क्षा) स्पष्ट है, क्योंकि एक की अकाङ्क्षा की शान्ति दूसरे से इस प्रकार होती है—**अभिक्रमणादिभिः प्रयाजापूर्वं भावयेत्** एवं **अभिक्रमणादिभिः प्रयाजानुष्ठानं**

भावयेत्। यहाँ साध्य होने के कारण 'प्रयाज' अङ्गी है एवं 'अभिक्रमण' आदि अङ्ग। यहाँ के अङ्गीभूत प्रयाज भी दर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं, अतएव यहाँ का प्रकरण 'अङ्गभावनासम्बन्धि प्रकरण' हुआ। इसी को अवान्तर प्रकरण कहते हैं।

यदि सन्दंश द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध नहीं स्वीकार किया जायेगा तो दर्शपूर्णमास के अङ्गभूत अभिक्रमण आदि भी प्रयाज की भाँति साक्षात् रूप से दर्शपूर्णमास के अङ्ग होने लगेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। जैसे प्रयाज दर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं, वैसे अभिक्रमण आदि क्रियायें भी दर्शपूर्णमास का अङ्ग होगी, क्योंकि 'सन्दंश' जिसके द्वारा अभिक्रमण आदि प्रयाज के अङ्ग समझे जाते थे—अस्वीकृत हो गया है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास में विहित कोई भी क्रिया साक्षात् दर्शपूर्णमास का ही अङ्ग हो जायेगी, प्रयाजादि के द्वारा नहीं होगी। फिर प्रयाजादि के प्रसङ्ग में अभिक्रमण आदि का पाठ ही व्यर्थ हो जायेगा और कोई भी क्रिया प्रयाज आदि का अङ्ग न हो सकेगी; किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता। अतएव 'सन्दंश' के द्वारा अङ्गबोध सिद्ध होता है।

प्रसङ्ग—अब सन्दंश का लक्षण किया जा रहा है—

३८. सन्दंशलक्षणं तदुदाहरणञ्च

एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः, यथाभिक्रमणे। तद् हि 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किञ्चिदङ्गं विधाय विधीयते 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते[1] अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति। तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इत्यादिना किञ्चिदङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं तदङ्गम्। 'प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्' इति ज्ञाते 'कथमेभिरपूर्वं कर्त्तव्यम्' इति कथंभावाकाङ्क्षाया सत्त्वात्। सा च सन्दंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति। न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाभावः; भावनासामान्येन तत्रापि तत्सम्भवात्।

अर्थ—किसी मुख्य याग के एक अङ्ग का अनुवाद करके विधीयमान दो अङ्गों के बीच में किसी क्रिया के विहित होने को सन्दंश कहते हैं। उदाहरण के लिये अभिक्रमणस्थल में सन्दंश होता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—सर्वप्रथम प्रयाज के एक अङ्ग का अनुवाद **समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा** इस विधिवाक्य से किया जाता है। इस वाक्य का अर्थ है—'उपभृत्' नामक पात्र से 'जुहू' में घी लाये।' इसके पश्चात् 'अभिक्रमण' नामक क्रिया का विधान **यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै** (इस प्रकार जानने वाला पुरुष यदि प्रयाजों का अनुष्ठान करता है तो वह इन लोकों से शत्रुओं को भगा देता है, विजय के लिये

१. 'नुदते' के स्थान पर 'तुदते' पाठ भी प्राप्त होता है। 'तुदते' का अर्थ 'व्यथयति' होता है।

अभिक्रमण याग का अनुष्ठान करना चाहिये)। इसके पश्चात् प्रयाज के एक अङ्ग का विधान यो वै **प्रयाजानां मिथुनं वेद** (जो प्रयाजों के मिथुन को जानता है) इत्यादि वाक्य से किया जाता है। अतएव प्रयाज के दो अङ्गों—घृतानयन एवं मिथुनवेद के मध्य पठित 'अभिक्रमण' क्रिया भी सन्दंशन्याय से प्रयाज का अङ्ग समझी जाती है। **प्रयाजाः कर्तव्याः** विधि के अर्थबोध-वाक्य **प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्** होने पर **कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा होने लगती है। इस कथंभावाकाङ्क्षा की शान्ति सन्दंश-पठित अभिक्रमण आदि क्रियाओं से होती है। यह भी कहना उचित नहीं है कि अङ्गभावना में कथंभावाकाङ्क्षा नहीं होती। यह इसलिये कि प्रत्येक भावना में कथंभावाकाङ्क्षा रहती है, अङ्गभावना भी एक भावना ही है; अतएव उसमें भी कथंभावाकाङ्क्षा होगी।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सन्दंशं लक्षयति—एकाङ्गानुवादेनेति। तत्रोदाहरणमाह—यथाभिक्रमण इति। अभिक्रमणे ह्येकस्य प्रयाजरूपस्याङ्गस्यानुवादेन विधीयमानयोः प्रयाजाङ्गयोरन्तराले विहितत्वं भवत्येव। तदेवाह—तद्धीत्यादिना। तद्धि, अभिक्रमणं हीत्यर्थः। समानयते जुह्वामुपभृत इति। उपभृतो घृतपात्रविशेषाज्जुह्वां जुहूरूपपात्रविशेषे घृतं समानयत इति मन्त्रार्थः। किञ्चिदङ्गमिति। उपभृतः पात्राज्जुह्वां प्रयाजार्थं घृतानयनरूपमङ्गमित्यर्थः। तदनन्तरमपीति। अभिक्रमणानन्तरमपीत्यर्थः। तदनन्तरमपीत्यस्य 'किञ्चिदङ्गं विधीयत' इत्युत्तरेणान्वयः। 'प्रयाजाङ्ग'मिति पाठे तु तस्यापि किञ्चिदङ्गमित्यनेनोत्तरेणैवान्वयः। भ्रातृव्यानिति। शत्रूनित्यर्थः। तुदत इति। व्यथयति अपतुदतीति वार्थः। जयतीति यावत्। अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै इति। विजयायाहवनीयं सर्वतः सञ्चरणं कृत्वा जुहुयादित्यर्थः। मिथुनं वेदेति। युगलं जानातीत्यर्थः। अत इति। प्रयाजानुवादेन विहिततदङ्गमध्ये विहितत्वादित्यर्थः।

ननु प्रयाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षाभावान्न तत्र सन्दंशेनाप्यभिक्रमणस्याङ्गत्वेनान्वयः। 'साकाङ्क्षस्यैव गुणेऽन्वेषणेति न्यायादित्यत आह—प्रयाजैरित्यादिना। सा च प्रयाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षा सन्दंशलब्धैरेवाभिक्रमणादिभिः शाम्यतीत्याह—सा चेत्यादिना। तथा चोक्तम्—

परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभिः।
ज्ञाते पुनश्च तैरेव सन्दंशेन तदिष्यते।। इति।

ननु प्रयाजभावनाया अङ्गभावनात्वेन कथंभावाकाङ्क्षाभावान्न प्रयाजभावनाकथंभावेनाभिक्रमणं गृह्यत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। प्रयाजादिभावना कथंभावाकाङ्क्षाशून्या अङ्गभाव्नात्वादित्यत्र हेतोरसाधारणानैकान्तिकत्वात्साकाङ्क्षत्वसाधने हेतुसत्त्वाच्च न प्रयाजाद्यङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाशून्यत्वमित्याह—भावनासाम्येनेति। प्रयाजाद्यङ्गभावना कथंभावसाकाङ्क्षा भावनात्वाद्दर्शादिभावनावदिति प्रयोगोऽत्र बोध्यः। न चावहननादिभावनाव्यभिचारः, तस्याः पक्षसमत्वात्। तत्रापि तत्सम्भवादिति। प्रयाजाद्यङ्गभावनायामपि कथंभावाकाङ्क्षासम्भवादित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—'सन्दंश' शब्द का अर्थ सँडसी होता है। चूल्हे आदि पर चढ़े हुये गर्म पात्र सन्दंश (सँडसी) से पकड़कर उतारे जाते हैं। 'सन्देश' में लोहे की दो शलाकायें होती हैं, जिनके बीच में स्थित पात्र उन दोनों शलाकाओं के बाहर बिल्कुल नहीं जा पाता है; अतः सन्दंश से पात्र उठाते समय हाथ से जितनी क्रिया सन्दंश में होती है, उतनी पात्र में भी होती है और वह पात्र उन दो शलाकाओं से बाहर नहीं जा पाता है, इसलिये नहीं गिरता और यदि कदाचित् असावधानी हो जाती है, ठीक प्रकार से उन दो शलाकाओं के बीच में पात्र नहीं रह पाता तो वह गिर जाता है। इसी प्रकार यज्ञसम्बन्धी विधान के अवसर पर जहाँ किसी एक अङ्गी के दो अङ्ग कहे जाते हैं और उन दोनों के बीच कोई तीसरी क्रिया कही जाती है तो वह तीसरी क्रिया, जिसमें पहिले उन दोनों क्रियाओं के अङ्गी के अङ्गत्व का निर्णय नहीं रहता है, वहाँ मध्यवर्ती क्रिया भी उन्हीं दोनों पूर्वापरवर्ती क्रियाओं के अङ्गी का ही अङ्ग मानी जाती है, क्योंकि दोनों क्रियायें सँडसी के शलाकाद्वयस्थानीय और मध्यवर्ती वह क्रिया उत्तारणीय पात्रस्थानीय हो जाती है। अतः वह मध्यवर्ती क्रिया दोनों ओर की क्रियाओं के स्वभाव से वैजात्य नहीं रख पाती है। इसीलिये उन दोनों की तरह वह मध्यवर्ती क्रिया भी उन दोनों क्रियाओं के अङ्गी का ही अङ्ग होती है।

उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—'दर्श' एवं 'पूर्णमास' प्रधान याग हैं। दर्शपूर्णमास के अङ्ग प्रयाज हैं। प्रयाज पाँच क्रियाओं का समूह है[1]। अङ्गभूत प्रयाज-रूप क्रिया-समूह का विधान (वाद) **प्रयाजाः कर्तव्याः** विधि द्वारा किया जाता है। इसी को 'एकाङ्गवाद' कहा जाता है। पुनः प्रयाजसमूह की क्रियाओं का पृथक्-पृथक् विधान **समिधो यजति** आदि वाक्यों से होता है। इसी पुनर्विधान को 'अनुवाद' कहा जाता है। इस प्रकार **समिधो यजति** आदि वाक्यों से 'एकाङ्गानुवाद' हुआ।

इसके पश्चात् प्रयाज के एक अङ्गक्रिया का विधान **समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा** इस मन्त्र से किया जाता है। इस क्रिया को 'घृतानयन' कहते हैं, क्योंकि यहाँ 'उपभृत्' नामक पात्र से घी लाकर 'जुहू' में रखा जाता है।

इसके पश्चात् अभिक्रमण क्रिया का विधान **यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते, प्रैभ्यो, लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते। अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै।** इस विधि से किया जाता है। इस क्रिया को अभिक्रमण कहते हैं, क्योंकि इसमें आहवनीयाग्नि के चारो ओर भ्रमण-परिभ्रमण करते हुये यागानुष्ठान किया जाता है। अभी यह निश्चय नहीं है कि 'अभिक्रमण' किसका अङ्ग है, यही निश्चित करना है।

इसके अनन्तर प्रयाज की एक अङ्गक्रिया का विधान **यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद** इस विधि से किया जाता है। इस अङ्ग का नाम 'मिथुनवेदन' है। उक्त तीनों क्रियाओं का क्रम इस प्रकार है—

१. समिधो जयति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति।

१. घृतानयन—प्रयाज की अङ्गक्रिया।
२. अभिक्रमण?
३. मिथुनवेदन—प्रयाज की अङ्गक्रिया।

उक्त स्थिति को सन्दंशस्थिति कहा जाता है। यदि 'घृतानयन' सन्दंश की एक शलाका है तो 'मिथुनवेद' दूसरी शलाका। 'अभिक्रमण' पात्रस्थानीय है।

ऐसी स्थिति में 'अभिक्रमण' भी प्रयाज का अङ्ग होगी, क्योंकि वह प्रयाज के अङ्गों के बीच में पठित है। प्रयाज के अङ्गों के बीच में पठित होने से अभिक्रमण क्रिया भी प्रयाज का अङ्ग होगी। ध्यान रहे, अभिक्रमण न तो घृतानयन का अङ्ग होगी और न ही मिथुन-वेदन का; अपितु प्रयाज का अङ्ग होगी; क्योंकि घृतानयन एवं मिथुनवेदन भी प्रयाज के ही अङ्ग हैं और इन्हीं दो के बीच में 'अभिक्रमण' का पाठ मिलता है।

प्रकरण होने के कारण अवान्तर प्रकरण भी उभयाकाङ्क्षात्मक है। प्रयाजभावना में कथंभावाकाङ्क्षा पाई जाती है। 'प्रयाजाः कर्तव्याः' का अभिप्राय यह है कि प्रयाज का सम्पादन करके जो अपूर्व उत्पन्न हो, उससे अङ्गीभूत दर्शपूर्णमास का उपकार हो। प्रयाजों के द्वारा अपूर्व कैसे (कथम्) उत्पन्न किया जाय। (**'प्रयाजैरपूर्वकृत्वा यागोपकारं भावयेत् इति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्, इति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्**)। इधर 'अभिक्रमण' क्रिया का भी कुछ साध्य होना चाहिये, अतएव अभिक्रमणभावना साध्य की अपेक्षा रखती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा—**अभिक्रमणेन किं भावयेत्।**

प्रयाजभावना की कथंभावाकाङ्क्षा—**एभि अपूर्वं कथं कर्तव्यम्** का शमन **अभिक्रम-णानुष्ठानेन अपूर्वं कर्तव्यम्** से हो जाता है। इस प्रकार अवान्तर प्रकरण में प्रयाज एवं अभिक्रमण दोनों परस्पर साकाङ्क्ष हुये।

प्रयाज दर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं, अतएव प्रयाजभावना अङ्गभावना हुई। पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि अङ्गभावना को कथंभावाकाङ्क्षा की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए[1], क्योंकि अङ्गभावना स्वयं अपनी प्रधान भावना की कथंभावाकाङ्क्षा का उपशमन करती है। **दर्शपूर्ण-मासाभ्यां कथं स्वर्गं भावयेत्** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा होने पर **प्रयाजोपकृताभ्यां दर्शपू-र्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा का उपशमन ही प्रयाजों का प्रयोजन है।

सिद्धान्ती का उत्तर है कि 'भावना कथंभावाकाङ्क्षायुक्त होती है' यह एक सामान्य नियम है, अतएव कैसी भी भावना हो, चाहे वह अङ्गभावना हो या प्रधान, उसमें कथंभावा-काङ्क्षा अवश्य होगी। प्रयाजभावना भी भावना ही है, अतएव उसमें भी कथंभावाकाङ्क्षा होगी।[2]

१. प्रयाजादिभावना कथंभावाकाङ्क्षाशून्या अङ्गभावनात्वात्। (कौमुदी)
२. प्रयाजाद्यङ्गभावना कथंभावसाकाङ्क्षा भावनात्वात् दर्शादिभावनावदिति प्रयोगोऽत्र बोध्यः। (कौमुदी)

प्रसङ्ग—प्रकरण के द्वारा क्रिया का ही साक्षात् भाव से विनियोग होता है, द्रव्य एवं गुण का विनियोग क्रिया के माध्यम से परम्परया होता है, इस विषय का विवेचन किया जा रहा है—

प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद् विनियोजकम्

३९. प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथा हि—'यजेत स्वर्गकामः' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां सन्निधिपठिताश्रू-यमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि 'हस्तेन कुठारेण च्छिन्द्यात्' इत्यत्र कथंभा-वाकाङ्क्षायामुच्चार्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वेति, किन्तु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव। हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सर्वजनीनमेतत्।

तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा।

अर्थ—पूर्वोक्त द्विविध प्रकरण द्वारा क्रिया ही साक्षात् रूप से विनियुक्त (अङ्गभावापन्न) समझी जाती है, द्रव्य एवं गुण तो क्रिया द्वारा परम्परया विनियुक्त अर्थात् अङ्गभूत समझे जाते हैं। उदाहरण के लिये **यजेत स्वर्गकामः** एक विधि है। यहाँ याग से 'स्वर्गरूप फल का सम्पादन कैसे करना चाहिये' इस प्रकार फलभावना में कथंभावाकाङ्क्षा होने पर **यजेत स्वर्गकामः** इस विधि के समीप में पठित वह क्रिया का समूह, जिसके फल का निर्देश नहीं किया गया है, उपकार्य (अङ्गीयाग) की आकाङ्क्षा से इतिकर्तव्यता के रूप में अन्वित होता है। लोक में भी 'यह काम कैसे करें' इस तरह कथंभावाकाङ्क्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय देखा जाता है। अगर कोई कहे कि—**हस्तेन कुठारेण छिन्द्याद्** अर्थात् 'हाथ से कुल्हाड़े के द्वारा लकड़ी काटनी चाहिये' यहाँ 'कैसे काटे'? इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा होने पर हाथ (द्रव्य) भी अन्वित हो जाता है, क्रिया तो नहीं अन्वित होती है—तो यह कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, उक्त प्रकार से कथंभावाकाङ्क्षा होने पर 'हाथ से कुल्हाड़े को उठाकर और गिराकर काटे' इस प्रकार उठाना (उद्यमन) और गिराना (निपातन) ये क्रियायें ही साक्षात् रूप से अन्वित होती हैं। हाथ तो उद्यमन-निपातनरूप क्रिया के द्वारा ही परम्परया अन्वित होता है, यह बात सभी लोग जानते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—निरूपितप्रकरणस्य साक्षाद्विनियोज्यविषयमुपन्यस्यति—तदिदमित्यादिना। प्रकृतस्यैव व्यवहितविनियोज्यमादर्शयति—द्रव्येति। तद्द्वारेति। क्रियाद्वारेत्यर्थः। अत्र च द्रव्यस्य क्रियाद्वारैव प्रकरणं विनियोजकं गुणस्य तु द्रव्यक्रियोभयद्वारा विनियोजकमिति भावः। फलभावनायामिति। फलभावनायां क्रियाजातमितिकर्तव्यता-त्वेनान्वेतीति सम्बन्धः। भिन्नप्रकरणस्थक्रियाया अन्यत्र क्रियायामन्वयापत्तिवारणाय सन्निधिपठितमित्युक्तम्। श्रूयमाणफलस्य क्रियाजातस्येतिकर्तव्यतात्ववारणाय अश्रूयमाणफलमित्युक्तम्। प्रधानस्योपकारकाङ्क्षाभावे तत्र तदन्वयादर्शनात्कथंभा-

वाकाङ्क्षायामित्युक्तम्। गुणस्याप्युपकार्याकाङ्क्षाभावेऽप्युपकारकत्वेनान्वयादर्शनादुपकार्याकाङ्क्षयेत्युक्तम्। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां क्रियाया एव साक्षादन्वये लोकप्रसिद्धिं हेतुत्वेन दर्शयति—क्रियाया एवेत्यादिना। क्रियाया एवान्वयदर्शनादित्यन्वय इत्यर्थः। कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथमिति कथंभावाकाङ्क्षायां हस्तेनेत्युच्चार्यमाणोऽपि हस्तो न हि च्छिदिभावनायां साक्षादन्वेतीत्यभिप्रेत्याह— न हीत्यादिना। उद्यमननिपातने एवान्वित इति शेषः। उद्यमनं च निपातनं चोद्यमननिपातने इति द्विवचनम्। सन्धिस्तु लेखकप्रमादतः। यद्वा—उद्यमनेन निपातन उद्यमननिपातन इति व्याख्येयम्। अत्र चान्वेतीत्यनुषङ्गः। तद्द्वारेति। उद्यमननिपातनद्वारैवेत्यर्थः। सर्वजनीनमिति। सर्वेषु जनेषु भवमित्यर्थः। सर्वजनप्रसिद्धमिति यावत्। किञ्च कथंभावाकाङ्क्षा नाम करणगतप्रकाराकाङ्क्षा थमुनः प्रकारवाचित्वात्, सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः, सामान्यं च क्रियारूपमेवाख्यातेनोच्यते। 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यस्य ह्ययमर्थः—यागेन तथा कर्तव्यं यथा स्वर्गो भवतीति, क्रियासामान्यस्य च विशेषः क्रियैव भवति, न हि ब्राह्मणविशेषः परिव्राजकादिरब्राह्मणो भवति, एवञ्च करणगतक्रियाविशेषाकाङ्क्षापरनामधेयायां कथंभावाकाङ्क्षायां क्रियैवान्वेतीति युक्तम्। स च करणगतः क्रियाविशेषोऽन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तःक्रियारूप एवेति युक्तं तस्य प्रकरणेनैव ग्रहणं तस्य च करणगतत्वं तदुपकारकत्वमेव तेन विना यागेनापूर्वाजननात्। न ह्युद्यमननिपातनव्यतिरेकेण कुठारेण द्वैधीभावो जन्यते। तत्सिद्धं कथंभावाकाङ्क्षया क्रियैवान्वेतीति। तदिदं प्रकरणं स्थानादितो बलीयो भवति। तथा हि—राजसूयप्रकरणे पश्विष्टिसोमभागा बहवः समप्रधानभूताः पठ्यन्ते। तत्र च कश्चिदभिषेचनीयसंज्ञकः सोमयागः पठितः। तस्य हि सन्निधौ विदेवनादयो धर्माः 'अक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनाति शौनःशेपमाख्यापयती'ति श्रूयन्ते। जिनाति जयतीत्यर्थः। बह्वृचब्राह्मणे समाम्नातं शुनःशेपविषयमुपाख्यानं शौनःशेपं तदाख्यापयतीत्यर्थः। तत्र च विदेवनादीनां सन्निधिबलादभिषेचनीयाङ्गत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः, राजसूयेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामनुवृत्तायां विहिता विदेवनादयः प्रकरणेन राजसूयशेषा एव भवन्ति। राजसूयश्च बहुयागात्मको भवति। ततश्च तत्रत्यसर्वयागशेषत्वं विदेवनादीनां सिध्यति। किञ्चाभिषेचनीयस्य काचिदप्याकाङ्क्षा विदेवनादिषु नास्त्येव। तस्य ज्योतिष्टोमविकृतित्वेनातिदिष्टैरेव प्राकृताङ्गैस्तदाकाङ्क्षानिवृत्तेः।

अर्थबोधिनी—अन्य प्रमाणों की भाँति महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण—दोनों प्रकरणों के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है; किन्तु जहाँ श्रुति एवं लिङ्ग आदि अन्य प्रमाणों से गुण (आरुण्य, सङ्ख्या), द्रव्य (व्रीहि), क्रिया (प्रोक्षण), लिङ्ग (पुंस्त्व) एवं मन्त्र आदि अङ्गरूप में समझे जाते हैं, वहाँ दोनों प्रकार के प्रकरण प्रमाणों से क्रिया ही अङ्गरूप में समझी जाती है अर्थात् प्रकरण साक्षात् रूप से केवल क्रिया के विनियोजक होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रकरणप्रमाणस्थल में द्रव्य एवं गुण का विनियोग होता ही नहीं। द्रव्य एवं गुण का विनियोग परम्परया क्रिया के माध्यम से होता है और क्रिया का विनियोग साक्षात् रूप से होता है।

इसका कारण यह है कि प्रकरणस्थल में सर्वत्र उभयाकाङ्क्षा होती है और अङ्गी क्रि की ओर से कथंभावाकाङ्क्षा होती है कि 'अङ्गी क्रिया के फल का सम्पादन किस प्र करना चाहिये?' जैसे **यजेत स्वर्गकामः** वाक्य में **यागेन स्वर्गं कथं भावयेत्** इस प्र 'कथंभाव' की आकाङ्क्षा है अथवा **प्रयाजाः कर्तव्याः** इस प्रकार विधान होने पर प्रया **कथम् अपूर्वं भावयेत्** इस प्रकार कथंभावाकाङ्क्षा होती है। इस तरह हम देखते हैं कि अङ्गीभूत क्रियाभावना सदैव कथंभाव की आकाङ्क्षा से युक्त रहती है। इस आकाङ्क्षा की शान्ति 'अङ्ग' से होती है। अङ्ग से 'कथंभावाकाङ्क्षा' की शान्ति तभी हो सकती है जब अङ्ग 'क्रिया' हो, क्योंकि 'कैसे?' या 'किस प्रकार?' करें का उत्तर क्रिया ही हो सकता है। वस्तुतः 'कैसे?' या 'किस प्रकार?' करें के मूल में क्रियासम्पादनप्रकार की आकाङ्क्षा निहित है, जिसका शमन किसी क्रिया से ही हो सकता है।

उदाहरण के लिये यदि यह कहा जाय कि 'कुल्हाड़े से काटो' और इस पर भी कोई पूछ बैठे कि किस तरह या कैसे काटें?' तो इसका उत्तर होगा—'कुल्हाड़े को उठाकर और गिराकर उससे काटो'। इस प्रकार 'कैसे?' का उत्तर 'उठाना-गिराना' ये क्रियायें हुईं। 'किस तरह काटे?' का उत्तर 'हाथ से' यह नहीं होगा, क्योंकि यह उत्तर तो 'किससे' या 'किसके द्वारा' इस प्रश्न का होगा और वह भी 'उठाने-गिराने' के सम्बन्ध में। अर्थात् यदि यह प्रश्न हो कि 'किससे उठायें?' तो उत्तर होगा 'हाथ से'। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'किस तरह काटें?' का उत्तर 'उठना-गिराना' क्रियायें हैं, न कि हाथ। हाँ, हाथ 'उठाने गिराने' क्रियाओं का अङ्ग होने से उद्यमन-निपातन क्रिया के द्वारा (परम्परया) छेदनात्मक मुख्य क्रिया से अन्वित होता है, साक्षात् रूप से नहीं। साक्षात् रूप से अन्वय क्रिया का होता है। उक्त लौकिक दृष्टान्त से सभी लोग परिचित हैं। इसी के आधार पर यह समझ लेना चाहिये कि प्रकरणस्थल में भी क्रिया ही साक्षात् रूप में विनियुक्त होती है एवं द्रव्य तथा गुण क्रिया के द्वारा ही अन्वित होते हैं, साक्षात् रूप में नहीं।

प्रसङ्ग—अब प्रकरण एवं स्थान प्रमाण के बलाबल पर विचार किया जा रहा है—

४०. प्रकरणस्य स्थानादिभ्यो बलवत्त्वम्

इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एव 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' इति वेदनादयो धर्मा अभिषेचनीयसन्निधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किन्तु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गम्।

अर्थ—यह प्रकरण स्वपरवर्ती स्थान आदि सभी प्रमाणों से बलवान होता है, इसीलिये **अक्षैर्दीव्यति** (अर्थ—गोटों से जुआ खेलता है') और **राजन्यं जिनाति** (अर्थ—राजा को जीतता है) इस प्रकार देवन (जुआ खेलना) आदि धर्म अभिषेचनीय क्रिया के समीप

पठित होने पर भी 'स्थान' प्रमाण से उस 'अभिषेचनीय क्रिया' का अङ्ग नहीं होते हैं; अपितु प्रकरण प्रमाण से राजसूय के अङ्ग होते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु सन्निहितविधिबलादाकाङ्क्षोत्थाप्यत इति चेत् तर्ह्याकाङ्क्षारूपमन्तराले प्रकरणमादौ परिकल्प्य तद्द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतिकल्पनयासन्निधिर्विप्रकृष्यते, राजसूयाकाङ्क्षारूपं महाप्रकरणं तु क्लृप्तत्वादेकयाऽऽकाङ्क्षया सन्निकृष्यते, ततश्च प्रकरणेन सन्निधेर्बाधात्सर्वे यागशेषा विदेवनादयो धर्मा इत्यभिप्रेत्य प्रकरणस्य स्थानादिभ्यो बलवत्त्वमाह**—इदं चेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—प्रकरण प्रमाण स्वपरवर्ती 'स्थान' एवं 'समाख्या' नामक प्रमाणों से अधिक बलवान होता है। प्रकरण केवल उक्त दो प्रमाणों से बलवान है, अतएव ग्रन्थकार को 'स्थानादिभ्यः' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग नहीं करना चाहिये था। हाँ, स्थान प्रमाण के तीन प्रभेद और समाख्या प्रमाण के दो प्रभेद, इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच प्रभेदों की दृष्टि से बहुवचनान्त 'स्थानादिभ्यः' पाठ को उचित माना जा सकता है।

प्रकरण स्थान प्रमाण से अधिक बलवान है, इस कथन की पुष्टि में दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। 'राजसूय' एक याग है, जिसके अन्तर्गत अनेक याग (यागसमूह) हैं, जिसमें से एक 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग भी है। इसी अभिषेचनीय याग के समीप **अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनश्शेपमाख्यापयति** इस मन्त्र का पाठ है। इस मन्त्र से जुआ खेलना (देवन), ज्यान (जीतना) एवं आख्यापन आदि धर्मों का विधान है।[1] 'अभिषेचनीय' ज्योतिष्टोम का विकृति याग भी है।

अब प्रश्न यह है कि **अक्षैर्दीव्यति** इत्यादि मन्त्र द्वारा विहित देवन (जुआ खेलना) आदि धर्म प्रकरण प्रमाण से राजसूयबोध्य सभी यागों के अङ्ग होंगे या स्थान-प्रमाण से केवल अभिषेचनीय के? **राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत** यह विधि है। इसका अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होगा—**राजा राजसूययागेन स्वाराज्यं भावयेत्**। यहाँ भावना कथंभावाकाङ्क्ष है अर्थात् **राजसूययागेन स्वाराज्यं कथं भावयेत्** इस प्रकार इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है। इस इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा का शमन देवन आदि धर्मों से होता है। इधर देवन आदि धर्मों में भी साध्याकाङ्क्षा है अर्थात् इनसे क्या किया जाय? इसलिये यहाँ उभयाकाङ्क्षा होने से प्रकरण मान्य होता है और प्रकरण द्वारा देवनादि धर्म राजसूय

१. अस्ति राजसूयः, 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनन स्वाराज्यरूपफलोद्देशेन विहितः। तत्र अनुमत्यादयः इष्टय, पञ्चवातीयादयो द्रवीहोमाः, 'आदित्यां मलहां गर्भिणीमालभते' इत्यादयः पशुयागाः, पवित्राभिषेचनीयदशपेयकेशवपनीयव्युष्टिद्विरात्रक्षत्रधृतिसंज्ञकाः षट् सोमयागाश्च विहिताः। तत्र अभिषेचनीयाख्यसोमयागसन्निधौ 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनश्शेपमाख्यापयति' इत्यादिभिः अक्षदेवनराजन्यजयादयः श्रूयन्ते त इत्यर्थः। (सारविवेचिनी

के अङ्ग होते हैं[1] अर्थात् देवनादि धर्म राजसूय के अन्तर्गत सभी यागों के अङ्ग होते हैं। इन्हीं यागों में से अभिषेचनीय भी अन्यतम है। अभिप्राय यह है कि प्रकरण प्रमाण से देवनादि धर्म राजसूय की सभी इकाइयों का, जिनमें अभिषेचनीय याग भी एक इकाई है, अङ्ग होते हैं।

अभिषेचनीय और देवनादि धर्मों के बीच उभयाकाङ्क्षा नहीं है, क्योंकि अभिषेचनीय ज्योतिष्टोम का विकृति याग है, अतएव अभिषेचनीय की कथंभावाकाङ्क्षा का शमन **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इस अतिदेशवाक्य से हो जाता है।[2] अतएव उभयकाङ्क्षा न होने से अभिषेचनीय एवं देवनादि धर्मों के अङ्गाङ्गिभाव के निश्चय में प्रकरण प्रमाण प्रवृत्त नहीं हो सकता।

यद्यपि अभिषेचनीय कथंभावाकाङ्क्ष नहीं है तथापि इसके समीप देवनादि धर्मों का पाठ पाया जाता है, इसलिये यदि कथमपि उसे कथंभावाकाङ्क्ष एवं देवनादि धर्मों को आकाङ्क्षाशामक मान लिया जाय तो अभिषेचनीय एवं देवनादि धर्मों के बीच अङ्गाङ्गिभाव का निश्चय किया जा सकता है। उक्त स्थिति स्थान प्रमाण द्वारा मान्य होती है। इसके पश्चात् (१) उभयाकाङ्क्षा रूप प्रकरण, (२) वाक्य, (३) लिङ्ग एवं (४) श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है तक कहीं जाकर विनियोग होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थान प्रमाण से विनियोग मानने पर स्थान एवं विनियोग के बीच चार प्रमाणों का व्यवधान है, जबकि प्रकरण प्रमाण से विनियोग मानने पर प्रकरण और विनियोग के बीच केवल तीन प्रमाणों का। प्रकरण स्थान की अपेक्षा विनियोग के अधिक समीप है, अतएव अधिक बलवान है। इसीलिये देवनादि धर्म प्रकरण से राजसूय (राजसूयगत सभी यागों का जिसमें अभिषेचनीय भी एक है) के अङ्ग होते हैं, स्थान प्रमाण से (केवल) अभिषेचनीय के ही अङ्ग नहीं।

प्रसङ्ग—अब स्थान प्रमाण का लक्षण एवं उसके प्रभेदों का निरूपण प्रस्तुत है—

४१. स्थानलक्षणम्

देशसामान्यं स्थानम्। तद् द्विविधं—पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्। पाठसादेश्यमपि द्विविधं—यथासङ्ख्यपाठः सन्निधिपाठश्चेति।

अर्थ—देश की समानता को स्थान प्रमाण कहते हैं। स्थानप्रमाण के दो भेद होते है—१. पाठसादेश्य एवं २. अनुष्ठानसादेश्य। 'स्थान' एवं 'क्रम'' शब्द एकार्थवाची हैं

१. प्रकरण से—१. वाक्य की कल्पना, २. लिङ्ग की कल्पना एवं ३. श्रुति की कल्पना होकर विनियोग होता है।

२. अभिषेचनीयस्याव्यक्तचोदनाचोदितत्वेन ज्योतिष्टोमविकारत्वात्प्राकृतैरेव धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वात्। (मीमांसान्यायप्रकाश)

अर्थात् प्रकृत स्थल में 'स्थान' शब्द का अर्थ क्रम है। पाठसादेश्य के भी दो प्रभेद होते हैं—१. यथासङ्ख्य पाठ और २. सन्निधि-पाठ।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**स्थानं लक्षयति**—देशसामान्यमिति। **सन्निधिविशेषत्वमिति लक्षणान्तरम्। स्थानं क्रमश्चेति लक्ष्यत्वेन निर्दिश्यते। पाठसमानदेशत्वेनानुष्ठानसमानदेशत्वेन च स्थानं विभजते**—तद्द्विविधमित्यादिना। **यथासङ्ख्यपाठत्वेन सन्निधिपाठत्वेन च पाठसमानदेश-त्वमपि विभजते**—पाठसादेश्यमित्यादिना।

अर्थबोधिनी—देश की समानता अर्थात् स्थान की समानता को 'स्थान' प्रमाण कहते हैं। उदाहरण के लिये, जैसा कि पिछले विभाग में प्रतिपादित किया गया है, 'अभिषेचनीय' याग एवं देवनादि धर्मों का पाठ समान देश अर्थात् एक ही स्थान पर पाया जाता है। अतएव 'स्थान की समानता' को स्थान प्रमाण माना गया है। स्थान का अर्थ 'क्रम' भी होता है; अतएव जो विनियोग क्रम के आधार पर होता है, उसे स्थानप्रमाणबोध्य मानना चाहिये। स्थान प्रमाण के दो भेद हैं—१. पाठसादेश्य एवं २. अनुष्ठानसादेश्य। पाठसादेश्य के भी दो भेद हैं—१. यथासङ्ख्यपाठ और २. सन्निधिपाठ। इन सभी प्रभेदों का विवरण अग्रिम विभागों में प्राप्त होता है।

प्रसङ्ग—पहिले पाठसादेश्य के प्रथम प्रभेद—यथासङ्ख्यपाठ के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है—

४२. यथासङ्ख्यपाठाद् विनियोगः

तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासङ्ख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासङ्ख्यपाठात्। प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते समानदेशत्वात्। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि।

अर्थ—यथासङ्ख्य से होने वाले विनियोग को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझना चाहिये—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्** एवं **वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्** इन दो विधियों का क्रमशः पाठ प्राप्त होता है। इन विधियों का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—'इन्द्र एवं अग्नि के लिये ग्यारह कपालों में निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिये' एवं 'वैश्वानर के लिये बारह कपालों में तैयार किये गये पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिये'। उक्त दो विधि-वाक्यों के पश्चात् **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** (इन्द्र एवं अग्नि द्युलोक के प्रकाशक हैं) आदि याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ मिलता है। अब यथासङ्ख्यपाठ से यह बोध होता है कि प्रथम मन्त्र प्रथमविधिबोध्य क्रिया का अङ्ग है और द्वितीय मन्त्र द्वितीयविधिबोध्य क्रिया का अङ्ग है। यह इसलिये है कि प्रथम मन्त्र के विषय में 'यह मन्त्र किसके

लिये है' इस प्रकार कैमर्थ्याकाङ्क्षा होने पर प्रथमपठित क्रिया ही पहिले बुद्धि में उपस्थित होती है, क्योंकि जैसे यह मन्त्र पहिले स्थान पर है, वैसे ही क्रिया भी प्रथमस्थानीय है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्र के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तत्र यथासङ्ख्यपाठत्वेन समानदेशत्वं तमुदाहरति—तत्रैन्द्राग्नमित्यादिना। प्रथमस्य प्रथममिति। प्रथमस्यैन्द्राग्नमित्यैन्द्राग्नेष्टियागस्य 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इति प्रथमं याज्यानुवाक्यायुगलमङ्गं, द्वितीयस्य वैश्वानरमिति वैश्वानरेष्टियागस्य 'वैश्वानरोऽजीजन'दित्यादि द्वितीयमङ्गमित्यर्थः। एवंरूपे विनियोगे हेतुमाह—प्रथमपठितमन्त्रस्येत्यादिना। कैमर्थ्याकाङ्क्षायामिति। किमर्थोऽयं मन्त्र इति कैमर्थ्याकाङ्क्षायामित्यर्थः। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापीति। किमर्थोऽयं मन्त्र इति द्वितीयमन्त्रस्यापि कैमर्थ्याङ्क्षायां द्वितीयस्थाने विहितमेव कर्मोपतिष्ठते समानदेशत्वादित्यर्थः। कोऽर्थो यस्य स किमर्थः, तस्य भावः कैमर्थ्यं, तस्याकाङ्क्षायामिति निरुक्त्या किमनेन मन्त्रेण भाव्यमिति सिध्यति। अत्र च क्रमस्योदाहरणान्तरमपि वर्तते। तथा हि—दर्शपूर्णमासयोराध्वर्यवे काण्डे आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीययागाः क्रमेणाम्नाताः। याजमाने च काण्ड आग्नेयादिविषयास्तेनैव क्रमेण मन्त्रा आम्नाताः 'अग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासं दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेयमग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयास'मिति। तत्राद्यन्तयोराग्नेयाग्नीषोमीययोः कर्मणोराद्यन्तौ मन्त्रौ, मध्यमस्य चोपांशुयाजस्य कर्मणो मध्यमो 'दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेय'मिति मन्त्रोऽङ्गं, तस्य च ब्राह्मणवाक्यमेवमाम्नायते—'एतया वैदब्ध्या देवा असुरान् दभ्नुवन् तयैव भ्रातृव्यं दाम्नोती'ति दिधर्घातकमायुधमित्यर्थः। न चाग्नेयाग्नीषोमीययोरप्यनिष्टनिवारकत्वेन साधारणलिङ्गेन दब्धिमन्त्रस्याङ्गत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। यथा वाक्यद्वयानुसन्धानेन सम्पन्नं प्रकरणं पृथक्प्रमाणं तथा प्रकरणद्वयानुसन्धानसम्पन्नेन क्रमप्रमाणेनोपांशुयाजे तस्य मन्त्रस्य विनियोगात्। न च क्रमस्य प्रकरणस्य प्रकरणेऽन्तर्भाव इति वाच्यम्। द्वयोर्वाक्ययोरिव प्रकरणयोरेकवाक्यत्वाभावात्। तस्मात्क्रमप्रमाणेन मध्यवर्तिन उपांशुयाजंस्य मध्यवर्ती मन्त्रोऽङ्गं समानदेशत्वादिति यथासङ्ख्यपाठत्वाद्विनियोग उक्तः।

अर्थबोधिनी—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् (मैत्रायणी संहिता–२.१.१) एवं वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् (मैत्रायणी संहिता–२.१.२) इन दो विधियों द्वारा क्रमशः ऐन्द्राग्न याग एवं वैश्वानर याग का विधान प्राप्त होता है। पुनः मैत्रायणी संहिता (४.११) में ही दो 'याज्यानुवाक्या' संज्ञक युग्म (जोड़ा) मन्त्रों का पाठ इन्द्राग्नी रोचना दिवः एवं वैश्वानरोऽजीजनत् आदि से प्रारम्भ होते हुये प्राप्त होते हैं। उक्त विषय को स्पष्टरूपेण इस प्रकार समझा जा सकता है—

याग–पाठ की क्रमसङ्ख्या

सङ्ख्या १—ऐन्द्राग्न याग

सङ्ख्या २—वैश्वानर याग

याज्यानुवाक्या मन्त्र-पाठ की क्रम-सङ्ख्या

सङ्ख्या १—**इन्द्राग्नी रोचना दिवः** आदि से प्रारम्भ किया गया याज्यानुवाक्या।

सङ्ख्या २—**वैश्वानरोऽजीजनत्** आदि से प्रारम्भ किया गया याज्यानुवाक्या।

इन्द्राग्नी रोचना दिवः आदि प्रथमस्थानीय मन्त्र पढ़ते समय यह जिज्ञासा होती है कि इस मन्त्र का फल क्या है? यह मन्त्र किमर्थक—किंप्रयोजनक है? इस प्रकार कैमर्थ्याकाङ्क्षा होने पर आकाङ्क्षा की शान्ति प्रथम-स्थानीय ऐन्द्राग्न याग से होती है। जैसा कि ऊपर क्रमसङ्ख्या से स्पष्ट हो गया है कि **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** की सङ्ख्या १ है और ऐन्द्राग्न याग की भी सङ्ख्या १ है। इस प्रकार यथासङ्ख्यपाठ द्वारा **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** आदि याज्यानुवाक्या मन्त्र ऐन्द्राग्न याग के मन्त्र होते हैं।

इसी प्रकार (सङ्ख्या-२) **वैश्वानरोऽजीजनत्** आदि याज्यानुवाक्या मन्त्र वैश्वानर याग (सङ्ख्या-२) के अङ्ग होते हैं।

प्रसङ्ग—सम्प्रति पाठसादेश्य के द्वितीय प्रभेद—सन्निधिपाठ के स्वरूप का निरूपण क्रम-प्राप्त है—

४३. सन्निधिपाठाद् विनियोगः

वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां सन्दंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात् यथा आमनहोमानाम्। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसन्निधिपाठानर्थक्यापत्तेः।

अर्थ—प्रकृति याग के अङ्गों के अनुवाद से विहित जो विकृति याग के सन्दंशपठित अङ्ग होते हैं, वे सन्निधिपाठ-रूप प्रमाण से विकृति याग के अङ्ग समझे जाते हैं। जैसे आमनहोम सन्निधिपाठ से विकृति का अङ्ग होते हैं; क्योंकि **आमनहोमैः किं भावयेत्** इस प्रकार आमनहोमों के फल के सम्बन्ध में आकाङ्क्षा होने पर विकृतियागजन्य अपूर्व अर्थात् पुण्य ही साध्यरूप में अन्वित होता है। इस प्रकार आमनहोम विकृति याग के अङ्ग समझे जाते हैं। आमनहोम विकृति याग के समीप पठित होने के कारण (सन्निधिपाठ से) ही विकृति याग के अङ्ग होते हैं। यदि आमनहोमों का फल विकृति के अपूर्व के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से और कुछ होता तो इन आमनहोमों का पाठ विकृतियाग के समीप होता ही क्यों? फिर तो विकृति याग के समीप इनका पाठ ही व्यर्थ हो जायेगा।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**सन्निधिपाठात्तु यानि वैकृतान्यङ्गानि प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानि सन्दंशपतितानि तेषां विकृतौ विनियोग इत्याह**—वैकृताङ्गानामित्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथा आमनहोमानामिति। **'अमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहे'**त्यादय आमनहोमाः। यद्वा—**अमनोहोमानामिति पाठः प्रामादिक एव, किन्त्वामनहोमानामिति सकाररहित आपूर्व एव पाठः साधुः।** तत्र च **'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम'** इत्यस्य काम्येष्टि-

इति। तिस्र आहुतीर्जुहोतीति। नन्वामनहोमा 'आमनदेवा' इति। तिस्र आहुतीर्जुहोतीति। नन्वामन-यागस्य सन्निधौ श्रूयन्त आमनहोमा 'आमनदेवा' इति। तिस्र आहुतीर्जुहोतीति। नन्वामनहोमानां फलाकाङ्क्षायां फलवद्विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यंत इत्यसत्, तेषां मुख्यत्वे विरोधाभावात्, ह्याग्नेयादीनां षण्णामनुमत्यादीनां च बहूनां मुख्यत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्य यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकाम' इति वाक्येनाग्नेयादीनां फलसम्बन्धावगमस्तथाऽऽमनहोमानां फलसम्बन्धावगमाभावान्न प्राधान्यं युज्यते, 'सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकाम' इति वाक्यस्य तु सांग्रहण्या एव फलसम्बन्धबोधकत्वेनामनहोमानां तत्सम्बन्धबोधकत्वाभावात्। तस्मात् 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्ग'मिति न्यायात्फलवत्याः सांग्रहण्याः सन्निधावाम्नाता अफला आमनहोमास्तदङ्गमित्यभिप्रेत्य किमर्था इमे किलेति कैमर्थ्याकाङ्क्षायां पलवत्तया विकृत्यपूर्वस्यैव भाव्यत्वेन सम्बन्धे हेतुमाह—उपस्थितित्वादिति। सन्निधिप्रमाणेनोपस्थितत्वादित्यर्थः। नन्वामनहोमानां सांग्रहणीसन्निधिपाठेऽपि विश्वजिन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वमेव किं न स्यादित्यत आह—स्वतन्त्रफलकत्व इत्यादिना। फलवत्कर्मासन्निधौ पठितस्यैवाश्रूयमाणफलस्य विश्वजिन्न्यायेन स्वतन्त्रफलं कल्प्यते। अन्यथा प्रयाजादीनामपि तन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वापत्तिः स्यात्। अफलस्य फलवत्सन्निधौ पाठस्तु तदङ्गत्वायैव। तदभावेऽनर्थकत्वमेव तस्यापद्येतेति भावः।

अर्थबोधिनी—'सांग्रहणी' एक विकृति याग है। इसका प्रकृति याग 'दर्शपूर्णमास' है। वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः विधि द्वारा 'सांग्रहणी' का विधान किया गया है। 'सांग्रहणी' के निकट (सन्निधि) ही आमनहामों का विधान है। आमनहोमों की सङ्ख्या तीन है। इनका अनुष्ठान आमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहा आदि मन्त्रों के उच्चारण द्वारा होता है; इसलिये इन दोनों को 'आमनहोम' कहते हैं। ये आमनहोम प्रयाज एवं अनुयाज के मध्य में विहित हैं। इस प्रकार सांग्रहणी नामक विकृति याग में दर्शपूर्णमास नामक प्रकृति यागों से अतिदेशप्राप्त प्रयाज एवं अनुप्रयाज-संज्ञक अङ्गों के बीच आमनहोमों का विधान है। आमनहोमों का क्या फल है? ऐसी आकाङ्क्षा होने पर सांग्रहणीजन्य अपूर्व ही इनके अनुष्ठान का फल ठहरता है, क्योंकि इनका अपना स्वतन्त्र कोई फल नहीं है; अन्यथा यदि इनका कोई स्वतन्त्र फल होता तो भला आमनहोमों का दर्शपूर्णमास के विकृतिभूत सांग्रहणी के निकट फलरहित रूप में पाठ क्यों होता? अत: इस सन्निधिपाठरूप प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सांग्रहणीजन्य अपूर्व (पुण्य) ही आमनहोमों का फल है। इस प्रकार सन्निधिपाठ के कारण ही ये आमनहोम 'सांग्रहणी' के अङ्ग अर्थात् उपकारक निर्णीत होते हैं अर्थात् सन्निधिपाठ से आमनहोम—विकृति सांग्रहणी के अङ्ग समझे गये।

प्रसङ्ग—अनुष्ठानसादेश्य से होने वाले विनियोग का प्रदर्शन करते हैं—

४४. अनुष्ठानसादेश्याद् विनियोगः

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येऽहनि अग्नीषोमीयः

पशुरनुष्ठीयते। तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते।

अर्थ—अनुष्ठानसादेश्य-सञ्ज्ञक स्थान प्रमाण से यह समझ जाता है कि पशुसम्बन्धी क्रियायें अग्नीषोमीय नामक पशु का अङ्ग होती हैं। औपवसथ्य नामक दिन में अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है। उसी दिन उन क्रियाओं का पाठ मिलता है। अतएव उन क्रियाओं के सम्बन्ध में **आभिः क्रियाभिः किं भावयेत्** इस प्रकार कैमर्थ्याकाङ्क्षा अर्थात् फलाकाङ्क्षा होने पर अनुष्ठेय-रूप में उपस्थित (अनुष्ठानसदेश) जो अग्नीषोमीय पशुजन्य अपूर्व है, वही साध्य रूप में अन्वित होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सन्निधिपाठसादेश्येन विनियोगं निरूप्यानुष्ठानसादेश्येन विनियोगं निरूपयति—पशुधर्माणामित्यादिना। पशुधर्मा ह्युपाकरणपर्यग्निकरणादयस्तत्र प्रजापतेर्जायमानाः, इदं पशुमित्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शनमुपाकरणम्, दर्भज्वालया त्रिःप्रदक्षिणीकरणं पर्यग्निकरणम्, यूपे रज्ज्वा बन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्याः, तेषामनुष्ठानसमानदेशत्वादग्नीषोमीयपशुशेषत्वमेव न तु सवनीयादिशेषत्वमित्यर्थः। किञ्च ज्योतिष्टोमप्रकरणे त्रयः पशवः समाम्नाताः—अग्नीषोमीयः सवनीयोऽनुबन्ध्यश्चेति। तत्राग्नीषोमीयः पशुः सौत्यनामकादह्नः प्राचीने औपवसथ्यनामकेऽह्नि धिष्ण्यनिर्माणादूर्ध्वं समनुष्ठीयते तत्र चैवाह्नि ते धर्माः समाम्नाताः। ततश्च तेषां शेष्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयतयोपस्थितमग्नीषोमीयपश्वपूर्वमेव सन्निधितो भाव्यत्वेन सम्बध्यते, न तु सवनीयानुबन्ध्यापूर्वं तत्सन्निधिविरहात्। अथ कथमिति चेन्न, सवनीयपशोः सौत्यनामकेऽह्नि समाम्नानादाश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोतीति। अनुबन्ध्यस्य त्ववभृथान्ते श्रूयमाणत्वाच्च। तस्मादुपपद्यते ह्येतेषां धर्माणां सन्निधिनाऽग्नीषोमीयार्थत्वं, सवनीयानुबन्ध्ययोस्तु चोदकात्तेऽतिदिश्यन्ते। न च पाठसादेश्यादेव तेषां तदर्थत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। अग्नीषोमीयपशोः सोमक्रयसमीपे पाठात्तेन तत्त्वासम्भवात्। न च क्रयसन्निधावेव तस्यानुष्ठानमपि किं न स्यादिति वाच्यम्। 'स एष द्विदैवत्यः पशुरौपवसथ्येऽहनि आलब्धव्य' इति वाक्यात्तस्य तत्रानुष्ठानानुपपत्तेः। न च स्थानात्प्रकरणस्य बलीयस्त्वात्तेन तद्धर्माणां ज्योतिष्टोमार्थत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। तस्य सोमयागत्वात्तद्धर्मग्रहणायोगात्। सोमो ह्यभिषवादीन्धर्मानाकाङ्क्षति न तु यूपनियोजनविशसनादीन्। तस्मात् 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबल'मिति न्यायेन प्रकरणं प्रधानात्प्रच्याव्य स्थानात्पशुयागार्थत्वमेव पशुधर्माणां युक्तं भवति। न चाङ्गिन्यनर्थकाः सन्तस्ते धर्मा अङ्गेषु त्रिष्वपि पशुयागेष्वविशेषेणावतिष्ठन्त्विति वाच्यम्। सन्निधिरूपस्य विशेषस्य दर्शितत्वात्। न चाग्नीषोमीयेऽपि तद्धर्माणां प्रकरणादेव विनियोगः किं न स्यादिति वाच्यम्। क्लृप्तोपकारैरेव प्राकृतधर्मैरग्नीषोमीयस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया उपशान्तत्वात्। अग्नीषोमीयो

हि सान्नाय्ययागप्रकृतिको भवति तयोरुभयोरपि पशुप्रभवद्रव्यकत्वाविशेषात् सान्नाय्यं दधिपयसी तत्र पशुयागः पयोयागप्रकृतिकः, साक्षात्पशुप्रभवद्रव्यकत्वात्। तच्चोक्तं— 'सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वा'दिति। तस्माच्चोदकप्राप्तैस्तद्धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वान्न पशुयागे तद्धर्माणां प्रकरणं विनियोजकं किन्तु स्थानमेवेत्यभिप्रेत्याह—औपवसथ्येऽह्नीत्यादिना॥

अर्थबोधिनी—यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है। प्रकृत स्थल में 'पशुधर्म' शब्द का जिन क्रियाओं से तात्पर्य हैं, वे तीन हैं—१. उपाकरण, २. पर्यग्निकरण और ३. नियोजन। **प्रजापतेर्याजमानाः** एवं **इदं पशुम्** इत्यादि दो मन्त्रों को पढ़कर पशु को स्पर्श करना 'उपाकरण' कहलाता है। कुश की लौ (अग्निज्वाला) से तीन बार पशु की प्रदक्षिणा करने को 'पर्यग्निकरण' कहा जाता है और पशु को रस्सी से यूप (यज्ञस्तम्भ) में बाँधने की क्रिया को 'नियोजन' कहा जाता है।[1]

ज्योतिष्टोम प्रकरण में तीन पशुओं का अनुष्ठेय रूप में पाठ मिलता है। वे हैं—१. अग्नीषोमीय, २. सवनीय एवं ३. अनुबन्ध्य। इनमें से 'अग्नीषोमीय' पशु का अनुष्ठान 'औपवसथ्य' नामक दिन में, 'सवनीय' पशु का 'सौत्य' नामक दिन में और 'अनुबन्ध्य' पशु का 'अवभृथ' नामक दिन में किया जाता है।

उपाकरण, पर्यग्निकरण एवं नियोजन—इन धर्मों का पाठ उसी स्थान पर है, जिस स्थान पर अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान का विधान है। निम्नलिखित तालिका विषय के स्पष्टीकरण में सहायक होगी—

क्रमाङ्क	दिन	अनुष्ठेय पशु	पठित क्रियायें
१.	औपवसथ्य	अग्नीषोमीय	उपाकरण, पर्यग्निकरण, नियोजन
२.	सौत्य	सवनीय	
३.	अवभृथ	अनुबन्ध्य	

उपाकरण आदि धर्मों के विषय में यह आकाङ्क्षा होती है कि ये धर्म किसके लिये हैं? इनका क्या प्रयोजन या अर्थ है? इसी आकाङ्क्षा को कैमर्थ्याकाङ्क्षा कहते हैं। इस प्रकार कैमर्थ्याकाङ्क्षा होने पर समीपस्थ अग्नीषोमीय पशुजन्य अपूर्व साध्य (अनुष्ठेय) रूप में अन्वित होता है। अर्थात् उक्त आकाङ्क्षा का शमन इस प्रकार होता है—उपाकरण आदि धर्मों का अपना स्वतन्त्र कोई फल नहीं है, इन क्रियाओं का फल यही है कि ये अनुष्ठित होकर अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान से होने वाले अपूर्व को उत्पन्न करें अर्थात् अग्नीषोमीय का उपाकरण आदि होकर तज्जन्य फल की उत्पत्ति हो सके। इन क्रियाओं का सम्बन्ध

---

१. तत्र प्रजापतेर्याजमानाः इदं पशुमित्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शमुपाकरणं दर्भज्वालयाऽर्चिः-प्रदक्षिणीकरणं पर्य्यग्निकरणं, यूपे रज्ज्वाबन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्याः......। (कौमुदी)

अग्नीषोमीय पशु से इसलिये होता है कि वे समान दिन में पठित हैं। उसी औपवसथ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान का विधान है और उसी स्थान पर उपाकरण आदि धर्मों का भी पाठ है; अतएव पाठगत समीपस्थता के कारण अग्नीषोमीय पशु से इन क्रियाओं का सम्बन्ध समझा जाता है। इस प्रकार उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय का अङ्ग समझे जाते हैं।

उपाकरण आदि क्रियायें (धर्म) अन्य पशुओं के अङ्ग प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस अतिदेश वाक्य से समझे जाते हैं।

प्रसङ्ग—'स्थान' प्रमाण 'समाख्या' नामक अन्तिम प्रमाण से अधिक बलवान होता है, इसी की पुष्टि उदाहरण द्वारा की जा रही है—

४५. स्थानं समाख्यातः प्रबलम्

तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अतएव शुन्धनमन्त्रः सान्नाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात्; न तु पौरोडाशिकामिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

अर्थ—पूर्वोक्त 'स्थान' प्रमाण 'समाख्या' नामक प्रमाण से बलवान है। इसीलिये शुन्धनमन्त्र पाठसादेश्यरूप प्रमाण से 'सान्नाय्य' नामक पात्रों का अङ्ग है, न कि 'पौरोडाशिकम्' इस समाख्या से 'पुरोडाश' पात्रों का अङ्ग है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवं स्थानं निरूप्य तस्य समाख्यातः प्राबल्यमाह—तच्च स्थानमित्यादिना। तच्चेति। उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः। तन्त्रे तृतीये चेदं स्थितम्। 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इत्ययं मन्त्रः। पौरोडाशिकमिति याज्ञिकैः समाख्याते काण्डे पठितस्य च समाख्यया पुरोडाशकाण्डोक्तानामुलूखलजुह्वादीनामपि शोधनेऽङ्गत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः, न समाख्यया मन्त्रस्य पुरोडाशपात्राङ्गत्वम्, पदार्थयोर्भिन्नदेशस्थत्वेन सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वात्, स्थानविनियोगे तु पदार्थयोर्देशसामान्यलक्षणः सम्बन्धः प्रत्यक्ष एव। न च सा पदार्थयोः सम्बन्धवाचिका भवति, यौगिकशब्दानां द्रव्यवाचकत्वेन पदार्थसम्बन्धावाचकत्वात्, तथात्वे वा तस्याः सा सम्बन्धमात्रवाचिका तद्विशेषवाचिका वा स्यात्। नाद्यः, तन्मात्रोक्तौ प्रयोजनाभावात्। सर्वेषां यौगिकवचसां पर्यायतापत्तेश्च। द्वितीये तु सम्बन्धविशेषस्य सम्बन्धिविशेषनिरूप्यत्वादवश्यं सम्बन्धिनौ वक्तव्यौ। तथा च सम्बन्धिप्रतिपत्त्यैव वाक्यार्थप्रतिपत्तिन्यायेन सम्बन्धप्रतिपत्तिसम्भवे तत्रापि शक्तिकल्पने गौरवान्न समाख्यायाः सम्बन्धवाचित्वम्। तथा चोक्तम्—

सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते।
न च सम्बन्धवाचित्वं सम्भवत्यतिगौरवात्।।

तथान्यच्च—

पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः।
पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचित्।। इति।

किञ्च पौरोडाशिकमिति समाख्यायां प्रकृतिः पुरोडाशमात्रमभिधत्ते, तद्धितप्रत्ययस्तु पुरोडाशस्येदमिति व्युत्पत्त्या काण्डम्। न चैतावता कृत्स्नपुरोडाशपात्राणां मन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षो भवति किन्त्वर्थापत्त्या स कल्प्यते। कथम्? शृणु, यद्युक्तः सन्निधिर्न स्यात्तदा शुन्धनप्रतिपादकमन्त्रस्य पौरोडाशिकसमाख्या न स्यात्। न ह्यग्न्यसन्निहितानामिषेत्यादि-मन्त्राणामाग्नेयकाण्डसमाख्या भवति। भवति च सा सन्निहितानां 'युञ्जानः प्रथमं मनः' इत्यादिमन्त्राणाम्। ततश्च काण्डसमाख्यया सन्निधिं परिकल्प्य कल्पितकाण्ड-सन्निध्यन्यथानुपपत्त्या परस्पराकाङ्क्षारूपं कृत्स्नपात्रप्रकरणं कल्पयित्वा तद्द्वारा वाक्य-लिङ्गश्रुतीश्च कल्पयित्वा तया श्रुत्या विनियोग इति स्थानापेक्षया विनियोगे समाख्याया विप्रकर्षः। सान्नाय्यपात्राणां तु कुम्भीशाखापवित्रादीनां शोधनमन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षो भवति। कथम्? शृणु, इध्माबर्हिःसम्पादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तरालं सान्नाय्य-पात्राणां देश उक्तः शोधनमन्त्रश्चायमिध्माबर्हिर्निर्वापविषययोर्मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके पठ्यते। तेन च प्रत्यक्षसन्निधिना प्रकरणादीनां चतुर्णामिव कल्पनात्सन्निधिः समाख्यापेक्षया सन्निकृष्यते। तस्मात्क्रमेण समाख्यां बाधित्वा सान्नाय्यपात्राणां शोधने शेषोऽयं मन्त्रो भवतीत्यभिप्रेत्याह—अत एवेत्यादिना। अत एव स्थानस्य समाख्यातः प्रबलत्वादेव। शुन्धनमन्त्रः 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मण' इति मन्त्रः। सान्नाय्यपात्राङ्गमिति सान्नाय्ययाग-योरैन्द्रदध्यैन्द्रपयसोः पात्राणां कुम्भीशाखापवित्रादीनामङ्गमित्यर्थः। पाठसादेश्यादिति। सन्निधिपाठादित्यर्थः। पुरोडाशपात्राङ्गमिति। पुरोडाशपात्राणामुलूखलादीनामङ्गमित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल है। अतएव जहाँ दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति हो रही हो, वहाँ स्थानप्रमाणकृत विनियोग मान्य होगा, समाख्याप्रमाणकृत नहीं। इसीलिये शुन्धनमन्त्र सान्नाय्यपात्रों (के प्रोक्षण[1]) का अङ्ग होता है, क्योंकि पाठसादेश्य-रूप स्थानप्रमाण से शुन्धनमन्त्र सान्नाय्य पात्रों (के प्रोक्षण) का अङ्ग समझा जाता है और प्रकृत मन्त्र पुरोडाशपात्रों (के प्रोक्षण) का अङ्ग नहीं होता है। कारण, यह मन्त्र पुरोडाशपात्रों (के प्रोक्षण) का अङ्ग समाख्या प्रमाण से समझा जा सकता था। समाख्या द्वारा तो मन्त्र दोनों प्रकार के पात्रों के प्रोक्षण का अङ्ग समझा जाता है।

दर्शपूर्णमास याग के विधान में 'पौरोडाशिक' नाम का भी एक 'काण्ड' है। उसी काण्ड में **शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै** इस मन्त्र का पाठ है। यह मन्त्र जैसा कि इसके अर्थ से ही प्रकट होता है, किसी पदार्थ के 'शुद्ध करने' में विनियुक्त होता है। इसीलिये इस मन्त्र को 'शुन्धनमन्त्र' कहा जाता है। इसी 'पौरोडाशिक' काण्ड में दो प्रकार के पात्रों का पाठ है। एक मात्र वे हैं, जिन्हें 'सान्नाय्य' पाठ कहते हैं। इन पात्रों में यज्ञोपयोगी दूध एवं दही रखा जाता है। 'सान्नाय्य' शब्द का अर्थ ही 'दूध-दही' होता है[2]

१. पात्राङ्गं पात्रप्रोक्षणाङ्गम्। (सारविवेचिनी)

२. सान्नाय्यं दधिपयसी। (मीमांसान्यायप्रकाश)

सान्नाय्य पात्रों के अन्तर्गत मुख्य पात्र—कुम्भी, शाखापवित्र, अभिधानी और दोहन पात्र आदि हैं। इन्हीं सान्नाय्य पात्रों के समीप शुन्धनमन्त्र का पाठ प्राप्त होता है। दूसरे पात्र वे हैं, जिन्हें 'पुरोडाशपात्र' कहते हैं। उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन और सिलबट्टा (दृषदुपले) आदि मुख्य पुरोडाशपात्र हैं।[१]

शुन्धन मन्त्र सान्नाय्य पात्रों की सन्निधि में पठित है, अतएव वह सान्नाय्य पात्रों के प्रोक्षण का अङ्ग होता है। कारण, मन्त्र द्वारा कैमर्थ्याकाङ्क्षा होने पर समीपस्थ सान्नाय्य पात्र का भाव्य अपूर्व ही साध्यत्वेन अन्वित होता है। समाख्या द्वारा विनियोग मानने पर मन्त्र सम्पूर्ण काण्ड में पठित सभी पात्रों के प्रोक्षण का अंङ्ग होगा, चाहे वे सान्नाय्य पात्र हों या पुरोडाशपात्र। यह इसलिये कि मन्त्र का पाठ 'पौरोडाशिक' काण्ड में प्राप्त होता है और मन्त्र का सान्निध्य पौरोडाशकाण्डपठित सभी पात्रों से हो सकेगा।

समाख्या द्वारा विनियोग मानने पर समाख्या एवं विनियोग के मध्य स्थान, प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग एवं श्रुति की कल्पना—इन पाँच व्यापारों का व्यवधान होगा; जबकि स्थान द्वारा विनियोग मानने पर स्थान एवं विनियोग के बीच केवल प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग एवं श्रुति की कल्पना—इन चार व्यापारों का ही व्यवधान होगा। अतएव समाख्या विनियोग से विप्रकृष्ट है एवं स्थान सन्निकृष्ट। अतएव स्थान द्वारा विनियोग मान्य होगा, समाख्या द्वारा अमान्य। इसीलिये प्रकृत मन्त्र सान्नाय्य पात्रों के प्रोक्षण का अङ्ग है, न कि पुरोडाशपात्रों के प्रोक्षण का भी।[२]

प्रसङ्ग—अन्तिम प्रमाण—समाख्या के स्वरूप का निरूपण—

४६. समाख्यालक्षणम्

समाख्या यौगिकः शब्दः; सा च द्विविधा वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्यया समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्यया। इति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि।

अर्थ—यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं। समाख्या के दो प्रभेद होते हैं—१. वैदिकी समाख्या एवं २. लौकिकी समाख्या। **होतृचमस** इस वैदिकी समाख्या से 'होता' नामक ऋत्विक् चमसभक्षणरूप क्रिया का अङ्ग समझा जाता है। **आध्वर्यवम्** इस लौकिकी समाख्या से 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् तत्तत् क्रियाओं का अङ्ग समझा जाता है।

इस प्रकार श्रुति आदि छः प्रमाणों का संक्षेप में निरूपण किया गया।

१. कुम्भी, शाखापवित्रम्, अभिधानी, दौहनपात्रमित्यादीनि सान्नाय्यपात्राणि। उलूखलम्, मुसलम्, कृष्णाजिनम्, दृषदुपले इत्यादीनि पुरोडाशापात्राणि। (सारविवेचिनी)

२. देखिये—कौमुदी।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवं स्थानं निरूप्य समाख्यां लक्षयति—समाख्या यौगिकः शब्द इति। अत्र यौगिकशब्दत्वं लक्षणम्, समाख्येति लक्ष्यम्। शब्दश्चतुर्धा यौगिको रूढो योगरूढो यौगिकरूढश्चेति। तत्राध्वर्यवं पाचक इत्यादिर्यौगिकः स एव समाख्येति चोच्यते। यत्रावयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिक इति तन्निर्वचनम्। योऽवयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्यैवार्थं बोधयति स रूढः, यथा गवादिशब्दः। यस्त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्त्यापि प्रवर्तते स योगरूढः। यथा—पङ्कजादिशब्दस्यैवावयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वेन समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मबोधकत्वात्। यस्त्ववयवशक्तिसमुदायशक्तिभ्यां रूढार्थं यौगिकार्थं च स्वातन्त्र्येण बोधयति स यौगिकरूढः यथोद्भिदादिशब्दः। स चोर्ध्वभेदनकर्तृतरुगुल्मादिकं बोधयति यागविशेषमपि चेति। सा यौगिकशब्दात्मिका समाख्या। तत्र, तयोः समाख्ययोर्मध्य इत्यर्थः। होतुरिति। भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात्तत्कर्तुर्होतुर्भवति तदङ्गत्वमित्यर्थः। तत्तत्पदार्थाङ्गत्वमिति। 'पुरोऽध्वर्युर्विभजती'त्यादिना यजुर्वेदेन विहितानां पदार्थानामङ्गत्वमित्यर्थः। लौकिक्येति। याज्ञिकैः परिकल्पितयेत्यर्थः। तृतीये स्थितं 'प्रैतु होतुश्चमस' इत्यत्र समाख्या भक्षहेतुः 'हरिरसि हारियोजन' इत्यनेन मन्त्रेण गृह्यमाणो ग्रहो हारियोजनः। तत्र वाक्यं 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यत्र वषट्कार इत्येवमुक्तत्वात् त्रय एव भक्षहेतव इति प्राप्ते राद्धान्तः—हविर्धाने ग्रामभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान्भक्षयन्तीति श्रूयते। उत्तरवेद्याः प्रतीचीने सदसः प्राचीने मण्डपेऽभिषवः, उत्तरवेद्यां होमः, सदसि भक्षणं, तत्राभिषवहोमयोर्वचनान्तरप्राप्तयोरविधेयतया तयोर्निमित्तत्वेनापूर्वभक्षणं विधीयते। तस्मात्स्थानादिदेतयोरपि भक्षणहेतुत्वमस्तीत्यभिप्रेत्याह—संक्षेप इति। श्रुत्यादिप्रमाणस्य विनियोगविधिसहकारिणो निरूपणमुपसंहरति—तदेवमिति।

अर्थबोधिनी—यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। यौगिक शब्द के अवयवों के अभिधेय अर्थ से ही यौगिक शब्द का अर्थ समझा जाता है। जैसे 'पाचक' शब्द का 'पकाने वाला' अर्थ शब्दावयवभूत 'पच्' धातु एवं 'ण्वुल्' प्रत्यय के अर्थ से अभिहित होता है। अभिप्राय यह है कि जिस शब्द से केवल अवयवार्थ का ही बोध हो, उसे यौगिक कहा जाता है।[१]

यहाँ यौगिक शब्द-रूप समाख्या के दो प्रभेद माने गये हैं—१. वैदिकी एवं २. लौकिकी। वैदिकी समाख्या ऐसे यौगिक शब्दों को कहते हैं, जो वेद में पठित होते हैं—साक्षात् वेद का अङ्ग होते हैं। जैसे—होतृचमसः शब्द वेद में पठित है।[२] इसका अर्थ है—'होता का चमस' (चमचा) अर्थात् 'होता का चमस नामक वह पात्र, जिससे वह

१. यत्रावयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिक इति। (कौमुदी)
२. वेद में 'होतुश्चमसः' का साक्षात् पाठ है; 'होतृचमसः' का नहीं।

सोम रस का पान करता है।' उक्त अभिधेय अर्थ **होतृचमसः** या **होतुश्चमसः** इस यौगिक शब्द से निकलता है। वेद में 'प्रैतु होतुश्चमसः' का पाठ है। लौकिक समाख्या वेद में साक्षात् पठित नहीं होती; अपितु याज्ञिकों द्वारा निष्पन्न होती है।[1] जैसे—**आध्वर्यवम्** यह यौगिक शब्द वेदपठित नहीं है, अपितु मानवनिष्पन्न है।

वैदिकी एवं लौकिकी—दोनों समाख्यायें विनियोगबोध में विधि की सहायता करती हैं। **होतुश्चमसः** या **होतृचमसः** से ज्ञात होता है कि होता चमस का अर्थात् चमसभक्षण का अङ्ग है। यहाँ क्रिया प्रधान है।[2] क्रिया है—चमसभक्षण अर्थात् चमससंज्ञक पात्र में रखे हुये सोम का पान करना'। अतएव चमसस्थ सोम का पान करने के कारण होता अङ्ग हुआ और चमसभक्षण अङ्गी। **आध्वर्यवम्** लौकिकी समाख्या है। इसका अर्थ है—'अध्वर्यु का कर्म' या 'अध्वर्युसम्बन्धी'। 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, अतएव 'आध्वर्यवम्' समाख्या से यह बोध होता है कि अध्वर्यु यजुर्वेद की सभी क्रियाओं का अङ्ग होता है।

इस प्रकार विनियोग विधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभावबोध में सहायक होने वाले श्रुति आदि सभी छः प्रमाणों का विवेचन समाप्त हुआ।

प्रसङ्ग—अब यहाँ विनियोगविधि द्वारा विनियुक्त अङ्गों का विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है—

४७. विनियोजिताङ्गानि द्विविधानि

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना 'समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि, सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि। यानि च दृष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि च द्विविधानि—गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि चेति। एतान्येव सन्निपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।

अर्थ—इन श्रुत्यादि छः प्रमाणों से सहायता प्राप्त करने वाली **समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** (समिद् आदि यागों से उपकृत हुए 'दर्श' एवं 'पूर्णमास नामक याग के अनुष्ठान से इष्ट का सम्पादन करना चाहिए) इस प्रकार की विनियोगविधि के द्वारा दो अङ्ग विनियुक्त होते हैं—१. सिद्धरूप अङ्ग एवं २. क्रियारूप अङ्ग। इनमें जाति, द्रव्य एवं सङ्ख्या आदि सिद्धरूप अङ्ग हैं। इन सबका प्रयोजन दृष्ट (प्रत्यक्ष) ही रहता है। क्रियारूप अङ्ग के दो प्रभेद होते हैं—१. गुणकर्म एवं २. प्रधानकर्म। इनमें से गुणकर्म को 'सन्निपत्योपकारक कर्म' और प्रधानकर्म को 'आरादुपकारक' कर्म कहते हैं।

१. याज्ञिकैः परिकल्पितयेत्यर्थः। (कौमुदी)

२. भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात्तत्कर्तुर्भवति। तदङ्गत्वमित्यर्थः। (कौमुदी)

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एतैः षड्भिः प्रमाणैः सहकृतेन विनियोगविधिना यान्यङ्गानि विनियोज्यन्ते तानि विनियोगविधेः स्वरूपमनुवदन्विभजते—एतदित्यादिना। तत्र सिद्धरूपाणि निर्दिशति—तत्रेति। सिद्धरूपक्रियारूपाणां मध्य इत्यर्थः। जातिः पशुत्वादिः, द्रव्यं व्रीह्यादि, सङ्ख्या एकत्वादिः, तेषां यागस्वरूपोपकारकत्वेन दृष्टार्थत्वमेवेत्याह—तानि चेति। क्रियारूपाणां विभागद्वारा लक्षणमाह—क्रियारूपाणीत्यादिना। गुणस्य कर्माङ्गस्य द्रव्यादेः संस्कारकराणि क्रियाविशेषरूपाणि गुणकर्माणि यथाऽवघातादीनि। प्रधानस्य फलापूर्वस्योपकारकाणि तानि प्रधानकर्माणि यथा प्रयाजादीनि। तेषामेव लक्षणमाह—एतान्येवेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—प्रथम वाक्य का सार अर्थ यह है कि विनियोग विधि के द्वारा जो अङ्ग विनियुक्त किये जाते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं—**विनियोगविधिना यानि अङ्गानि विनियोज्यन्ते तानि द्विविधानि।** प्रथम वाक्य में **विनियोगविधिना** पद के दो विशेषण हैं—१. एतत्सहकृतेन एव २. सामिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण। विनियोगविधि में पूर्वोक्त इन (एतत्) श्रुति आदि छः प्रमाणों से विनियोगबोध में सहायता मिलती है—**एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।**[1] इसीलिए विनियोगविधि को **एतत्सहकृत** कहा गया है।

'दर्श' एवं 'पूर्णमास' मुख्य याग हैं। इनके अङ्गयाग 'प्रयाज' एवं 'अनुयाज' हैं। **समिधो यजति**, आदि विधियों के द्वारा प्रयाज एवं अनुयाज के विधान का अनुवाद होता है, इसका साङ्केतिक विवेचन विभागसङ्ख्या ३८ में किया गया है। अतएव 'समिद् याग' आदि अङ्ग हैं एवं दर्शपूर्णमास अङ्गी। इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावबोध-रूप विनियोग के कारण **समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवंरूपेण** पदसमूह को 'विनियोगविधिना' का विशेषण मानना उचित ही है।

विनियोगविधि द्वारा विनियुक्त अङ्गों के दो प्रभेद हैं—१. सिद्धरूप एवं २. क्रियारूप। सिद्धरूप अङ्ग को हम 'क्रियाभिन्न' कह सकते हैं, उसका स्वरूप पहले से ही सम्पन्न हुआ रहता है। वह क्रिया की भाँति साध्य (उत्पाद्य) नहीं होता; इसीलिए उसे सिद्ध कहते हैं। सिद्धरूप अङ्ग जाति, द्रव्य एवं सङ्ख्या आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। पशुत्व जाति (**पशुना यजेत**) व्रीहि (अन्नविशेष द्रव्य—**व्रीहिभिर्यजेत**) एकत्व सङ्ख्या (**एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति**) आरुण्यगुण (**अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या.... क्रीणाति**), **इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य** मन्त्र इत्यादि सब सिद्ध अङ्ग के उदाहरण हैं। इनका प्रयोजन दृष्ट होता है। इनका दृष्ट प्रयोजन यही है कि इनके द्वारा साध्य क्रियाओं का अनुष्ठान सम्पन्न होता है।[2]

---

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-२३

२. दृष्टार्थान्येवेति—तैः क्रियानिर्वृत्तिरूपदृष्टप्रयोजनस्यैव जननादिति भावः। (साराविवेचिनी)

द्वितीय प्रभेद—क्रियारूप अङ्ग के दो प्रभेद हैं—१. गुणकर्म २. प्रधान कर्म। 'गुणकर्म' किसी क्रिया के अङ्गभूत द्रव्य आदि के अङ्ग होते हैं अर्थात् गुणकर्म साक्षात् प्रधान क्रिया का अङ्ग नहीं होता; अपितु परम्परया होता है। 'प्रधान कर्म' साक्षात् प्रधान क्रिया का अङ्ग होता है; जैसे—'प्रयाज' प्रधान क्रिया—दर्शपूर्णमास का साक्षात् अङ्ग है। सभी अङ्ग-क्रियाओं में प्रधान होने के कारण ही 'प्रधानकर्म' पद में 'प्रधान' पद का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए 'प्रयाज' अङ्गक्रियायें हैं, किन्तु इनका अंङ्गी दर्शपूर्णमास है, जो कि अङ्ग नहीं है। इस प्रकार प्रयाज सभी अङ्गक्रियाओं में प्रधान है।

'गुणकर्म' को सन्निपत्योपकारक एवं 'प्रधान कर्म' को आरादुपकारक कहते हैं। इन्हें सन्निपत्योपकारक इसलिए कहा जाता है कि ये किसी के अङ्ग बनकर उसके माध्यम से मुख्य क्रिया (यथा—दर्शपूर्णमास) का उपकार करते हैं। 'सन्निपत्योपकारक कर्म' को 'आश्रयि कर्म' भी कहा जाता है। आरादुपकारक स्वतः; अव्यवधानेन और किसी का अङ्ग न बनकर मुख्य क्रिया का उपकार करते हैं। प्रयाज स्वतः दर्शपूर्णमास का उपकार करते हैं, न कि और किसी का अङ्ग बनकर। इसलिए 'प्रयाज' आरादुपकारक हैं।

यद्यपि **आराद्दूरसमीपयोः** इस कोषवाक्य के अनुसार 'आरात्' यह पद दूरत्व एवं सामीप्य—दोनों अर्थों का वाचक है, ऐसी परिस्थितियों में 'सन्निपत्योपकारक' को भी दूरत्व अर्थ लेकर 'आरादुपकारक' कहा जा सकता है, तथापि प्रकृत 'आरादुपकारक' इस शब्द के अन्तर्गत 'आरात्' शब्द को केवल सामीप्यवाची मानकर ये दो विभाग किये गये हैं।

प्रसङ्ग—सन्निपत्योपकारक कर्म का लक्षण एवं विभाग—

४८. सन्निपत्योपकारकाण्यङ्गानि

कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम्। यथावघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थम्, अदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि, अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि, दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।

अर्थ—कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि के उद्देश्य से विहित कर्म को **सन्निपत्योपकारक** कहते हैं। उदाहरण के लिये अवघात एवं प्रोक्षण आदि सन्निपत्योपकारक कर्म हैं। सन्निपत्योपकारक कर्म के तीन प्रभेद हैं—१. दृष्टार्थक, २. अदृष्टार्थक एवं ३. दृष्टादृष्टार्थक। इनमें से दृष्टार्थक कर्म का उदाहरण अवघात आदि, अदृष्टार्थक का उदाहरण प्रोक्षण आदि और दृष्टादृष्टार्थक का उदाहरण पशु एवं पुरोडाश हैं। पशु एवं पुरोडाश को 'दृष्टादृष्टार्थक' इसलिये कहा जाता है कि इनके दृष्ट एवं अदृष्ट—दोनों प्रकार के प्रयोजन होते हैं। द्रव्यत्याग अंश में तो पशु एवं पुरोडाश का प्रयोजन अदृष्ट है और इनसे 'देवता का स्मरण होना'-रूप दृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध होता है, अतएव इस अंश में ये दृष्टार्थक भी हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—सन्निपत्योपकारकाणां लक्षणमाह—कर्माङ्गेत्यादिना। यानि चाङ्गानि साक्षात्परम्परया वा विहितफलसाधनयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वोपयोगीनि तानि सन्निपत्योपकारकाणीति फलितम्। द्रव्यादीत्यादिना देवतादिपरिग्रहः। क्रियारूपत्वं सर्वेषां कर्मणां गुणकर्मत्वमवघातादीनां प्रधानकर्मत्वं प्रयाजादीनां सन्निपत्योपकारकत्वं अवघातादीनामारादुपकारकत्वं प्रयाजादीनां च लक्षणमिति समुदायतात्पर्यम्। तत्रोदाहरणमाह—यथावघातेति। सन्निपत्योपकारकाणां पुनरपि त्रिविधं विभागं करोति—तच्चेत्यादिना। तच्च सन्निपत्योपकारकं चेत्यर्थः। दृष्टार्थमुदाहरति—दृष्टार्थमवघातादीनि। अवघातादेस्तुषविमोकादिरूपदृष्टद्वारा यागस्वरूपतदुत्पत्त्यपूर्वहेतुत्वात्सम्भवति तस्य दृष्टार्थत्वमित्यर्थः। अदृष्टार्थमुदाहरति—अदृष्टार्थमिति। प्रोक्षणादेर्व्रीहिगतसंस्काररूपातिशयादृष्टद्वारा प्रधानयागोत्पत्त्यपूर्वहेतुत्वात्सम्भवति केवलादृष्टार्थत्वं प्रोक्षणमन्तरेणापि यागस्वरूपानुपपत्त्यभावात् दृष्टोपकारासम्भवात्। दृष्टादृष्टोभयार्थमुदाहरति—दृष्टादृष्टार्थमिति। पशुपुरोडाशादीत्यादिना यागादिसंग्रहः। तद्धि पशुपुरोडाशादि इत्यर्थः। अदृष्टमिति। यागोत्पत्त्यपूर्वद्वारा फलापूर्वमित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—किसी कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि का अङ्ग होने वाले कर्म को सन्निपत्योपकारक कर्म कहते हैं। दर्शपूर्णमास कर्म हैं, इनका अङ्ग द्रव्य व्रीहि है। व्रीहि को उद्देश्य करके (साध्य बनाकर) व्रीहिन् प्रोक्षति द्वारा विधीयमान 'प्रोक्षण' कर्म सन्निपत्योपकारक कर्म हुआ।

सन्निपत्योपकारक कर्म के तीन प्रभेद हैं—१. दृष्टार्थक, २. अदृष्टार्थक एवं ३. दृष्टादृष्टार्थक। दृष्टार्थक उसे कहा जाता है, जिसका प्रयोजन दृष्ट हो अर्थात् इस जन्म में ही प्रत्यक्ष सिद्ध हो। व्रीहीनवहन्ति विधि द्वारा विहित 'अवघात' कर्म का तुषविमोचन (धान से भूसी हटाना) प्रत्यक्ष प्रयोजन है; अतएव 'अवघात' को दृष्टार्थक सन्निपत्योपकारक कर्म कहा जायेगा। दूसरा प्रभेद अदृष्टार्थक है। व्रीहीन् प्रोक्षति विधिविहित 'प्रोक्षण' क्रिया इसका उदाहरण है। प्रोक्षण का दृष्ट प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उससे व्रीहि की निष्पत्ति नहीं होती (देखिये—विभागसङ्ख्या २६)। प्रोक्षण से केवल अपूर्व उत्पन्न होता है और वह अपूर्व दृष्ट नहीं, अदृष्ट होता है। इसीलिये प्रोक्षण आदि कर्म अदृष्टार्थक प्रभेद के अन्तर्गत आते हैं। तीसरा प्रभेद दृष्टादृष्टार्थक है। पशुयाग एवं पुरोडाश याग आदि इसके उदाहरण हैं। देवता के लिये पशु पुरोडाश आदि द्रव्य का त्याग करने से अदृष्ट (अपूर्व) उत्पन्न होता है, अतएव 'द्रव्यत्याग' अंश में पशुपुरोडाशयाग अदृष्टार्थक हैं। द्रव्यत्यागकाल में देवता का स्मरण किया जाता है; अतएव पशुपुरोडाशादि क्रिया का दृष्ट प्रयोजन देवतास्मरण हुआ; अतएव इसे (पशुपुरोडाशादि याग को) दृष्टार्थक भी माना जाता है। इस प्रकार पशुपुरोडाशादि याग दृष्टादृष्टार्थक के उदाहरण हुये।

प्रसङ्ग—'आरादुपकारक कर्म' का लक्षण—

४९. आरादुपकारकाण्यङ्गानि

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। सन्निपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवता-संस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयि कर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

अर्थ—जब केवल कर्म का ही विधान किया गया हो, न कि द्रव्य आदि को उद्देश्य करके उस कर्म का विधान हुआ हो तब ऐसी स्थिति में उस कर्म को आरादुपकारक कहते हैं। आरादुपकारक कर्म मुख्यापूर्व की उत्पत्ति में सहायक होता है, जबकि सन्निपत्योपकारक (कर्म) द्रव्य एवं देवता के संस्कार के द्वारा याग के स्वरूप में भी काम आता है, यही दोनों में अन्तर है। इसी सन्निपत्योपकारक कर्म को 'आश्रयिकर्म' भी कहते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—आरादुपकारकाणां लक्षणमाह—द्रव्याद्यनुद्दिश्येति। आत्म-समवेतापूर्वजनकान्यारादुपकारकाणीत्यपि वदन्ति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। प्रया-जादीत्यादिनाज्यभागानुयाजादिपरिग्रहः। अत्र परमापूर्वोत्पत्तावेवेत्येवकारेण द्रव्यदेव-तागतसंस्कारजननद्वारा यागस्वरूपोपयोगित्वमारादुपकारकाणां निरस्यते। यागस्वरूपे-ऽपीत्यपिना सन्निपत्योपकारकाणां द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागोत्पत्त्यपूर्वेऽप्युपकारकत्वं समुच्चीयते। अत्र च व्रीह्यादीनां पिष्टद्वारा पुरोडाशनिर्वर्तकत्वं तद्द्वारा यागशरीरतदुत्प-त्त्यपूर्वजनकत्वं च भवति। याज्यानुवाक्यादेर्देवतासंस्कारद्वारा यागोत्पत्त्यपूर्वादावुपयोगित्वं देवतायाश्च साक्षाद्यागशरीरनिर्वर्तकत्वं तद्द्वारा तदुत्पत्त्यपूर्वनिष्पादकत्वं च भवति। यागस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्वरूपत्वाद् द्रव्यदेवते खलु यागस्वरूपमित्युपगमाच्चेति ध्येयम्। इदमेव चेति। सन्निपत्योपकारकमेव च न त्वारादुपकारकमित्यर्थः। आश्रयि द्रव्य-देवतादिरूप आश्रयोऽस्यास्तीत्याश्रयि। पारिभाषिकी वाश्रयि कर्मेति संज्ञा। इदमेव सामवायिककर्मेत्यपि वदन्ति। किञ्च सामान्यतः कर्म द्विविधमर्थकर्म गुणकर्म चेति। तत्रात्मसमवेतापूर्वजनकं कर्मार्थकर्म यथाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासप्रयाजानुयाजादिकं तस्या-त्मगतफलापूर्वजनकत्वात्। द्रव्यादिसंस्कारजनकं द्वितीयम्। तदेव सन्निपत्योपकारकमि-त्युक्तम्। तदपि द्वितीयमुपयोक्ष्यमाणसंस्कारकमुपयुक्तसंस्कारकं चेति। तत्रावघातप्रोक्ष-णादिकमुपयोक्ष्यमाणसंस्कारकं, यागे व्रीहीणामुपयोक्ष्यमाणत्वात्। प्रतिपत्तिकर्म चात्वा-लकृष्णविषाणप्रासनेडाभक्षणादिकमुपयुक्तकृष्णविषाणपुरोडाशादिसंस्कारकं द्वितीयम्। उपयुक्तस्याऽऽकीर्णकरस्यावशिष्यमाणद्रव्यादेर्विहितदेशे संस्कारविशेषहेतुः प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म। उपयोक्ष्यमाणसंस्कारभिन्नसंस्कारकर्मत्वं प्रतिपत्तिकर्मत्वमित्यपि वदन्ति। ननु भवतु कथञ्चिदिडाभक्षणस्य प्रधानयागोपयुक्ताकीर्णकरपुरोडाशद्रव्यप्रक्षेपात्मकत्वा-

त्प्रतिपत्तिकर्मत्वं, चात्वाले कृष्णविषाणप्रासनस्याग्निहोत्रादिकर्मवद्विहितबहिर्देशविशेषे प्रक्षेपक्रियात्मकत्वात्कथं प्रतिपत्तिकर्मत्वं, तथा च तद्वदर्थकर्मत्वमेव तस्य। तदित्थं श्रूयते ज्योतिष्टोमे—नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यतीति। यजमानेन दक्षिणा दत्ता ऋत्विग्भिर्यदा नीतास्तदा यजमानः स्वहस्ते धृतं कृष्णमृगस्य शृङ्गं चात्वालनामकगर्ते परित्यजेत्। सोऽयं परित्यागोऽर्थकर्म। कुतः? सप्रयोजनत्वलाभात्। प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽपूर्वाभावे निरर्थकः स्यात्। तस्मादपूर्वलाभादर्थकर्मत्वमेव, न तु प्रतिपत्तिकर्मत्वमिति चेन्न। 'कृष्णविषाणया कण्डूयती'ति तृतीयाश्रुत्या यजमानशिरःकण्डूतावुपयुक्तस्य कृष्णविषाणस्य प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात्। न च प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽत्यन्तमपूर्वाभावः। चात्वाल एव प्रासनमित्येवंविधस्य नियमस्य वैधत्वेन प्रासनक्रियाप्रयुक्तापूर्वाभावेऽपि नियमापूर्वसद्भावात्। तस्मात्प्रासनं प्रतिपत्तिकर्मेति। तमेतं सर्वमभिप्रेत्य विनियोगविधिनिरूपणमुपसंहरति—तदेवमिति।

अर्थबोधिनी—ऐसा कर्म, जिसका विधान किसी द्रव्य आदि के अङ्गरूप में न होकर केवल कर्म के रूप में ही होता है, आरादुपकारक कहा जाता है। 'प्रयाज' नामक यागों का विधान **प्रयाजाः कर्तव्याः** इस विधि द्वारा होता है। यहाँ केवल 'प्रयाज'-संज्ञक यागों—कर्मों का ही विधान है। प्रयाज किसी द्रव्य आदि के अङ्ग नहीं हैं, अपितु द्रव्य आदि ही प्रयाज के अङ्ग होते हैं।

'प्रयाज' अङ्ग हैं; किन्तु प्रधान याग (दर्शपूर्णमास) के ही। दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान से फलापूर्व अर्थात् परमापूर्व उत्पन्न होता है। इसी परमापूर्व से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'प्रयाज'-संज्ञक यागों का साध्य परमापूर्व को उत्पन्न करना होता है। इसीलिए कहा गया है कि **आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते।** अभिप्राय यह है कि आरादुपकारक कर्म प्रधानतम याग का ही अङ्ग होता है। दर्शपूर्णमास प्रधानतम याग है। प्रयाज इन्हीं प्रधानतम दर्शपूर्णमास नामक यागों के ही साक्षात् अङ्ग हैं, इसीलिये इनकी संज्ञा आरादुपकारक है। आरादुपकारक परमापूर्व के 'आरात्'—समीपता से अर्थात् साक्षात् रूप से उपकारक होते हैं, जबकि सन्निपत्योपकारक सन्निपत्य अर्थात् किसी और (मध्यवर्ती अङ्गी) में 'निपत्य'—गिरकर (मिलकर) अर्थात् अङ्ग बनकर उपकारक होते हैं। अर्थात् सन्निपत्योपकारक किसी मध्यवर्ती अङ्गी का आश्रय लेकर परमापूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होता है। यही कारण है कि इसे 'आश्रयि कर्म'—जिसका कोई आश्रय हो अर्थात् जो किसी के आश्रित होकर प्रधानतम कर्म का अङ्ग बन पाता हो—कहा जाता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने विनियोग विधि का संक्षेप में विवेचन किया है।

प्रसङ्ग—विनियोग विधि का निरूपण करने के पश्चात् अब तृतीय विधि—प्रयोगविधि के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

५०. प्रयोगविधिलक्षणम्

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन् विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोः 'इदमनेन सह कृतम्' इति साहित्यव्यवहाराभावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि 'किमेतदनन्तरमेतत् कर्तव्यमेतदनन्तरं वा' इति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्। तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

अर्थ—जिस विधि से अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध होता है, उसे प्रयोगविधि कहा जाता है। प्रयोगविधि कोई अन्य विधि नहीं है, अपितु अङ्गवाक्यों से मिलकर एक वाक्यरूप में स्थित उत्पत्तिविधि ही है। अङ्गों सहित प्रधान क्रिया का अनुष्ठान कराती हुई प्रयोगविधि अविलम्ब अर्थात् क्रिया की शीघ्रता का विधान करती है। विलम्ब होने में कोई प्रमाण नहीं होता, इसीलिए प्रयोगविधि से प्राशुभाव का विधान माना जाता है। कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि अनुष्ठान के प्राशुभाव (अविलम्बेन सम्पाद्यता) में कोई प्रमाण ही नहीं है; किन्तु यह कथन समीचीन नहीं होगा। कारण, अङ्गविधि एवं प्रधान विधि मिलकर एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं अर्थात् एकवाक्य हो जाते हैं। यदि क्रियायें विलम्ब से अनुष्ठित होंगी तो उस एकवाक्यता से समझा जाने वाला 'अङ्ग एवं प्रधान का सहभाव' (साहित्य) सम्पन्न नहीं हो सकेगा। विलम्ब से अनुष्ठित की जाने वाली दो क्रियाओं के सम्बन्ध में 'यह क्रिया इसके साथ अनुष्ठित हुई है' इस प्रकार के साहित्य (साथ-साथ होने) का व्यवहार (वाक्यप्रयोग) नहीं होता और शीघ्रता तभी होती है, जब निश्चित क्रम का आश्रय लिया जाय; अन्यथा क्या यह क्रिया इस क्रिया के बाद अनुष्ठित की जाय अथवा इस दूसरी क्रिया के बाद इस प्रकार के सन्देह उपस्थित हो जाने के कारण अनुष्ठान में बाधा पड़ने लगेगी। अतएव प्रयोगविधि अपने विधेय—प्राशुभाव की सिद्धि के लिये पदार्थ के विशेषणरूप में निश्चित क्रम का भी विधान करती है। इसलिये प्रयोगविधि का यह लक्षण है—अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि को प्रयोगविधि कहते हैं। क्रम विस्तार—विशेष अथवा पूर्वापरभावरूप होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं प्रयोगविधिं निरूपयति—प्रयोगेत्यादिना। साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगप्राशुभावबोधक इत्यर्थः। स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यादिप्रधानविधिरेवोक्तवक्ष्य-

माणविधित्रयमेलनरूपश्चतुर्थोऽयं विधिर्न तु विध्यन्तरमित्याह—स चेति। तत्र हेतुं प्रदर्शयन् प्रयोगप्राशुभावशब्दं व्याचष्टे—स हीत्यादिना। प्रयोगविधिः साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगाविलम्बं विधत्ते तद्विलम्बे प्रमाणाभावासम्प्रतिपन्नवत्। तत्र प्रयोगविधिः प्रयोगाविलम्बं विधत्ते तदविलम्बे प्रमाणाभावादिति सम्प्रतिसाधनतामाशङ्क्य समाधत्ते—न चेत्यादिना। अङ्गप्रधानविध्योरेकवाक्यतयावगतस्याङ्गप्रधानयोः साहित्यस्यानुपपत्तेरेव तदविलम्बे प्रमाणत्वान्न तत्र प्रमाणाभाववचनं शोभतेतरामिति। तत्रार्थापत्तिं प्रमाणं दर्शयति—विलम्ब इत्यादिना। हिशब्देन तत्साहित्यनिश्चयं द्योतयति। प्रयाजाद्यङ्गजातमङ्गशब्दार्थः। प्रधानशब्देन च दर्शादिः प्रधानयागो ह्युच्यते। तावेव तच्छब्दार्थः। न च तत्साहित्यमेव नास्तीति वाच्यम्। अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यत्वानुपपत्तेः, तस्य प्रयोजनान्तरानुपलब्धेश्च। नन्वविलम्बमन्तरेण नाङ्गप्रधानयोः साहित्यानुपपत्तिः, तेन विनापि तथा व्यवहारादित्याशङ्क्य मैवमित्याह—विलम्बेनेत्यादिना। पूर्वेऽह्नि परेऽह्नि च क्रियमाणयोर्भोजनयोरिदमनेन भोजनेन सह कृतमिति व्यवहारादर्शनान्न विलम्बेन क्रियमाणयोरङ्गप्रधानयोः साहित्यव्यवहारोऽभ्रान्तस्योपपद्यते ततश्च सा तदवस्थेत्यर्थः। सोऽप्यङ्गप्रधानयोरविलम्बस्तन्नियतक्रमसमाश्रयणे सम्भवति यथाग्नेयहविरभिघारणं, ततश्चैन्द्रदधिहविरभिघारणं, तत आग्नेययागानुष्ठानं, तदनन्तरमैन्द्रदधियागानुष्ठानमिति नियतः क्रमः।

ततश्चैकान्तरितव्यवधानेनाविलम्ब इति सर्वमुपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीत्यभिप्रेत्याह—स चेत्यादिना। क्रमानङ्गीकारे दोषमाह—अन्यथेत्यादिना। प्रयोगविक्षेपापत्तेरिति। किमाग्नेयहविषोऽविषोऽभिघारणमैन्द्रदधिहविरभिघारणानन्तरं कर्तव्यं किंवैन्द्रदधिहविषोऽभिघारणमाग्नेयहविरभिघारणानन्तरमित्येवं सर्वत्र सन्देहेन सर्वानुष्ठानोच्छेदापत्तेरित्यर्थः। 'संशयात्मा विनश्यती'त्यादिना भगवद्वचनेन संशयात्मन ऐहिकभोगसाधनेऽपि प्रवृत्त्यभावोपलम्भान्न सन्दिहानस्यामुत्र भोगसाधने प्रवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। ननु नाङ्गप्रधानयोर्नियतः क्रम उपपद्यते, तद्विधायकाभावात्। न च प्रयोगविधिरेव तद्विधायकः, वाक्यभेदापातात्। कथं न प्रयोगविधेरेव प्रयोगप्राशुभावविधायकत्वे गुणप्रधानयोर्नियतक्रमविधायकत्वे च वाक्यभेदापात इति चेन्मैवमित्याह—अत इत्यादिना। अतोऽङ्गप्रधानयोर्नियतक्रममन्तरेणाविलम्बापरनामधेयप्रयोगप्राशुभावो नोपपद्यतेऽतः स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि प्रयोगविधिरेव विधत्ते इत्यर्थः। वाक्यभेदनिरासाय पदार्थविशेषणतयेत्युक्तं व्यापारभेदेन हि विधाने वाक्यभेदो भवति, न तु विशिष्टविधान इत्यवोचामेति भावः। पदार्थश्चात्र क्रियारूपो ग्राह्यः, अन्यथा क्रमविधानानुपपत्तेः। तदुक्तं माधवेन—'यद्यपि क्रमस्य क्रियात्वाभावात्स्वरूपेण न विधियोग्यता तथापि दध्ना जुहोतीत्यादावक्रियारूपं दधिद्रव्यं यथा क्रियाविशेषणं सद्विधीयते दधिसाधनकं होमं कुर्यादिति, एवमनेन क्रमेण कर्तव्यमिति क्रियाविशेषणतया क्रमो विधीयता'मिति। यतः प्रयोगविधिरेव पदार्थविशेषणतया तन्नियतक्रममपि विधत्तेऽत एव कारणात्तस्य लक्षणान्तरमपीत्याह—अत एवेति। ननु क्रमबोधक इत्यत्र किंलक्षणः क्रमोऽभिमत

इत्याकाङ्क्षायां क्रमं लक्षयति—तत्र क्रम इति। यद्वा, वाक्यार्थबोधे पदार्थज्ञानस्य हेतुत्वात्क्रमपदार्थज्ञानमन्तरेण प्रयोगविधिलक्षणवाक्यार्थबोधो न स्यात्ततश्च क्रमपदार्थो वक्तव्य इत्याकाङ्क्षायां क्रमलक्षणमाह—तत्र क्रम इति। तत्र, प्रयोगविधिलक्षणवाक्यार्थघटकपदार्थानां मध्य इत्यर्थः। विततनं वितानो वा विततिः। 'तनु विस्तार' इति धातोः स्त्रियां भावे क्तिन्प्रत्यये विततिरिति रूपम्। तथा च बहुभिः कर्तृभिर्युगपत्कृतानामपि पदार्थानां वितानविशेषो भवत्येव न तु तत्र क्रमव्यवहार इत्यरुच्या लक्षणान्तरमाह—पौर्वापर्यरूपो इति। यद्वा युगपत्कृतानां क्रमेण कृतानां वा पदार्थानां वितानाविशेषेऽपि विशेषपदसूचितं पौर्वापर्यरूपं विवक्षितं लक्षणार्थं लक्षणान्तरव्याजेन वाशब्दमनास्थायां निश्चयार्थं वा मत्वा प्रकटयति—पौर्वापर्यरूपो वेति। तदुक्तं तत्तत्पदार्थानन्तरं तत्तत्पदार्था इत्येवमनेकपदार्थवृत्तिपौर्वापर्यसमुदायरूपविततिरेव क्रम इति। अत्र भाट्टदीपिकाकारास्तु 'तत्र क्रमो नामाव्यवहितोत्तरत्वरूपमानन्तर्यम्। तच्चैकप्रतियोगिकमेकवृत्ति यथा 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'त्यत्र वेदकरणप्रतियोगिकमानन्तर्यं वेदिकरणवृत्ति। अत्र दर्शपूर्णमासोत्तरं त्वस्यासोमाङ्गत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यवहितेति विशेषणम्। तत्र दर्शपूर्णमासपूर्वकालताकत्वमात्रं क्त्वाप्रत्ययार्थः, न त्वव्यवहितांशोऽपि। न च सोमविधेस्तदपेक्षा, येनाव्यवधान एव तत्पर्यवस्येत, सोमविधेर्भिन्नप्रयोगविधिविधेयदर्शपूर्णमासप्रतियोगिकक्रमानपेक्षत्वात्। अतस्तत्रोत्तरकालत्वमेव विधेयं न क्रमः। क्रमश्च सर्वत्रोत्तरपदार्थाङ्गं तस्यैव क्वाहं कर्तव्य इत्यपेक्षणान्न तु पूर्वपदार्थाङ्गं मदुत्तरं कः पदार्थः कर्तव्य इत्यपेक्षायाः क्वचिदप्यदर्शनात्। पूर्वपदार्थस्तु प्रतियोगितया क्रमविशेषणं दर्शपूर्णमासादिरिव पूर्वकालतायाः। एतेन क्रमः पदार्थद्वयाङ्गमिति केषाञ्चिदुक्तमपास्तम्, प्रमाणाभावात्। अस्तु वा 'प्रथमभक्ष' इत्यादौ प्राथम्यं पूर्वपदार्थाङ्गमेवेत्याहुः।

अर्थबोधिनी—इसके पूर्व उत्पत्तिविधि एवं विनियोगविधि का विवेचन हो चुका है। अब प्रयोगविधि का विवेचन प्रारम्भ हो रहा है। ग्रन्थकार ने उद्देशस्थल (विभागसङ्ख्या-१९) में विधियों का जो क्रम बतलाया है, वह इस प्रकार है—**विधिश्चतुर्विधः, उत्पत्तिविधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोगविधिश्चेति।** किन्तु लक्षण-परीक्षणस्थल में विधियों के क्रम में परिवर्तन कर दिया गया है। परिवर्तन यह है कि विनियोगविधि के पश्चात् प्रयोगविधि का विवेचन किया गया है और अन्त में अधिकारविधि का। उद्देश एवं लक्षणपरीक्षास्थल में विधियों का क्रम इस प्रकार रखा गया है—

उद्देशस्थलीय विधिक्रम	लक्षणपरीक्षास्थलीय विधिक्रम
१. उत्पत्तिविधि	१. उत्पत्तिविधि
२. विनियोगविधि	२. विनियोगविधि
३. अधिकारविधि	३. प्रयोगविधि
४. प्रयोगविधि	४. अधिकारविधि

हम देखते हैं कि उद्देशस्थलीय विधि के क्रम में तृतीय एवं चतुर्थ स्थान क्रमशः अधिकारविधि एवं प्रयोगविधि का है; जबकि लक्षणपरीक्षास्थल में तृतीय एवं चतुर्थ स्थान क्रमशः प्रयोगविधि एवं अधिकारविधि का है।

प्रयोगविधि से इस विषय का निर्णय होता है कि किस अङ्गक्रिया के पश्चात् अविलम्ब अव्यवहित भाव से किस अङ्गक्रिया का अनुष्ठान करना चाहिये। इसलिये अङ्गक्रियाओं के क्रम का बोध कराने वाली विधि प्रयोगविधि कही जाती है। (**अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्**)। अङ्गक्रियाओं के क्रम के निश्चित होने पर ही यज्ञ का अनुष्ठान अविच्छिन्नरूपेण हो सकता है। यदि यही सन्देह हो गया कि इस क्रिया के बाद यह क्रिया की जाय या इस क्रिया के बाद (**अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः**) तो जब तक निर्णय न हो जाय, यागानुष्ठान रुका रहेगा और एक क्रिया के अनुष्ठान के पश्चात् विराम हो जायेगा। इस प्रकार क्रियायें अविच्छिन्नरूपेण अनुष्ठित न हो सकेंगी; किन्तु क्रियाओं को अविच्छिन्नरूपेण अर्थात् साथ-साथ अनुष्ठित होना चाहिये। साथ-साथ का अर्थ अव्यवधानेन है। यदि क्रियाओं के अनुष्ठान में विलम्ब होगा तो हम यह नहीं कह सकते कि यह क्रिया इस क्रिया के साथ अनुष्ठित हुई है (**विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सह कृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्**)। क्रियायें साथ-साथ निरन्तर तभी अनुष्ठित हो सकती हैं, जब उनका क्रम—किस क्रिया के बाद किस क्रिया का अनुष्ठान होगा—निश्चित हो (**स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति**)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोगविधि वह विधि है, जो क्रियाओं के क्रम का बोध कराती है, जिससे क्रियाओं के अनुष्ठान में विलम्ब न होकर शीघ्रता हो—प्राशुभाव हो। इसीलिए प्रयोगविधि का 'अनुष्ठान की शीघ्रता का बोध कराने वाली विधि' कहा जाता है। (**प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः तथा .... विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते**)। विधेयभूत क्रियाओं के विशेषणरूप में निश्चित क्रम का भी विधान किया जाता है (**अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते**)। 'पदार्थविशेषणतया' इसलिए कहा कि विधि में विधेय है—क्रिया। क्रिया के साथ ही साथ क्रम का विधान मान लेने पर विधेय दो हुए—१. क्रिया एवं २. क्रम। इसलिए एक विधिवाक्य से दो पदार्थों का विधान होने से वाक्य-भेद होगा; किन्तु विधान क्रिया का माना जाय और क्रम उस क्रिया का विशेषण हो तब वाक्य-भेद नहीं होगा।

जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रयोगविधि द्वारा क्रम का विधान होने से केवल क्रियाओं के अनुष्ठान में शीघ्रता होती है। क्रमबोध से अनुष्ठान में शीघ्रता एवं अनुष्ठान की शीघ्रता से अङ्गी क्रियाओं और प्रधान याग में एकता—अखण्डता स्थापित हो जाती

है। इस प्रकार अङ्गक्रियाओं के साथ अखण्डता या एकवाक्यताप्राप्त उत्पत्तिविधि को ही प्रयोगविधि कहना चाहिए (**चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव तथा स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्**)।

क्रम क्या होता है? क्रम एक विशेष प्रकार का विस्तार—वितति है। क्रम से ही अनेक क्रियायें अव्यवहितत्वेन अनुष्ठित होकर एक बड़ी विस्तृत क्रिया हो जाती है, जैसे लोहे की कड़ियाँ एक-दूसरे से अव्यवहितत्वेन सटकर विस्तृत जंजीर बन जाती है। इसलिये क्रम को 'विशेष प्रकार का विस्तार'—विततिविशेष कहा जाता है। यदि क्रम ज्ञात न होगा तो क्रियायें अव्यवहितत्वेन अनुष्ठित न होंगी और विस्तार न हो सकेगा।

क्रम पौर्वापर्यरूप होता है अर्थात् पौर्वापर्य को क्रम कहा जाता है। पौर्वापर्य का अर्थ है—पूर्वापरभाव अर्थात् 'कौन पूर्व में है और कौन पश्चात्'। इसी को क्रम कहते हैं।

ध्यान रहे, प्रयोगविधि अन्य तीन विधियों से अतिरिक्त कोई चौथी पृथक् विधि नहीं है; अपितु उन्हीं तीनों को मिलाकर सम्मेलनरूप एकवाक्यतापन्न विधि है, जिससे क्रम का बोध होता है—**स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यादिप्रधानविधिरेवोक्तवक्ष्यमाणविधित्रयमेलनरूपश्चतुर्थोऽयं विधिर्न तु विध्यन्तरमित्याहु**[1]।

प्रसङ्ग—क्रम के निर्णायक छः प्रमाणों का उल्लेख करके पहिले प्रथम प्रमाण श्रुति का लक्षण किया जा रहा है—

५१. क्रमे श्रुत्यादीनि षट् प्रामाणानि श्रुतिलक्षणञ्च

तत्र षट् प्रमाणानि श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्यप्रवृत्त्याख्यानि।

तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधम्—केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्, एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्।

सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहणस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गृह्यते' इतिवचनाद् दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।

अर्थ—क्रम के निर्णायक प्रमाणों की सङ्ख्या छः है। वे इस प्रकार हैं—१. श्रुति, २. अर्थ, ३. पाठ, ४. स्थान, ५. मुख्य एवं ६. प्रवृति। क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहा जाता

---

१. कौमुदी।

है। श्रुति के दो प्रभेद हैं—१. केवलक्रमपरक एवं २. क्रमविशिष्टपरक। केवलक्रमपरक श्रुति का उदाहरण 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' में मिलता है। वेद (कुशमुष्टि) एवं वेदी की रचना का विधान दूसरे विधिवाक्यों से प्राप्त होता है, यहाँ केवल क्रम—किसके बाद कौन-सी क्रिया अनुष्ठित की जायेगी—का विधान (कृत्वा-गत) 'क्त्वा' प्रत्यय से होता है। 'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' श्रुति का उदाहरण **वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः** (अर्थात् वषट्कर्ता पहिले भक्षण करे) है। इस श्रुति को 'विशिष्ट' इसलिये माना जाता है कि एकवाक्यता के भङ्ग होने के भय से भक्षण का अनुवाद करके क्रममात्र का विधान नहीं किया जा सकता।

यह श्रुति अन्य—अर्थ, पाठ आदि—प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है। अन्य प्रमाण श्रुति की कल्पना द्वारा अर्थात् परम्परया क्रम का बोध कराते हैं। इसीलिए पाठक्रम से तृतीय स्थान पर 'आश्विनग्रहण' का प्रसङ्ग होने पर **आश्विनो दशमो गृह्यते** (दसवें स्थान पर आश्विन ग्रहण करे) इस श्रुति से आश्विनग्रहण दसवें स्थान पर होता है, यह बात मीमांसासूत्र (५.४.१) में कही गई है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तन्नियमे च षट् प्रमाणानि श्रुत्यादीनि भवन्तीत्याह—तत्रेति। तत्र क्रम इत्यर्थः।**

तत्र श्रुतिं लक्षयति—तत्रेति। तत्र षट्सु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः। क्रमपरवचनं, वृत्त्या क्रमबोधकं, क्लृप्तशब्द इत्यर्थः। तच्चाथशब्दादिकम्। तत्राथशब्दस्यानन्तर्यवाचित्वं शक्त्यैव, क्त्वाप्रत्ययादीनां तु पूर्वकालादिवाचिनामपेक्षानुरोधात्क्रमपरत्वं लक्षणतया, अर्थादिषु कल्प्यशब्दस्यैव क्रमबोधकत्वात् क्लृप्तेति विशेषणम्। श्रुतिं विभजते—तच्चेति। क्रमपरवचनं चेत्यर्थः। तत्र केवलक्रमपरं वचनमुदाहरति—तत्रेत्यादिना। तत्र द्वयोर्द्वयोर्मध्य इत्यर्थः। वेदः दर्भमुष्टिविशेषः। वेदिः आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये चतुरङ्गुलं निखातं भूतलं हविर्विधानस्थानविशेषरूपम्। तस्य केवलक्रमपरत्वे हेतुमाह—वेदीत्यादिना। दर्शपूर्णमासयोर्हविरधिवासनोत्तरं वेदिकरणविधिवाक्येनैव वेदिकरणस्य प्राप्तत्वात्तदनुवादेन क्त्वाप्रत्ययोक्तक्रममात्रमत्र विधीयत इति भावः। अत्र क्त्वाप्रत्ययोक्तस्य क्रमस्य वाक्यादेव वेदिकरणाङ्गत्वं तत्त्वेनैव तद्विधिरिति बोध्यम्। क्रमविशिष्टपदार्थपरं वचनमुदाहरति—वषट्कर्तुरिति। ननु भक्षस्य कथञ्चित्सम्भवत्प्राप्तिकत्वसम्भवात् प्रथमशब्दोक्तक्रममात्रस्यात्रापि विधानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—एकेत्यादिना। तथा च प्राथम्यविशिष्टैकभक्षपदार्थप्रसरभावस्य विशिष्टोपस्थितिरूपस्य भङ्गभिया न क्रममात्रं विधातुं शक्यते। अन्यथा यो वषट्कर्तुर्भक्षः स प्रथम इत्युपस्थितिः स्यान्न तु वषट्कर्तृत्वोपाधिविशिष्टसम्बन्ध्यभिन्नः प्राथम्यविशिष्टभक्ष इति भावः। यद्वा, एकप्रसरताभङ्ग एकवाक्यताभङ्गो बोध्यः। भक्षस्याप्यनेनैव विधानाभ्युपगमात्। तथा चानेन विहितभक्षानुवादेन प्रथमशब्दोपात्तक्रमविधान एकवाक्यताभङ्गेनावृत्त्यात्मको वाक्यभेदः स्यादिति भावः। अत्रापि क्रमविशिष्टभक्षविधानात्प्रथमपदोक्तक्रमस्य वाक्याद्भक्षाङ्गत्वमिति ध्येयम्।

अत्रेदं बोध्यम्—यत्र धात्वर्थस्य क्लृप्तप्रमाणेन प्राप्त्यभावेऽपि कथञ्चित्सम्भवत्प्राप्तिकस्य पुनर्विधानेन किञ्चित्प्रयोजनं विधेयान्तरं च नान्यत्किञ्चित्तत्र क्रम एव श्रुत्युक्तो विधीयते। यथा सत्रात्मके द्वादशाहे, 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वाऽर्धिनो दीक्षयति ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः मैत्रावरुणं होतुस्ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्तारमुद्गातुरच्छावाकं होतुस्ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यमुद्गातुर्ग्रावस्तुतं होतुस्ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी वाचार्यप्रेषित' इति श्रुते वाक्ये अत्र हि न दीक्षायाः स्वरूपेण तत्तत्संस्कारकत्वेन वा विधिरतिदेशप्राप्तत्वात्। प्रकृतौ हि यजमानसंस्कारार्था दीक्षातिदेशेनैव सत्रे प्राप्यते, सत्रे च ये यजमानास्त ऋत्विज इति वचनेन ऋत्विक्कार्योद्देशेन यजमानविधानाद् ब्रह्मादीनां यजमानत्वेनैव प्रतिप्रधानगुणावृत्तिन्यायेन तत्तत्संस्कारकत्वप्राप्तेः, ततश्च दीक्षारूपं धात्वर्थमनूद्याख्यातेन, क्त्वाप्रत्ययोक्तस्ततःशब्दोक्तश्च क्रमो विधीयते। अत्र चायमर्थः अध्वर्युर्यजुर्वेदोक्तं करोति तस्य पुरुषास्त्रयः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता चेति। एते चत्वारो दीक्षयितारः। ब्रह्मा वेदत्रयोक्तस्य प्रत्यवेक्षणं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः ब्राह्मणाच्छंसी अग्नीत् पोता चेति। उद्गातोद्गानं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यश्चेति। होता शंसनं करोति, तस्य पुरुषास्त्रयः मैत्रावरुणोऽच्छावाको ग्रावस्तुच्चेति। चतुर्षु वर्गेषु ये प्रथमास्ते दक्षिणां सम्पूर्णामाप्नुवन्ति। ये द्वितीयास्ते तदर्धं प्राप्नुवन्ति ततोऽर्धिन उच्यन्ते। ये तृतीयास्ते तृतीयांशं प्राप्नुवन्तीति तृतीयिनः। ये चतुर्थास्ते चतुर्थांशं प्राप्नुवन्तीति पादिनः। तानेतानुक्तक्रमेण स स पुरुषः करोतीति। किञ्च 'इतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्या'दिति न्यायेनाध्वर्युपुरुषाणामाद्यः प्रतिप्रस्थातै-वाध्वर्युदीक्षायां प्राप्नोति। ब्राह्मणाच्छंस्यादिदीक्षासु त्वध्वर्योर्न पूतः पावयेदिति वचनेन सत्रप्रकरणपठितेन दीक्षासु दीक्षाख्यसंस्काररहितपुरुषकर्तृविधायकेन पर्युदासात् प्रति-प्रस्थातृप्राप्तिः सुलभैव। एवं प्रतिप्रस्थात्रादिदीक्षासु नेष्टुः प्रतिप्रथात्रनन्तरस्य नेष्ट्रादिदीक्षासु चोन्नेतुर्नेष्ट्रनन्तरस्य प्राप्तिर्न्यायादेवेति न विनेयान्तराशङ्का। अतः क्रम एवात्राप्राप्तः स एव तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते। अत एव चैतानि द्वादशवाक्यानि श्रौतक्रमविधायकानि अर्धित्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकमङ्गीकृत्य षडेव वा। उन्नेतृदीक्षावाक्ये तु वैकल्पिकब्रह्मचारि-विधानात् हृदयादिन्यायेन पाठादेव क्रमसिद्धेस्तत इत्यनुवादः। निपातत्वाच्च वाशब्दस्य ब्रह्मचारिविशेषणत्वेन न वाक्यभेदः। ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यविधानाद् ब्राह्मण इति चानुवादः। ब्रह्मचारिणश्चाचार्याधीनत्वस्मृतेराचार्यप्रेषित इत्यप्यनुवादः। यत्तु—यद्यप्यत्र क्रमस्य वाचकः शब्दो नास्ति तथापि वाक्येन प्रतीयते। स च प्रतीयमानः क्रमो मानान्तरेण कर्तव्यतया प्राप्त्यभावादिह विधीयत इति। तन्न, क्त्वाप्रत्ययादेः क्रमवाचक-स्योक्तत्वात्। अतः क्रम एवात्राप्राप्तस्तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते क्त्वाप्रत्ययोक्तस्ततः

पदोक्तश्चेति भाट्टदीपिकाविरोधाच्चेति। इदानीमुक्तश्रुतेरर्थपाठादिप्रमाणापेक्षया प्राबल्य-माह—सेयं श्रुतिरिति। अर्थादिप्रमाणानां श्रुतिकल्पनद्वारा क्रमे प्रामाण्यादिति। तत्र हेतुमाह—तेषामित्यादिना। ज्योतिष्टोम ऐन्द्रवायवादिग्रहेष्वाश्विननामकग्रहस्तृतीयस्थाने पठितः। ततश्च तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तावपि तस्य दशमस्थानत्वमाश्विनो दशमो गृह्यत इति शब्देनैवाम्नायत इति तत्र गमकमप्याह—अत एवेत्यादिना। अत एव, इतरप्रमाणा-पेक्षया श्रुतेः प्राबल्यादेवेत्यर्थः। इत्युक्तमिति। पञ्चमाध्याये चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरण इति शेषः। पाठो हि न क्रमस्याभिधायकः किं त्वन्यथानुपपत्त्या क्रमं कल्पयति। दशम इत्येषा श्रुतिस्तु साक्षादेव क्रममभिधत्ते। ततः पाठादपि श्रुतिः प्रबलेति भावः।

अर्थबोधिनी—क्रम के निर्णायक छः प्रमाण होते हैं। वे हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति।

श्रुति का लक्षण है—**क्रमपरवचनम्**। 'क्रमपरवचनम्' का अर्थ है—'क्रम का साक्षात् बोध कराने वाला शब्द'। उक्त श्रुति के श्रवण से ही 'अमुक क्रिया के पश्चात् अमुक क्रिया का अनुष्ठान करना चाहिये' इस प्रकार क्रियाओं के क्रम अर्थात् पूर्वापरभाव का ज्ञान हो जाता है।

श्रुति के दो प्रभेद हैं—१. केवलक्रमपरक एवं २. क्रमविशिष्टपदार्थपरक। जिस श्रुति से क्रममात्र का ही विधान किया जाता है, क्रिया आदि का नहीं; वह श्रुति 'केवलक्रमपरक' कहलाती है। यहाँ क्रिया आदि का विधान विधिवाक्य या विधिवाक्यों से पहिले ही हुआ रहता है। इस श्रुति से केवल क्रम का विधान होता है। उदाहरण के लिये **वेदं कृत्वा वेदिं करोति** इस वाक्य में 'क्त्वा' प्रत्यय-रूप श्रुति से ज्ञात होता है कि वेद का निर्माण करने के पश्चात् वेदी का निर्माण किया जाना चाहिये। उक्त वेदकरण एवं वेदिकरण में पूर्वपरभावरूप क्रम है, जिसका विधान क्त्वा' प्रत्ययात्मक श्रुति से हुआ है। 'वेद' का अर्थ—कुशमुष्टिविशेष (जिससे वेदी का सम्मार्जन किया जाता है)—होता है। 'आहवनीय' एवं 'गार्हपत्य'-संज्ञक अग्नियों के बीच चार अङ्गुल का गहरा गर्त, जिसमें हवि का प्रक्षेप किया जाता है, 'वेदि' 'वेदी' कहलाती है।[1] **'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'** वाक्य से यद्यपि 'वेद (कुशमुष्टि) का निर्माण करना चाहिये, वेदी का निर्माण करना चाहिये' इस अर्थ का बोध होता है, परन्तु यह अर्थ अनूदित (पूर्व से विहित) है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पहिले से ही वेद-करण एवं वेदिकरण का विधान प्राप्त होता है[2], अतएव यहाँ केवल क्रम का ही विधान है।

१. वेदः दर्भमुष्टिविशेषः, आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये चतुरङ्गुलनिखातं भूतलं हविर्निधानविशेषरूपकम्। (कौमुदी)

२. 'दर्शपूर्णमासयोर्हविरधिवासनोत्तरं वेदिकरणविधिवाक्येनैव वेदिकरणस्य प्राप्तत्वात्तदनुवादेन क्त्वाप्रत्ययोक्तक्रममात्रमत्र विधीयत इति भावः।

'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' श्रुति का उदाहरण—**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः** है।[१] यागानुष्ठान काल में 'होता' नामक ऋत्विक् 'वषट्' शब्द का उच्चारण करता है; इसीलिये होता को 'वषट्कर्ता' कहा जाता है। यहाँ 'होता के प्रथमभक्षण' का विधान है। अभिप्राय यह है कि विधान तो है 'भक्षण' क्रिया का और प्राथम्य (उसका प्रथम होना) उस (भक्षण) का विशेषण है। प्राथम्य क्रम का बोधक है। इस प्रकार प्रकृत श्रुति प्राथम्य-रूप 'क्रम' से विशिष्ट भक्षण-रूप 'पदार्थ' का बोध कराती है, इसीलिये इसे 'क्रम 'विशिष्टपदार्थपरक' कहते हैं। यहाँ केवल क्रम का विधान नहीं है, क्योंकि 'भक्षण' क्रिया का विधान करने वाली कोई दूसरी विधि नहीं है। **वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः** से 'भक्षण' का विधान करके पुनः उसी का अनुवाद करके उसे प्राथम्यविशिष्ट मानना भी उचित नहीं है। कारण, इससे एकप्रसरता अर्थात् एकवाक्यता भङ्ग हो जायेगी। एकवाक्यताभङ्ग को ही वाक्यभेद कहते हैं। वाक्यभेद एक दोष है (देखिये—विभागसङ्ख्या १६), अतएव दोष से बचने के लिये यहाँ श्रुति को 'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' ही मानना उचित होगा।

श्रुति अर्थ, पाठ आदि अन्य सभी प्रमाणों से बलवान है। जहाँ अन्य प्रमाणों द्वारा क्रमबोध होता है, वहाँ क्रमबोधकवाक्य-रूप श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है, अतएव विलम्ब होता है। प्रयोग होने के लिये प्राशुभाव आवश्यक है। श्रुति के द्वारा क्रम-बोध शीघ्र हो जाता है। अतएव अन्य प्रमाणों की अपेक्षा क्रमबोध शीघ्र कराने के कारण श्रुति बलवती होती है। इसीलिये जहाँ कहीं क्रमबोध के विषय में श्रुति एवं अन्य प्रमाणों की युगपत् प्रवृत्ति होने लगती है, श्रुतिबोध्य क्रम ही मान्य होता है। उदाहरण के लिये **ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति** (मैत्रायणी संहिता–४.५.७) इस मन्त्र में ऐन्द्रवायवग्रहण, मैत्रावरुणग्रहण के पश्चात् आश्विनग्रहण का पाठ तृतीय स्थान पर है। पाठ से **आश्विनस्तृतीयो गृह्यते** आदि रूप में श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी, तभी क्रम का निर्धारण होगा। इस प्रकार पाठ से श्रुति की कल्पना करने में विलम्ब होता है, किन्तु **आश्विनो दशमो गृह्यते** यहाँ 'दशमः' इस श्रुति से आश्विनग्रहण[२] का स्थान दसवाँ निर्धारित होता है। श्रुति द्वारा शीघ्र क्रमबोध होता है, अतएव दोनों प्रमाणों में विरोध होने पर श्रुति-बोध क्रम मान्य होने से दसवें स्थान पर 'आश्विनग्रहण' होता है।

प्रसङ्ग—अर्थक्रम का लक्षण—

५२. अर्थक्रमलक्षणम्

यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं

---

१. यागानुष्ठान से अविशिष्ट सोम का पान (भक्षण) सर्वप्रथम 'होता' नामक ऋत्विक् करता है, उसके बाद दूसरे।

२. 'आश्विन' शब्द का अर्थ 'अश्वी' देवता से सम्बन्धित पात्र है।

पचति' इत्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।

अर्थ—जहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्णय होता है, उसे अर्थक्रम कहते हैं। उदाहरण के लिये अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति इन विधिवाक्यों के स्थल में निर्णीत होने वाले क्रम को लिया जा सकता है। यहाँ पाठक्रम की दृष्टि से 'अग्निहोत्र होम' पहिले विहित है एवं 'यवागूपाक' बाद में। किन्तु अनुष्ठान विपरीतक्रम से होता है। यहाँ क्रम का निर्णय अर्थ-पाठ से होता है। कारण, 'यवागूपाक' का प्रयोजन (अर्थ) अग्निहोत्र होम में काम आना है। इस उद्देश्य (अर्थ) से 'यवागूपाक' अग्निहोत्र होम के पहिले किया जाता है।

अर्थक्रम अपने परवर्ती पाठक्रम नामक प्रमाण से बलवान् होता है। अर्थक्रम के अनुसार पहले अग्निहोत्र होम एवं बाद में यवागूपाक का अनुष्ठान करने पर निश्चित प्रयोजन (यवागूपाक से अग्निहोत्र-संज्ञक होम का सम्पादन) में बाधा पड़ेगी एवं अदृष्ट की उत्पत्ति माननी होगी। अदृष्टकल्पना इसलिये कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान के पश्चात् यवागू के तैयार करने का कोई दृष्ट प्रयोजन तो रह ही नहीं जाता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीमर्थक्रमं लक्षयति—यत्रेत्यादिना। प्रयोजनवशेन प्रयोजनानुपपत्त्या, तद्धि व्युत्क्रमेऽनुपपद्यमानं क्रमे प्रमाणमिति भावः। तत्रोदाहरणमाह—यथाग्निहोत्रमिति। अग्निहोत्रयवागूपाकयोरित्यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णय इत्यनुषङ्गः। अत्र हीति। अत्र प्रकृते, यवागूहोमयोर्मध्य इति वार्थः। तत्पाकः पूर्वमनुष्ठीयत इत्यन्वयः। होमादिति शेषः, यवागूः तच्छब्दार्थः। यवागूपाकस्य पाठक्रमेण पश्चात्करणे पाकसंस्कृतांया यवाग्वा होमरूपप्रयोजनस्य 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोती'ति वचनसिद्धस्यानिष्पत्तेः। पाकस्य च यवागूत्पादकत्वेऽपि तस्या अनुपयुक्तायाः प्रयोजनत्वानुपपत्तेस्तदन्यथानुपपत्त्या पूर्वं पाकः पश्चाद्धोमोऽनुष्ठीयत इति भावः। अर्थक्रमश्च पाठक्रमाद्बलीयान्भवतीत्याह—स चायमिति। यवागूपाकस्य यथापाठमनुष्ठानेऽदृष्टार्थत्वं स्यादिति विपक्षे बाधकमाह—यथापाठमिति। क्रमप्रयोजनबाधस्तु दर्शितो यवागूपाकस्येत्यारभ्यास्माभिरिति भावः। दृष्टमेव किञ्चित्सम्भवत्प्राप्तिकं भवेदित्यत आह—न हीत्यादिना। न हि भक्षणमन्तरेण किञ्चिद् दृष्टप्रयोजनमुपलभ्यते, तच्च न प्रकृतयवाग्वा, अदर्शनात्प्रमाणाभावाच्चेति भावः।

अर्थबोधिनी—यहाँ 'अर्थ' शब्द का अभिप्रेत अर्थ 'प्रयोजन' है। इसलिये अर्थक्रम एवं प्रयोजनक्रम—ये दोनों पर्यायवाची अर्थात् एकार्थक हैं। इसलिये जो क्रम प्रयोजन के आधार पर होता है, वह 'अर्थक्रम' कहलाता है। उदाहरण के लिये दो विधियों का क्रमशः पाठ इस प्रकार है—अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं[1] पचति। इन विधियों के द्वारा क्रमशः

'अग्निहोत्रहोम' एवं 'यवागूपाक' का विधान है। अतएव पाठक्रम से पहिले 'अग्निहोत्रहोम' का अनुष्ठान होना चाहिये था, पश्चात् 'यवागूपाक' तैयार किया जाना चाहिये था; किन्तु **यवाग्वाग्निहोत्रं जुहुयात्** इस वाक्य से 'यवागू के द्वारा अग्निहोत्र नामक याग का अनुष्ठान करना चाहिये' यह अर्थबोध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यवागू (लपसी) का प्रयोजन अग्निहोत्र होम का अनुष्ठान है। इस प्रयोजन को कार्यान्वित करने के लिये यवागू को ही पहिले तैयार करना होगा; तत्पश्चात् उससे अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना होगा। इस प्रकार प्रयोजनक्रम या अर्थक्रम से यवागूपाक एवं अग्निहोत्र होम के अनुष्ठान में जो पूर्वापरभाव है, वह पाठक्रम से प्राप्त पूर्वापरभाव के विपरीत है।

यहाँ पाठक्रम का आदर नहीं किया गया है, क्योंकि पाठक्रम से पहिले 'अग्निहोत्र होम' को और बाद में 'यवागूपाक' को स्थान मिलता था। यदि अग्निहोत्र का अनुष्ठान पहिले किया जायेगा। तो निर्धारित प्रयोजन—**यवाग्वाग्निहोत्रं जुहुयात्** में बाधा पड़ेगी (**क्लृप्तप्रयोजनबाधा**); अतएव यहाँ पाठ के द्वारा क्रम का निर्धारण नहीं मानना चाहिये। पुनश्च अग्निहोत्र होम हो चुकने के पश्चात् यवागूपाक का कोई प्रत्यक्ष प्रयोजन नहीं दिखलाई पड़ता (**न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति**) अतएव कुछ अदृष्ट प्रयोजन (**अदृष्टार्थत्वम्**) ही मानना होगा; किन्तु जब यवागू का दृष्ट प्रयोजन—अग्निहोत्रहोम का अनुष्ठान सम्भव है तब उनका अदृष्ट प्रयोजन मानना मीमांसा के सिद्धान्त के विरुद्ध है—**सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्**[1]। इसलिये अर्थक्रम पाठक्रम से बलवान् है (**स चायं पाठक्रमाद् बलवान्**)।

प्रसङ्ग—पाठक्रम का लक्षण एवं विभाजन—

५३. पाठक्रमलक्षणम्

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन कि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः—मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मन्त्रपाठात्।

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद्बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठः।

प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि, तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

---

१ विभागसङ्ख्या-६४

अर्थ—क्रियाओं (पदार्थों) का विधान करने वाले वाक्यों का जो क्रम है, उसे पाठक्रम कहा जाता है। पाठक्रम क्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का आधार होता है। कारण, जिस क्रम से मन्त्रब्राह्मणगत विधिवाक्यों का पाठ किया जाता है, उसी क्रम से अध्ययन करने पर उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता है और ज्ञानक्रम के अनुसार क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाता है। पाठक्रम के दो प्रभेद होते हैं—१. मन्त्रपाठ एवं २. ब्राह्मणपाठ। आग्नेय एवं अग्नीषोमीय यागों का जो क्रम इन यागों के याज्यानुवाक्यासंज्ञक वाक्यों के क्रम से निर्धारित होता है, वह (यागों का) क्रम मन्त्रपाठ से ही निर्णीत होता है।

मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान् होता है, क्योंकि क्रियानुष्ठान में मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा अन्तरङ्ग होते हैं। कारण, ब्राह्मणवाक्य तो क्रियानुष्ठान से दूर रहकर ही 'ऐसा करना चाहिये' इस प्रकार अज्ञात क्रिया का ज्ञापन करके कृतकृत्य हो जाते हैं, जबकि मन्त्रों का व्यवहार क्रियानुष्ठान काल में होता है; क्योंकि क्रियानुष्ठान के क्रम का आधार स्मरणक्रम है और स्मरणक्रम का आधार मन्त्रपाठक्रम है। इसीलिये मन्त्रपाठक्रम ब्राह्मणपाठक्रम से बलवान् माना जाता है।

समिधो यजति ('समिद्' नामक याग का अनुष्ठान करे), **तनूनपातं यजति** ('तनूनपात' नामक याग का अनुष्ठान करे) इस प्रकार पाठक्रम से 'प्रयाज'संज्ञक यागों का जो क्रम है, उसका आधार ब्राह्मणपाठक्रम है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य क्रिया का विधान करके ही कृतार्थ हो जाते हैं, न कि साक्षात् रूप से क्रियानुष्ठान काल में व्यवहृत होते हैं, फिर भी यत: प्रयाज आदि यागों के क्रम को स्मरण कराने वाले अन्य वाक्यों का सर्वथा अभाव रहता है, इसीलिये वहाँ ब्राह्मणवाक्यों को ही क्रमस्मारक रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—पाठक्रमं लक्षयति—पदार्थेति। तस्माच्चेति। पाठक्रमाच्चेत्यर्थः। पाठक्रमात्पदार्थक्रममुपपादयति—येनेत्यादिना। वाक्यानीति पदस्याप्युपलक्षणम्। पदार्थप्रत्ययस्य क्वात्रोपयोग इत्यत आह—यथाप्रत्ययं चेति। पाठक्रमं विभजते—स च पाठो द्विविध इति। मन्त्रपाठक्रममुदाहरति—तत्रेत्यादिना। तत्र मन्त्रपाठब्राह्मणपाठयोर्मध्य इत्यर्थः। किञ्च अग्नीषोमीययागस्तैत्तिरीयब्राह्मणपञ्चमप्रपाठके द्वितीयानुवाके समाम्नातः 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छ'दिति। आग्नेययागस्तु षष्ठप्रपाठके तृतीयानुवाके आम्नातः—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवती'ति। तत्रानुष्ठानस्य ब्राह्मणोक्तविध्यधीनत्वादग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमित्याशङ्क्य मन्त्रकाण्डे पूर्वं पठिता आग्नेयमन्त्राः। तथाहि—हौत्रकाण्डे आज्यभागमन्त्रानुवाकादुत्तरस्मिन्ननुवाके प्रथमम् 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिके आग्नेय्यौ याज्यानुवाक्ये आम्नाते। ततः 'प्रजापते न त्वदेतानी'त्यादि प्राजापत्ये। ततो'ऽग्नीषोमा सवेदसे'त्यादिके अग्नीषोमीये।

आध्वर्यवे काण्डेऽप्यग्नये जुष्टं निर्वपाम्यग्नीषोमाभ्यामित्याग्नेयः पूर्वमाम्नातः। याजमानकाण्डेऽप्यग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासमित्याग्नेयस्य पश्चाद् 'अग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयास'मित्याम्नायते। मन्त्रक्रमः प्रबलः मन्त्रैः स्मृत्वा पश्चादनुष्ठेयत्वाद् ब्राह्मणपाठस्त्वप्राप्तपदार्थे विधिनापि चरितार्थः। अतोऽनुष्ठानस्मरणायैवोत्पन्नान्मन्त्रान्बाधितुं नालमिति मन्त्रक्रमेणाग्नेयस्यैव प्रथममनुष्ठानमिति समाधानमभिप्रेत्य वा मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्बलीयस्त्वमाह—स चायमित्यादिना। किञ्च पाठयोस्तु मन्त्रब्राह्मणागतयोर्मन्त्रपाठो बलीयान्, न तु ब्राह्मणपाठः तस्योत्पत्तिविनियोगविधिगतत्वेन प्रथमोपस्थितत्वेऽपि पाठस्य स्मारकक्रमं विधायैव क्रमनियामकत्वोक्तेर्मन्त्रसत्त्वे च तस्यैव स्मारकतया विधानोपयुक्तस्यासमर्थस्य च विधेः स्मारकत्वाभावान्मन्त्रपाठक्रम एव बलीयान्। तेन च याज्यानुवाक्यादिमन्त्रपाठक्रमादाग्नेयस्य प्रथमानुष्ठानं पश्चाच्चोपांशुयाजोत्तरमग्नीषोमीयस्य, न तु ब्राह्मणपाठक्रमादग्नीषोमीयस्य प्रथमं, पश्चादुपांशुयाजोत्तरमाग्नेयस्येत्यभिप्रेत्य मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्बलीयस्त्वमाह—स चायमित्यादिना। याज्यानुवाक्यानामिति। यजेति प्रैषानन्तरमृग् या ब्रह्मणा समुच्चार्यते सा याज्येत्युच्यते। अनुब्रूहीति प्रैषानन्तरमृग् या तेनैव समुच्चार्यते सानुवाक्येत्युच्यत इत्यर्थः।

तस्य तद्बलीयस्त्वे हेतुमाह—अनुष्ठान इत्यादिना। मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठादनुष्ठानेऽन्तरङ्गत्वमुपपादयति—ब्राह्मणवाक्यमित्यादिना। स्मरणक्रमाधीनत्वादिति। अनुष्ठेयपदार्थस्मरणक्रमाधीनत्वादित्यर्थः। तत्क्रमस्येति। अनुष्ठेयपदार्थस्मरणक्रमस्येत्यर्थः। मन्त्रक्रमाधीनत्वादिति। अनुष्ठेयपदार्थस्मारकमन्त्रक्रमाधीनत्वादित्यर्थः। प्रयाजानामनुष्ठानक्रमः 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजती'ति ब्राह्मणपाठक्रमात्स्वीक्रियते इत्याह—प्रयाजानामित्यादिना। ननु 'समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्राणां प्रयाजक्रमस्मारकाणां सत्त्वेन कथं तेषां ब्राह्मणवाक्यक्रमात्क्रमः स्वीक्रियते, तद्वाक्यानां विधानमात्रे चरितार्थत्वादित्याशयेनाशङ्कते—यद्यपीति। मन्त्रपाठस्यान्यादृशत्वेन वा, मन्त्राणां देवतामात्रस्मारकत्वेन कर्मस्मारकत्वाभावाद्वा, प्रयाजक्रमो ब्राह्मणपाठक्रमादेवेत्याशयेन परिहरति—तथापीति। तथा च येन क्रमेण ब्राह्मणवाक्यान्यधीतानि तेनैव क्रमेणार्थस्मरणं जनयन्तीति युक्तं तेषां तेनैव क्रमेणानुष्ठानमिति भावः। वस्तुतस्तु प्रयाजक्रमो न ब्राह्मणपाठक्रमात्स्वीक्रियते 'समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिभिः क्रमप्रकरणप्राप्तैर्मन्त्रैर्देवता गुणत्वेन समर्प्यन्त इति नवमन्त्ररत्नविरोधप्रसङ्गात्। अन्यथा मन्त्राणामन्यादृशक्रमत्वे तदनुपपत्त्यापत्तेः, किं तु मन्त्रपाठक्रमात्क्रम एव, ब्राह्मणपाठक्रमात्क्रमस्तु यत्रार्थस्मारका तत्र तेषामेव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वात्। प्रयाजोदाहरणं तु कृत्वा चिन्तया, तत्र ब्राह्मणवाक्यानां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वाभावात्। तथा चार्थवादपादे वार्तिकवचनम् 'प्रयाजादिवाक्यान्यर्थं समर्प्य चरितार्थानि स्वरूपसंस्पर्शे सत्यपि प्रयोज्यतां न प्रतिपद्यन्त' इति, तस्मान्मन्त्रक्रमादेव प्रयाजक्रम इति सिद्धमिति ध्येयम्।

अर्थबोधिनी—अङ्गविधायक वाक्यों के पाठक्रम के अनुसार ही जहाँ क्रिया का क्रम निर्णीत होता है, वहाँ का अङ्गविधायक वाक्यगत पूर्वापरभाव पाठक्रम कहलाता है। जहाँ अर्थक्रम अङ्गगत पूर्वापरभाव का निर्णायक नहीं होता। वहाँ पाठक्रम के द्वारा अङ्गों के पूर्वापरभाव का निर्णय होता है। अनुष्ठान में पाठक्रम को प्रमाण मानने का कारण यह है कि जिस क्रम के अङ्गबोधक वाक्यों का पाठ वेद या ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ रहता है, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है अर्थात् जिस वाक्य का पाठ वेद में पहिले होता है, उसका अध्ययन भी पहिले होता है और जिसका पाठ उस वाक्य के बाद होता है, उसका अध्ययन भी उस वाक्य के बाद में होता है अर्थात् पाठक्रम अध्ययनक्रम का आधार होता है। जिस क्रम से अङ्गबोधक वाक्यों का अध्ययन किया जाता है, उसी क्रम से वाक्यबोध्य अङ्गों का ज्ञान भी होता है। जिस क्रम से अङ्गों का ज्ञान होता है, उसी क्रम से उन अङ्गों का स्मरण होता है और स्मरण से अङ्गों का अनुष्ठान होता है। सारांश यह है कि पाठक्रम के अनुसार अध्ययनक्रम, अध्ययनक्रम के अनुसार अर्थज्ञानक्रम, अर्थज्ञानक्रम के अनुसार पदार्थस्मरणक्रम एवं स्मरणक्रम के अनुसार पदार्थानुष्ठानक्रम होता है। अतएव पदार्थों के अनुष्ठान के क्रम का मूल आधार पाठक्रम होता है। यह क्रमनिर्णय की प्रक्रिया वैज्ञानिक होने के कारण उन सभी स्थलों में आदृत होती है, जहाँ प्रयोजन की सम्पत्ति में बाधा प्राप्त होने के कारण आदरणीय अर्थक्रमरूप निर्णायक का अभाव होता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने कहा है—तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते।

पाठ दो प्रकार के होते हैं—१. मन्त्रपाठ एवं २. ब्राह्मणपाठ। इन्हीं दोनों पाठों के अनुसार क्रमशः दो पाठक्रम होते हैं—१. मन्त्रपाठक्रम एवं २. ब्राह्मणपाठक्रम। वेद की संहिताओं में पठित मन्त्रों के पाठ में जो पूर्वापरभाव होता है, उसे मन्त्रपाठक्रम कहते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणवाक्यों में पठित विधिवाक्यों के पाठ में होने वाले पूर्वापरभाव को ब्राह्मणपाठक्रम कहते हैं।

मन्त्रपाठक्रम ब्राह्मणपाठक्रम से बलवान होता है (स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्)। इसलिये उक्त दोनों पाठों में क्रमविषयक परस्पर विरोध होने पर मन्त्रपाठक्रम मान्य होता है। इस उदाहरण को इस प्रकार समझा जा सकता है—तैत्तिरीयसंहिता में पहिले अग्नीषोमीय याग का विधान है, तत्पश्चात् आग्नेय याग का। इसलिये ब्राह्मणपाठक्रमानुसार पहिले अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान होना चाहिये और बाद में आग्नेय याग का; किन्तु मन्त्रपाठ के अन्तर्गत पहिले आग्नेय्य अनुवाक्या एवं याज्या मन्त्र का पाठ है, उसके बाद अग्नीषोमीय अनुवाक्या एवं याज्या मन्त्रों का पाठ है। इस प्रकार मन्त्रपाठक्रमानुसार आग्नेय्य अनुवाक्या एवं याज्या मन्त्रों का पाठ पहिले एवं अग्नीषोमीय अनुवाक्या एवं याज्या मन्त्रों का पाठ उसके बाद होना चाहिए। आग्नेय्य मन्त्रों का पाठ आग्नेय याग में होता है एवं अग्नीषोमीय मन्त्रों का अग्नीषोमीय याग में। इस प्रकार आग्नेय याग का

अनुष्ठान पहिले और अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान बाद में होना चाहिये। ब्राह्मणपाठ से मन्त्रपाठ बलवान होता है, अतएव मन्त्रपाठबलात् मन्त्रपठित (संहितापठित) अपने याज्यानुवाक्या के क्रम के बल पर आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले होगा, अग्नीषोमीय का बाद में। ब्राह्मणपाठक्रम[1] इस प्रकार है—

क्र. सं.	विधेय	विधिवाक्य	ग्रन्थसन्दर्भ
१.	अग्नीषोमीय याग	ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्	तैत्तिरीय ब्राह्मण (५.२)
२.	आग्नेय	यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति।	तैत्तिरीय ब्राह्मण (६.३)

मन्त्रपाठक्रम[2] इस प्रकार है—

क्र. सं.	मन्त्रसंज्ञा	मन्त्र	ग्रन्थसन्दर्भ
१. (क)	अनुवाक्या (आग्नेय)	अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति।	हौत्रकाण्ड
(ख)	याज्या (आग्नेय)	भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुँद्भिस्सचसे शिवाभिः। दिवि मूर्धानं दधिषे सुवर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्।	
२. (क)	अनुवाक्या (अग्नीषोमीय)	अग्नीषोमा सवेदसा सहूती वनतगिरः। सदेवत्रा बभूवथुः।	आध्वर्यवकाण्ड
(ख)	याज्या (अग्नीषोमीय)	युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्। युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीताम्।	

---

१. यह ब्राह्मणपाठक्रम प्रकृत स्थल में अङ्गों के अनुष्ठानक्रम का निर्णायक नहीं है; क्योंकि यह निम्नलिखित मन्त्रपाठ की बलवत्ता के कारण बाधित होता है।

२. यह पाठक्रम प्रकृत स्थल में अङ्गों के अनुष्ठानक्रम का निर्णायक मान्य होता है; क्योंकि यहाँ अपनी बलवत्ता के कारण उपर्युक्त ब्राह्मणपाठक्रम को अङ्ग-विषयक क्रमनिर्णायक नहीं होने देता।

मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान होता है। इसका कारण यह है कि ब्राह्मणवाक्य साक्षात् अनुष्ठान से दूर रहते हैं। वे केवल अङ्गों का विधान करते हैं, किन्तु मन्त्रों का पाठ यागानुष्ठानकाल में होता है; अतएव मन्त्र ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा यागानुष्ठानकाल में अन्तरङ्ग हैं—अधिक समीप हैं। यदि यागानुष्ठान में मन्त्रों का पाठ नहीं किया जायेगा तो प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण नहीं होगा और बिना विधेय के स्मरण हुए यागानुष्ठान हो ही कैसे सकता है? विधेय पदार्थों के स्मारक मन्त्र ही हो सकते हैं।[१]

जहाँ क्रमबोधक मन्त्रपाठ नहीं प्राप्त होता अथवा विधेयार्थस्मारक मन्त्र नहीं प्राप्त होते, वहाँ अगत्या ब्राह्मणपाठ को ही क्रमबोधक मान लेना चाहिए। यथा प्रयाजों के विधायक ब्राह्मणवाक्य इस प्रकार है—**समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति।** प्रकृत स्थल में ऐसा कोई मन्त्रपाठ नहीं प्राप्त होता, जिसके क्रम का निर्णय हो सके; अतएव यहाँ उक्त ब्राह्मणवाक्यों के पाठ ही क्रमबोध में प्रमाण हैं।

प्रसङ्ग—पाठ के पश्चात् अब तृतीय प्रमाण—स्थान के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

५४. स्थानक्रमलक्षणम्

स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन् देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः।

तथाहि—ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः—अग्नीषोमीयः, सवनीयः अनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, अनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्क्रो नाम यागविशेषः। स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः। अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च। सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति। अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्। अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यात्। एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः।

तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम्।

---

१. मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः। प्रकृतौ 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इत्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात् प्रथममनुष्ठान-मितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम्।

अर्थ—उपस्थिति को स्थान कहते हैं। उपस्थिति का अर्थ है—प्रकृति याग में अनुष्ठित क्रम के अनुसार किसी पदार्थ का विकृति याग में उपस्थित होना। जिसके देश में जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसके अव्यवहित पूर्व वाली क्रिया के अनुष्ठान होने पर वही पहिले उपस्थित होता है। इसलिये उसका पहिले अनुष्ठान होना उचित है। इसीलिये जब साद्यस्क्र नामक याग के अन्तर्गत सवनीय देश में अग्निषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध्य—इन तीनों का अव्यवहित अनुष्ठान करना होता है तो पहिले सवनीय नामक पशु का अनुष्ठान होता है, शेष दो पशुओं का अव्यवहित उत्तरकाल में; क्योंकि सवनीय देश में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु की ही पहिले उपस्थिति होती है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत तीन पशुयाग हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—१. अग्निषोमीय, २. सवनीय एवं ३. अनुबन्ध्या इन तीनों में से प्रत्येक का अनुष्ठान भिन्न-भिन्न काल में होता है, यथा—अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान औपवसथ्य नामक दिन में, सवनीय का अनुष्ठान सुत्याकाल में और अनुबन्ध्य का अन्तिम दिन में। साद्यस्क्र एक याग-विशेष की संज्ञा है। साद्यस्क्र अव्यक्त (अश्रुतदेवताक) होने से ज्योतिष्टोम का विकृति याग है। अतएव साद्यस्क्र में अतिदेश से तीनों पशुयागों की प्राप्ति होती है। साद्यस्क्र में तीनों पशुओं के सहानुष्ठान का विधान सह पंशूनालभेत अर्थात् पशुओं का आलभन साथ-साथ करें—इस श्रुति से होता है। पशुओं का यह सहानुष्ठान सुत्याकाल में होता है। कारण—१. सवनीय प्रधान (सोमसवन) के समीप पड़ता है, (२) पशुओं के स्थान के अतिक्रमण में समानता रहती है। सुत्याकाल में अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य पशु अपने-अपने स्थान का ही अतिक्रमण करते हैं, जबकि अग्नीषोमीय देश में सहानुष्ठान करने पर सवनीय केवल अपने स्थान का अति-क्रमण करेगा और अनुबन्ध्य अपने स्थान का अतिक्रमण करेगा तथा सवनीय के स्थान का भी अतिक्रमण करेगा। इसी प्रकार अनुबन्ध्य देश में अग्नीषोमीय के स्थानातिक्रम के विषय में भी समझना चाहिए।

उक्त कथन का अभिप्राय इस प्रकार है—सुत्याकाल में सभी पशुओं के सहानुष्ठान कर्तव्य होने पर सवनीय पशु का ही पहिले अनुष्ठान किया जाता है। कारण, आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीयदेश प्राप्त होता है, क्योंकि प्रकृतियाग में आश्विनग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता

यूपं परिवीय सवनीयं पशुमुपाकरोति इस विधिवाक्य से यह बोध होता है कि आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय का ही अनुष्ठान होता है। उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार है— 'अश्विनग्रहण करके त्रिगुणित रज्जु से यूप को वेष्टित करके अग्निदेवताक सवनीय पशु का उपाकरण करे'। इसीलिए साद्यस्क्र में आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय की उपस्थिति होती है, अतः स्थानप्रमाण से सवनीय पशु का पहिले अनुष्ठान होना उचित है, अन्य दोनों पशुओं का बाद में, यह बात जैमिनि ने सूत्र (५.१.१३) में कही है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं स्थानं लक्षयति—स्थानं नामोपस्थितिरिति। प्रकृतौ नाना-देशानां पदार्थानां विकृतौ चोदकवचनादेकस्मिन्देशेऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशे तेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादयं यः क्रमः स स्थानक्रमः। तेन चोपस्थितिविशेषेण योऽनुष्ठानक्रमः स एव स्थानक्रम इत्युच्यत इति भावः। उपस्थितिं व्यनक्ति—यस्ये-त्यादिना। यस्येति। ज्योतिष्टोमादिप्रकृतेः साद्यस्क्रादिविकृतौ चोदकप्राप्तस्य सवनीया-देरित्यर्थः। य इति। आग्नीषोमीयानुबन्ध्यादिरित्यर्थः। तत्पूर्वतन इति। तस्मात्सवनीयादेः पूर्वतन आश्विनग्रहणादौ पदार्थे कृते सतीत्यर्थः। स एवेति। सवनीयादिरेवेत्यर्थः। प्रथम-मिति। अग्नीषोमीयानुबन्ध्यापेक्षया प्रथममित्यर्थः। तस्येति। सवनीयादेरेवेत्यर्थः। अत एवेति। प्रथमोपस्थितप्रथमानुष्ठानस्य युक्तत्वादेवेत्यर्थः। इतरयोरिति। अग्नीषोमीयानुबन्ध्य-योरित्यर्थः। तस्मिन्देश इति। त्रयाणामपि पशूनां विकृतौ प्राप्तसवनीयदेश इत्यर्थः। आश्विनग्रहणानन्तरमित्यत्र सवनीयस्यैव विकृतौ प्रधानप्रत्यासत्तिबलाच्चोदकप्राप्त-त्वेनोपस्थितियोग्यत्वादिति शेषः। प्रथममिति। अग्नीषोमीयानुबन्ध्यापेक्षया प्रथममित्यर्थः।

विकृतावाश्विनग्रहणानन्तरमेव सवनीयस्थानप्रदर्शनाय प्रथमं प्रकृतौ तत्स्थानं प्रदर्श-यति—तथा हीत्यादिना। औपवसथ्येऽह्नीत्युक्तार्थ एव। अन्त इति। अवभृथादूर्ध्वकाल इत्यर्थः। अव्यक्तत्वादिति। स्वार्थचोदितदेवतारहितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं न्यायप्रकाशे 'अव्यक्तत्वं च स्वार्थचोदितदेवताराहित्य'मिति। अत इति। ज्योतिष्टोमविकारत्वादित्यर्थः। तत्रेति। साद्यस्क्र इत्यर्थः। तच्चेति। श्रुतं चेत्यर्थः। तस्येति। सवनीयस्येत्यर्थः। प्रधानेति। यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिकः सवनीयः प्रधानप्रत्यासन्नस्तथैव तद्विकृतिविशेषे साद्यस्क्रेऽपि तात्कालिकः स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भावः। सवनीयदेशे साहित्ये त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं हेत्वन्तरमाह—स्थानेति।

तदेव स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं प्रदर्शयति—सवनीयदेश इत्यारभ्य तथा चेति प्राक्तनेन ग्रन्थेन। स्वस्वस्थानातिक्रमो भवतीति। यथा प्रकृतौ तथैव विकृतावपि चोदकप्राप्तस्या-ग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमो भवत्यानुबन्ध्यस्य च स्वान्त-स्थानमात्रस्यातिक्रमो भवतीत्यर्थः। सवनीयस्य तु सुत्याकालरूपस्वस्थानस्य नातिक्रमो भवतीत्यत्र लाघवमिति भावः। इति त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रम इति। अग्नीषोमीयस्य

देश औपवसथ्येऽह्नि सर्वेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्य सवनीयप्रधानसोमप्रत्यासत्तिबलात्साहित्यविधिप्राप्तसुत्याकालरूपसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमो भवति। आनुबन्ध्यस्य तु तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमः स्वीयान्तस्थानातिक्रमो भवतीति त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमः। आनुबन्ध्यस्य देशे तु तेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानस्यातिक्रमस्तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमश्च भवति। आनुबन्ध्यस्य तु निरुक्तसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमः, सवनीयस्य तु स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमश्च भवतीति त्रयाणां स्वस्वस्थानस्यातिक्रम इत्यर्थ। तथा चेति। उपयुक्त्या सवनीयदेशे त्रयाणामनुष्ठाने कर्तव्ये चेत्यर्थः।

वैकृतसवनीयस्थाननिर्णयोपायतया प्राकृतं सवनीयस्थानं श्रुत्या प्रदर्शयति—प्रकृतावित्यादिना। त्रिवृता त्रिगुणितरज्ज्वा परिवीय परिवेष्टनं कृत्वा आश्विनः सोमग्रहः तद् ग्रहणानन्तरं ज्योतिष्टोमे सवनीयो विहित इति भावः। इति। यतः प्रकृतावाश्विनग्रहणानन्तरं स विहितोऽतो हेतोरित्यर्थः। आश्विनग्रहणेति। अत्राप्याश्विनग्रहणानन्तरमेव तस्य चोदकप्राप्तत्वेन तदनन्तरमेव तदुपस्थितिरिति भावः। तस्येति। सवनीयस्येत्यर्थः। स्थानादिति उपस्थितेरित्यर्थः। इतरयोरिति। अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरित्यर्थः। ननु तयोः पश्चादनुष्ठानेऽपि कस्य प्रथममनुष्ठाने कस्य पश्चादित्यनिर्णये प्रयोगविक्षेपापत्तिरित्यत आह—उक्तमिति। पञ्चमाध्यायस्य प्रथमे पाद इति शेषः। तत्र हि स्थानात्सवनीयस्य प्राथम्ये निश्चिते स्थानभ्रष्टयोस्तयोरग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमानुबन्ध्यस्य पश्चादित्युक्तमित्यर्थः। उक्तं हि न्यायमालाविस्तरे—साद्यस्क्रनामकः कश्चित्सोमयागः तत्र श्रूयते सहपशूनालभेत इति। प्रकृतावग्नीषोमीयपशुरौपवसथ्ये दिने आलभ्यते, सवनीयपशुः सुत्यादिने प्रातःसवन आश्विनग्रहादूर्ध्वमालभ्यते, आनुबन्ध्यः पशुरवभृथादूर्ध्वमालभ्यते इह तु त्रयोऽपि पशवः सहालब्धव्याः, सोऽयं सहालम्भः सुत्यादिन आश्विनग्रहादूर्ध्वं सवनीयस्थाने भवतीत्येतदवश्यमभ्युपेतव्यं, तथा सति प्रधानसोमप्रत्यासत्तिलाभादिति। सवनीयो हि स्वस्थान एव वर्तते, आश्विनग्रहसमीपस्य सवनीयस्थानत्वात्। आश्विने गृहीते सति सवनीय एव बुद्धिस्थो भवति प्रकृतौ तदानन्तर्यस्य क्लृप्तत्वात्। ततः सवनीयस्य प्राथम्ये स्थानान्निश्चिते सति स्थानभ्रष्टयोरग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः प्रकृताविव पूर्वोत्तरभावो द्रष्टव्य इति। यद्वा। उक्तमिति। आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चादित्यत्र पूर्वत्रोक्तमित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—स्थान प्रमाण से क्रम का निर्णय होता है। स्थान प्रमाण की प्रवृत्ति विकृति यागों में ही होती है, वह भी एक विशेष स्थिति में। कभी-कभी प्रकृति याग की अनेक दिन में अनुष्ठित होने वाली अनेक क्रियायें विकृति याग में साथ-साथ (एक ही दिन में) अनुष्ठित करनी होती हैं। तब प्रश्न यह होता है कि विकृति-याग में उन क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम क्या होगा? प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इस अतिदेशवाक्य से

मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि प्रकृति याग की सभी क्रियायें विकृति याग में अनुष्ठित की जानी चाहिये; किन्तु विकृति याग में अनुष्ठेय उन क्रियाओं के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता। यह इसलिये कि प्रकृतियाग में वे क्रियायें भिन्न-भिन्न दिनों में अनुष्ठित होती थीं, जबकि विकृति याग में एक ही दिन में। यागों में प्रत्येक दिन की अपनी-अपनी विशेषता होती है। अतएव प्रकृतियागगत क्रियाओं के क्रम के समान ही विकृतिगत क्रियाओं का क्रम होगा या नहीं, इसका निश्चय होना चाहिए। अतएव ऐसे स्थलों पर क्रमनिर्णायक 'स्थान' होता है।[१]

'स्थान' का अर्थ एवं उसका लक्षण उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। ज्योतिष्टोम (साद्यस्क्र) सोमयाग का प्रकृति याग है। इसमें तीन पशुओं का क्रमशः भिन्न-भिन्न दिनों में आलभन किया जाता है। पशुओं के नाम हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय एवं अनुबन्ध्य। जिन दिनों में इन पशुओं का क्रमशः आलभन होता है, उनमें से प्रथम दिन का नाम 'औपवसथ्य दिन', द्वितीय का 'सुत्याकाल' एवं तृतीय (अन्तिम) का 'अवभृथ' है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम में आग्नीषोमीय पशु का आलभन 'औपवसथ्य' नामक प्रथम दिन में, सवनीय पशु का 'सुत्याकाल'-संज्ञक द्वितीय दिन में एवं अनुबन्ध्य पशु का 'अवभृथ'-संज्ञक अन्तिम (तृतीय) दिन में किया जाता है। यह परिस्थिति हुई ज्योतिष्टोमसंज्ञक प्रकृतियाग की।

इधर साद्यस्क्र नामक एक सोमयाग है। यह अव्यक्त—नीरूप है, क्योंकि इसमें रूप (देवता) का श्रवण नहीं है।[२] इस प्रकार सर्वाङ्गपाठ न प्राप्त होने के कारण इसे प्रकृतियाग न मानकर विकृतियाग माना जाता है।[३] मीमांसा के अनुसर 'साद्यस्क्र' ज्योतिष्टोम का विकृति याग है। इस याग का अनुष्ठान केवल एक ही दिन में किया जाता है।[४] चूँकि साद्यस्क्र ज्योतिष्टोम का विकृति याग है, इसलिये **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इस अतिदेश वाक्य से ज्योतिष्टोम के समान साद्यस्क्र में भी अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य-संज्ञक तीनों पशुओं का आलभन किया जायेगा। ज्योतिष्टोम में ये पशु अलग-अलग दिनों में अनुष्ठित होते थे, किन्तु साद्यस्क्र में तीनों पशुओं का आलभन एक ही दिन में होता

---

१. प्रकृतौ नानादेशानां पदार्थानां विकृतौ वचनादेकस्मिन् देशेऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चात् अयं यः क्रमः स स्थानक्रमः। (मीमांसान्यायप्रकाश)

२. स्वार्थचोदितदेवतारहितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं न्यायप्रकाशे 'अव्यक्तं च स्वार्थचोदितदेवतारहित्यमिति'। (कौमुदी)
तथा—ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। (विभागसङ्ख्या-२१)

३. देखिये विभागसङ्ख्या-३४

४. साद्यस्क्रः एकदिनानुष्ठेयः सद्यः सोमक्रयविशिष्टः सोमयागविशेषः। (सारविवेचिनी)

है; क्योंकि **सह पशूनालभेत** यह विधि विधान करती है कि साद्यस्क्र याग में तीनों पशुओं का आलभन साथ-साथ अर्थात् एक ही दिन में किया जाय।

अब प्रश्न यह है कि तीनों दिनों में से किस एक दिन तीनों पशुओं का आलभन किया जाय? उत्तर है—सवनीय देश में, अर्थात् सुत्याकाल में। सुत्याकाल में तीनों पशुओं का आलभन किया जाय और औपवसथ्य अथवा अवभृथ नामक दिनों में से किसी दिन न किया जाय। इसका कारण क्या है? सुत्याकाल में तीनों पशुओं के आलभन (पशुयाग) किये जाने में दो कारण हैं—१. प्रधानप्रत्यासत्ति एवं २. स्थानातिक्रमसाम्य। 'प्रधानप्रत्यासत्ति' का अर्थ है—मुख्य क्रिया से निकट होना। साद्यस्क्र सोमयाग है। इसमें मुख्य क्रिया सोमसवन है। ज्योतिष्टोम में भी सोमसवन सुत्याकाल अर्थात् द्वितीय दिन (सवनीय) में होता था; अतएव सवनीय दिन प्रधान प्रत्यासन्न हुआ। साद्यस्क्र में भी सोमसवन सुत्याकाल अर्थात् सवनीय देश में होता है। अतएव साद्यस्क्र में भी सवनीय दिन प्रधानप्रत्यासन्न हुआ।[1] सुत्याकाल में सोमसवन जैसी मुख्य क्रिया के साथ ही पशुत्रय का आलभन होने पर प्रधानक्रिया (सोमसवन) एवं पशुयागों (पशुत्रय का आलभन) में प्रत्यासत्ति (नैकट्य) होगी।[2] ज्योतिष्टोमगत सुत्याकाल में सोमसवन से अव्यवहित उत्तरकाल में सवनीय पशु का आलभन होता था, जिससे प्रधान क्रिया—सोमसवन एवं सवनीय पशुक्रिया में प्रत्यासत्ति होती थी। साद्यस्क्र में भी सुत्याकाल में पशुयाग होने पर प्रधान क्रिया के साथ पशु यागों की प्रत्यासत्ति होगी। अतएव सुत्याकाल अर्थात् सवनीय देश में ही तीनों पशुओं का आलभन होना चाहिये।

पशुयागों के सवनीय देश में अनुष्ठान करने से 'स्थानातिक्रमसाम्य' होता है। स्थानातिक्रमसाम्य का अर्थ है—पशुयागों के 'स्थानों के उल्लङ्घन की समानता'। प्रकृतियाग 'ज्योतिष्टोम' में पशुओं के आलभन का क्रम इस प्रकार था—

	पशु	दिन
अग्नीषोमीय	(१)	(१) अग्नीषोमीय देश अर्थात् औपवसथ्य दिन
सवनीय	(२)	(२) सवनीय देश अर्थात् सुत्याकाल
अनुबन्ध्य	(३)	(३) अनुबन्ध्य देश अर्थात् अवभृथ दिन

अब यदि साद्यस्क्र में सवनीय देश अर्थात् सुत्याकाल में तीनों पशुओं का अनुष्ठान होता है तो—

१. अग्नीषोमीय पशु केवल अपने स्थान—अग्नीषोमीय देश का अतिक्रमण करता है (एक स्थानातिक्रमण)।

---

१. यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिकः सवनीयः प्रधानप्रत्यासन्नस्तथैव तद्विकृतिशेषे साद्यस्क्रेऽपि तात्कालिकः स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भावः। (कौमुदी)

२. प्रधानस्य सोमयागस्य समनन्तरानुष्ठेयत्वेन सन्निहितत्वादित्यर्थः। (सारविवेचिनी)

२. सवनीय पशु का अपने निर्धारित दिन सवनीय देश में अनुष्ठान होने के कारण स्थान का उल्लङ्घन नहीं हुआ (स्थानातिक्रमण नहीं)।

३. अनुबन्ध्य पशु केवल अपने स्थान—अनुबन्ध्य देश का अतिक्रमण करता है (एक स्थानातिक्रमण)।

इस प्रकार दो पशुओं का एक-एक स्थानातिक्रमण हुआ।

यदि अग्नीषोमीय-देश (१) में तीनों पशुओं का अनुष्ठान किया जायेगा तो—

१. अग्नीषोमीय पशु का अपने निर्धारित दिन—अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने के कारण स्थान का उल्लङ्घन नहीं हुआ (स्थानातिक्रमण नहीं)।

२. सवनीय पशु केवल अपने स्थान—सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (एक अतिक्रमण)।

३. अनुबन्ध्य पशु अपने स्थान—अनुबन्ध्य देश एवं सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (दो अतिक्रमण)।

इस प्रकार अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने पर सवनीय का एक अतिक्रमण एवं अनुबन्ध्य के दो अतिक्रमण हुये। अर्थात् यहाँ स्थानातिक्रमवैषम्य है।

यदि अनुबन्ध्य देश (३) में तीनों पशुओं का अनुष्ठान किया जायेगा तो—

१. अग्नीषोमीय पशु अपने स्थान अग्नीषोमीय देश एवं सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (दो अतिक्रमण)।

२. सवनीय पशु केवल अपने स्थान—सवनीय देश का अतिक्रमण करता है (एक अतिक्रमण)।

३. अनुबन्ध्य पशु का उसके अपने निर्धारित दिन—अनुबन्ध्यदेश में अनुष्ठान करने के कारण स्थान का उल्लङ्घन नहीं हुआ (स्थानातिक्रम नहीं)।

इस प्रकार अनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान होने पर अग्नीषोमीय के 'दो अतिक्रमण' हुये एवं सवनीय का 'एक अतिक्रमण' हुआ अर्थात् यहाँ भी स्थानातिक्रमवैषम्य हुआ।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सवनीय देश में पशुओं का अनुष्ठान करने से ही स्थानातिक्रमसाम्य हो सकता है। साम्य प्रमाण होता है, वैषम्य नहीं। अतएव सवनीय देश में ही पशुओं का अनुष्ठान होना चाहिये।

एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः का अर्थ यह है कि जिस प्रकार अग्नीषोमीय देश में अनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान करने पर दो स्थानातिक्रम होते थे 'उसी तरह' (एवम्) अनुबन्ध्य देश में अग्नीषोमीय पशु के अनुष्ठान करने पर 'दो स्थानातिक्रम' होंगे। जहाँ तक सवनीय पशु के अनुष्ठान का प्रश्न है, वह अग्नीषोमीय देश

में अनुष्ठान हो या अनुबन्ध्य देश में, वह अपने स्थानमात्र का अतिक्रमण करेगा (**स्वस्थानातिक्रममात्रम्**)।

अब तक यह निश्चय हो पाया है कि सवनीय देश में तीनों पशुओं का अनुष्ठान होगा; किन्तु पशुओं की सङ्ख्या ३ है, तीनों पशुओं का क्रमशः अनुष्ठान होगा। अतएव यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि तीनों पशुओं में से सर्वप्रथम किस पशु का अनुष्ठान होगा एवं द्वितीय तथा तृतीय स्थान पर किन पशुओं का? इस प्रकार यहाँ पशुओं के अनुष्ठान के क्रम के विषय में जिज्ञासा होती है। यहाँ क्रम का निर्णायक 'स्थान' प्रमाण होता है।

प्रकृति याग—ज्योतिष्टोम में आश्विनग्रहण करने के पश्चात् सवनीय पशु का अनुष्ठान किया जाता है; इसलिये विकृतियाग में भी आश्विनग्रहण करने के पश्चात् सवनीय ही उपस्थित होता है। इसी 'उपस्थिति' को 'स्थान' प्रमाण कहा जाता है। इसीलिये 'स्थान' प्रमाण का लक्षण **स्थानं नामोपस्थितिः** किया गया है।

इस प्रकार सवनीय पशु का अनुष्ठान किया जायेगा, तत्पश्चात् क्रमशः अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य पशु का। अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य के अनुष्ठान का क्रम प्रकृति के क्रम पर आश्रित होगा[1]।

ज्योतिष्टोम में पशुओं के अनुष्ठान में यह क्रम था—अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य; जबकि साद्यस्क्र में स्थान प्रमाण से सवनीय, अग्नीषोमीय एवं अनुबन्ध्य यह क्रम हुआ।

प्रसङ्ग—पञ्चम प्रमाण मुख्यक्रम का विवरण प्रस्तुत है—

५५. मुख्यक्रमलक्षणम्

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत्, तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषाञ्चिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्। तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः।

अतएव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानम्। व्युत्क्रमेणाधारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानम्। तच्चायुक्तमित्युक्तमेव।

---

१. तयोरपि मध्ये कस्य प्रथममनुष्ठानमिति चिन्तायां तत्र प्रकृतिदृष्टक्रमस्य परित्यागे प्रमाणाभावेन प्रथमतोऽग्नीषोमीयस्य, अनन्तरमानुबन्ध्यस्येत्येवं क्रमो बोद्धव्यः। (सारविवेचिनी)

अर्थ—प्रधान क्रियाओं के क्रम के अनुसार जो अङ्गक्रियाओं का क्रम होता है, उसे मुख्यक्रम कहा जाता है। जिस क्रम से प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान होता है, यदि उसी क्रम से उनके अङ्गों का भी अनुष्ठान किया जाय तभी सभी अङ्ग अपनी-अपनी प्रधान क्रियाओं से समान व्यवधान पर स्थित रहते हैं; किन्तु विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपनी प्रधान क्रियाओं से अत्यन्त अव्यवधान हो जाता है और कुछ का अत्यन्त व्यवधान। ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि इससे प्रयोग-विधि जिस साहित्य (अर्थात् सहभाव अथवा तुल्य व्यवधान) का बोध कराती है, उस (साहित्य) में बाधा पड़ती है। अतः प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में कारण माना जाता है। इसीलिए तो प्रयाज के अनुष्ठान से बचे हुये घृत से पहिले आग्नेय हवि का अभिघारण (छिड़काव) होता है और बाद में ऐन्द्र दधि का अभिघारण। यह इसलिए कि आग्नेय और ऐन्द्रयागों में पूर्वापरभाव विद्यमान है। इस प्रकार दोनों अभिघारणों का अपने-अपने प्रधान से तुल्य व्यवधान होता है, किन्तु विपरीत क्रम से अभिघारण होने पर 'आग्नेय हवि के आघार' और 'आग्नेय याग' में अत्यन्त अव्यवधान (अतिसामीप्य) हो जाता है, जबकि 'ऐन्द्रदधि के आघार' और 'ऐन्द्र याग' के बीच दो के अन्तर से व्यवधान होता है और इस प्रकार अत्यन्त अव्यवधान तथा द्व्यन्तरित व्यवधान होना उचित नहीं है, यही बात पहिले भी कही जा चुकी है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**अथ मुख्यक्रमं लक्षयति—प्रधानक्रमेणेति। तेनैव क्रमेणेत्यत्र यदेति शेषस्तदेत्यनुरोधात्। यत्र ह्यनेकेषां साङ्गानां प्रधानानां सहकर्तव्यता तत्र प्रयोगविधिनाङ्गप्रधानयोः साहित्यावगतावपि प्रधानान्तरसाहित्यानुरोधेन यावदनुज्ञातव्यवधानस्वीकारेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात् प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहाय मुख्यक्रमेणैवाङ्गक्रमनियमः। अत एव प्रवृत्तौ अङ्गनिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजं, मुख्यक्रमे तु प्रधाननिरूपितप्रत्यासत्यनुग्रहो बीजमिति तयोर्भेद इति भावः। प्रधानक्रमव्युत्क्रमेणाङ्गानुष्ठाने बाधकमाह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। तत्रापीष्टापत्तिमाशङ्क्य प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तिरूपमनिष्टं बाधकमाह—तच्चायुक्तमिति। केषाञ्चिदङ्गानां तैरत्यन्तमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तव्यवधानं चेति शेषः। अभिघारणमिति। क्षरद्धृतेनाभिषेक इत्यर्थः। एवं चेति मुख्यक्रमेण हविरभिघारणरूपाङ्गक्रमे चेत्यर्थः। एकान्तरितं व्यवधानमिति। आग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरैन्द्रहविरभिघारणेन व्यवधानादैन्द्रहविरभिघारणैन्द्रयागयोश्चाग्नेययागेन व्यवधानादित्येकान्तरितं व्यवधानमित्यर्थः। तथा चादावाग्नेयहविरभिघारणं तत ऐन्द्रस्य हविषोऽभिघारणं, तत आग्नेययागः, ततश्चैन्द्रयाग इत्येव क्रमो मुख्यक्रमात्सिद्धो भवतीति भावः। यदि त्वादावैन्द्रहविषोऽभिघारणं तत आग्नेयहविषस्तत्क्रियाः ततश्च याज्यानुवाक्याक्रमवशादाग्नेययागस्यानुष्ठानं तत ऐन्द्रयागस्यानुष्ठानमिति क्रमः स्वीक्रियते तदा कस्यचिदत्यन्तमव्यवधानं कस्यचिदत्यन्तव्यवधानं च स्यात्, तच्चायुक्तं**

प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तेरित्यभिप्रेत्याह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। उक्तमेवेति। 'तच्चा-वुक्तं प्रयोगे'त्यादौ दूषणमुक्तमेवेत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—मुख्यक्रम के द्वारा अङ्गक्रियाओं के क्रम का निर्णय होता है। 'मुख्यक्रम' का अर्थ है—'मुख्य क्रियाओं का क्रम'। जो क्रम मुख्य क्रियाओं में होता है, वही क्रम तत्तत् मुख्य क्रियाओं के अङ्गों में भी होता है। इस प्रकार मुख्य क्रियाओं एवं उनके अङ्गों में समान व्यवधान ही पड़ेगा, अन्यथा किसी मुख्य क्रिया एवं उसके अङ्गों में बिल्कुल व्यवधान ही नहीं होगा या व्यवधान कम ही पड़ेगा तथा किसी मुख्य क्रिया एवं उसके अङ्ग में व्यवधान बहुत ही अधिक हो पड़ेगा। किन्तु ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि अधिक व्यवधान प्रमाण नहीं है। प्रयोगविधि क्रियाओं के प्राशुभाव का विधान करती है और यह प्राशुभाव अल्पतम व्यवधान से ही सम्पन्न हो सकता है।

उक्त विषय को उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.४.७) में प्रथम **अग्निर्मूर्धादिवः, भुवो यज्ञस्य** इत्यादि आग्नेय याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ मिलता है। पुनः थोड़े व्यवधान के अनन्तर **ऐन्द्र सानसिं रयिं........प्र ससाहिषे.......** इत्यादि ऐन्द्रय याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ मिलता है। यहाँ पाठक्रम से यह निश्चित होता है कि पहिले आग्नेय याग का अनुष्ठान होना चाहिए और उसके बाद में ऐन्द्र याग का (**आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यम्**)।

आग्नेय एवं ऐन्द्रयाग दर्श याग के दो प्रधान याग हैं। दर्शपूर्णमास प्रकरण में ही **प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति** इस विधि के द्वारा प्रयाजानुष्ठान से बचे हुये घी के द्वारा हव्यों के छिड़काव का विधान किया गया है। दर्शयाग में हव्य (हवि) तीन हैं—१. आग्नेय पुरोडाश, २. ऐन्द्र दधि एवं ३. ऐन्द्र पय (पयस्)।

अब प्रश्न यह है कि उक्त तीन में से किस हवि का अभिघारण पहिले होगा और किस हवि का उसके बाद में। इस प्रश्न का उत्तर प्रधानक्रम द्वारा मिलता है। आग्नेय और ऐन्द्र प्रधान याग हैं। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले और ऐन्द्रयाग का तत्पश्चात् होता है। अतएव आग्नेय याग के अङ्ग पुरोडाशाभिघारण का अनुष्ठान पहिले होगा और ऐन्द्रयाग के अङ्ग दध्यभिघारण का अनुष्ठान तत्पश्चात् होगा। इन अभिघारित पुरोडाश एवं दधि से क्रमशः आग्नेय याग एवं ऐन्द्रयाग का अनुष्ठान किया जायेगा। प्रकृत स्थल में अङ्ग एवं प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम इस प्रकार होगा—

१. आग्नेय याग की अङ्ग क्रिया—(आग्नेय हवि-(पुरोडाश)-रभिघारण)।
२. ऐन्द्र याग की अङ्ग क्रिया—(ऐन्द्रदध्यभिघारण)।
३. आग्नेय याग
४. ऐन्द्र याग

अर्थ—प्रधान क्रियाओं के क्रम के अनुसार जो अङ्गक्रियाओं का क्रम होता है, उसे मुख्यक्रम कहा जाता है। जिस क्रम से प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान होता है, यदि उसी क्रम से उनके अङ्गों का भी अनुष्ठान किया जाय तभी सभी अङ्ग अपनी-अपनी प्रधान क्रियाओं से समान व्यवधान पर स्थित रहते हैं; किन्तु विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपनी प्रधान क्रियाओं से अत्यन्त अव्यवधान हो जाता है और कुछ का अत्यन्त व्यवधान। ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि इससे प्रयोग-विधि जिस साहित्य (अर्थात् सहभाव अथवा तुल्य व्यवधान) का बोध कराती है, उस (साहित्य) में बाधा पड़ती है। अतः प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में कारण माना जाता है। इसीलिए तो प्रयाज के अनुष्ठान से बचे हुये घृत से पहिले आग्नेय हवि का अभिघारण (छिड़काव) होता है और बाद में ऐन्द्र दधि का अभिघारण। यह इसलिए कि आग्नेय और ऐन्द्रयागों में पूर्वापरभाव विद्यमान है। इस प्रकार दोनों अभिघारणों का अपने-अपने प्रधान से तुल्य व्यवधान होता है, किन्तु विपरीत क्रम से अभिघारण होने पर 'आग्नेय हवि के आधार' और 'आग्नेय याग' में अत्यन्त अव्यवधान (अतिसामीप्य) हो जाता है, जबकि 'ऐन्द्रदधि के आधार' और 'ऐन्द्र याग' के बीच दो के अन्तर से व्यवधान होता है और इस प्रकार अत्यन्त अव्यवधान तथा द्व्यन्तरित व्यवधान होना उचित नहीं है, यही बात पहिले भी कही जा चुकी है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—अथ मुख्यक्रमं लक्षयति—प्रधानक्रमेणेति। तेनैव क्रमेणेत्यत्र यदेति शेषस्तदेत्यनुरोधात्। यत्र ह्यनेकेषां साङ्गानां प्रधानानां सहकर्तव्यता तत्र प्रयोगविधिनाङ्गप्रधानयोः साहित्यावगतावपि प्रधानान्तरसाहित्यानुरोधेन यावदनुज्ञातव्यवधानस्वीकारेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात् प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहाय मुख्यक्रमेणैवाङ्गक्रमनियमः। अत एव प्रवृत्तौ अङ्गनिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजं, मुख्यक्रमे तु प्रधाननिरूपितप्रत्यासत्यनुग्रहो बीजमिति तयोर्भेद इति भावः। प्रधानक्रमव्युत्क्रमेणाङ्गानुष्ठाने बाधकमाह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। तत्रापीष्टापत्तिमाशङ्क्य प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तिरूपमनिष्टं बाधकमाह—तच्चायुक्तमिति। केषाञ्चिदङ्गानां तैरत्यन्तमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तव्यवधानं चेति शेषः। अभिघारणमिति। क्षरद्घृतेनाभिषेक इत्यर्थः। एवं चेति। मुख्यक्रमेण हविरभिघारणरूपाङ्गक्रमे चेत्यर्थः। एकान्तरितं व्यवधानमिति। आग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरैन्द्रहविरभिघारणेन व्यवधानादैन्द्रहविरभिघारणैन्द्रयागयोश्चाग्नेययागेन व्यवधानादित्येकान्तरितं व्यवधानमित्यर्थः। तथा चादावाग्नेयहविरभिघारणं, तत ऐन्द्रस्य हविषोऽभिघारणं, तत आग्नेययागः, ततश्चैन्द्रयाग इत्येव क्रमो मुख्यक्रमात्सिद्धो भवतीति भावः। यदि त्वादावैन्द्रहविषोऽभिघारणं तत आग्नेयहविषस्तत्क्रियते ततश्च याज्यानुवाक्याक्रमवशादाग्नेययागस्यानुष्ठानं तत ऐन्द्रयागस्यानुष्ठानमिति क्रमः स्वीक्रियते तदा कस्यचिदत्यन्तमव्यवधानं कस्यचिदत्यन्तव्यवधानं च स्यात्, तच्चायुक्तं,

प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तेरित्यभिप्रेत्याह—व्युत्क्रमेणेत्यादिना। उक्तमेवेति। 'तच्चायुक्तं प्रयोगे'त्यादौ दूषणमुक्तमेवेत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—मुख्यक्रम के द्वारा अङ्गक्रियाओं के क्रम का निर्णय होता है। 'मुख्यक्रम' का अर्थ है—'मुख्य क्रियाओं का क्रम'। जो क्रम मुख्य क्रियाओं में होता है, वही क्रम तत्तत् मुख्य क्रियाओं के अङ्गों में भी होता है। इस प्रकार मुख्य क्रियाओं एवं उनके अङ्गों में समान व्यवधान ही पड़ेगा, अन्यथा किसी मुख्य क्रिया एवं उसके अङ्गों में बिल्कुल व्यवधान ही नहीं होगा या व्यवधान कम ही पड़ेगा तथा किसी मुख्य क्रिया एवं उसके अङ्ग में व्यवधान बहुत ही अधिक हो पड़ेगा। किन्तु ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि अधिक व्यवधान प्रमाण नहीं है। प्रयोगविधि क्रियाओं के प्राशुभाव का विधान करती है और यह प्राशुभाव अल्पतम व्यवधान से ही सम्पन्न हो सकता है।

उक्त विषय को उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.४.७) में प्रथम **अग्निर्मूर्धादिवः, भुवो यज्ञस्य** इत्यादि आग्नेय याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ मिलता है। पुनः थोड़े व्यवधान के अनन्तर **ऐन्द्र सानसिं रयिं........प्रससाहिषे.......** इत्यादि ऐन्द्र्य याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ मिलता है। यहाँ पाठक्रम से यह निश्चित होता है कि पहिले आग्नेय याग का अनुष्ठान होना चाहिए और उसके बाद में ऐन्द्र याग का (**आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यम्**)।

आग्नेय एवं ऐन्द्रयाग दर्श याग के दो प्रधान याग हैं। दर्शपूर्णमास प्रकरण में ही **प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति** इस विधि के द्वारा प्रयाजानुष्ठान से बचे हुये घी के द्वारा हव्यों के छिड़काव का विधान किया गया है। दर्शयाग में हव्य (हवि) तीन हैं—१. आग्नेय पुरोडाश, २. ऐन्द्र दधि एवं ३. ऐन्द्र पय (पयस्)।

अब प्रश्न यह है कि उक्त तीन में से किस हवि का अभिघारण पहिले होगा और किस हवि का उसके बाद में। इस प्रश्न का उत्तर प्रधानक्रम द्वारा मिलता है। आग्नेय और ऐन्द्र प्रधान याग हैं। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले और ऐन्द्रयाग का तत्पश्चात् होता है। अतएव आग्नेय याग के अङ्ग पुरोडाशाभिघारण का अनुष्ठान पहिले होगा और ऐन्द्रयाग के अङ्ग दध्यभिघारण का अनुष्ठान तत्पश्चात् होगा। इन अभिघारित पुरोडाश एवं दधि से क्रमशः आग्नेय याग एवं ऐन्द्रयाग का अनुष्ठान किया जायेगा। प्रकृत स्थल में अङ्ग एवं प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम इस प्रकार होगा—

१. आग्नेय याग की अङ्ग क्रिया—(आग्नेय हवि-(पुरोडाश)-रभिघारण)।

२. ऐन्द्र याग की अङ्ग क्रिया—(ऐन्द्रदध्यभिघारण)।

३. आग्नेय याग

४. ऐन्द्र याग

यहाँ हम देखते हैं कि 'आग्नेय याग की अङ्ग क्रिया' और 'आग्नेय याग' में एक—'ऐन्द्र याग की अङ्गक्रिया'—का अन्तर है और 'ऐन्द्र याग की अङ्गक्रिया' और 'ऐन्द्रयाग' में एक—'आग्नेय याग' का अन्तर है अर्थात् अङ्गभूत अभिघारणों का अपने-अपने प्रधान से समान व्यवधान है (**एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानम्**)।

यदि अङ्गों का अनुष्ठान प्रधानक्रम से न करके क्रम में उलटफेर (व्यतिक्रम) कर दिया जायेगा तो अङ्ग एवं प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान का क्रम इस प्रकार होगा—

१. ऐन्द्रयाग की अङ्गक्रिया—(**ऐन्द्रदध्यभिघारण**)।

२. आग्नेय याग की अङ्गक्रिया—(**आग्नेयहवि-(पुरोडाश)-रभिघारण**)।

३. आग्नेय याग

४. ऐन्द्रयाग

यहाँ आग्नेय याग की अङ्गक्रिया और आग्नेय याग में बिल्कुल व्यवधान नहीं (अत्यन्तमव्यवधानम्) है; किन्तु ऐन्द्रयाग की अङ्गक्रिया और ऐन्द्रयाग में दो—१. आग्नेय याग की अङ्गक्रिया एवं २. आग्नेय याग—का अन्तर है। किन्तु इस प्रकार विषम व्यवधान होना समीचीन नहीं (**व्युत्क्रमेणाघारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानम् तच्चायुक्तम्**)। इसीलिए अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान में प्रधान क्रियाओं का क्रम ही ग्रहण किया जाता है। प्रधानक्रम से अङ्ग क्रियाओं का अनुष्ठान करने से सभी अङ्गों का अपनी-अपनी प्रधान क्रियाओं से समान व्यवधान रहता है। इसीलिए प्रधानक्रम स्वीकार किया जाता है; किन्तु प्रधानक्रम से विपरीतक्रम स्वीकार करने पर, जैसा कि दिखलाया जा चुका है, अङ्गों एवं तत्सम्बन्धी प्रधान क्रियाओं के बीच व्यवधान समान नहीं होते। अतएव विपरीत क्रम मान्य नहीं है।

प्रसङ्ग—मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल एवं प्रवृत्तिक्रम से बलवान होता है, इस विषय का विवेचन किया जा रहा है—

५६. मुख्यक्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः

स च मुख्यक्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु सन्निकर्षात्।

अर्थ—मुख्यक्रम पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल होता है। मुख्यक्रम को पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल मानने का कारण यह है कि मुख्यक्रम का आधार प्रधान क्रियाओं के क्रम का ज्ञान है और प्रधान क्रियाओं के क्रम के ज्ञान का आधार अन्य प्रमाण (पाठक्रम) है

इस प्रकार मुख्य क्रम से क्रमबोध विलम्ब से होता है, किन्तु पाठक्रम से क्रमनिर्णय अविलम्ब होता है। कारण, यहाँ क्रमबोध का आधार केवल वेदपठित वाक्यों का क्रम है, इसीलिये इस स्थल में क्रमनिर्णय शीघ्र हो जाता है; अतः पाठक्रम मुख्यक्रम से बलवान माना जाता है।

मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान होता है, क्योंकि प्रवृत्तिक्रम-स्थल में बहुत से अङ्ग अपने प्रधान से दूर हो जाते हैं, जबकि मुख्यक्रमस्थल में समीप।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**इदानीं पाठक्रमान्मुख्यक्रमस्य दौर्बल्यमाह—स चेति। तत्र हेतुमाह—मुख्यक्रमो हीति। यतो मुख्यक्रमः प्रमाणान्तरसापेक्षा या प्रधानक्रमस्य प्रतिपत्तिस्तत्सापेक्षत्वेन विलम्बितप्रतिपत्तिकोऽतः पाठक्रमाद्दुर्बल एवेत्यर्थः। किञ्च निरपेक्षो यः स्वाध्यायपाठक्रमस्तन्मात्रसापेक्षत्वेन यतो न दुर्बलः पाठक्रमोऽतो बलवानिति पाठक्रमस्य ततो वैषम्यमाह—पाठक्रमस्त्विति। अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरुपांशुयाजोऽग्नीषोमीयश्चेत्येतदुभयं पौर्णमास्यामाम्नातम्। अत्रोपांशुयाजस्याज्यं द्रव्यम्, आज्यस्य धर्मा उत्पवनचतुर्गृहीतत्वादयः, अग्नीषोमीयस्य पुराडाशो द्रव्यं, तस्य धर्मा निर्वापावघातादयः, तत्र चायं पूर्वपक्षः—मुख्यौ यागावुपांशुयाजाग्नीषोमीयौ पूर्वोत्तरभाविनौ भवतः, तथा च सति अङ्गक्रमस्य प्रधानक्रमेणैवाश्रयणीयत्वात्प्रथमाज्यधर्माणामेवानुष्ठानं न निर्वापादीनामिति। तत्र सिद्धान्तः—औषधधर्मा निर्वापादयः पूर्वमाम्नाताः। आज्यधर्मास्तु पश्चात्। तत्र मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणां प्राथम्यं बाधित्वा पाठक्रमानुरोधेनौषधधर्मा एव प्रथमतोऽनुष्ठेयाः, पाठक्रमो हि वैदिकैः शब्दैः सहसा प्रतीयते, मुख्यक्रमानुसारी तु क्रम उपपत्त्या कल्पनीयः। तस्मादग्नीषोमीयपुरोडाशार्था औषधधर्माः प्रथममनुष्ठेया आज्यधर्मास्तु पश्चादिति।**

प्रवृत्तिक्रमापेक्षया तु मुख्यक्रमस्य प्राबल्यमेवेत्याह—प्रवृत्तीति। तत्र हेतुमाह—प्रवृत्तिक्रमे हीति। अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरादावाग्नेययागस्यानुष्ठानं, ततः सान्नाय्ययागस्य, सान्नाय्यधर्माश्च केचिद्वत्सापाकरणदोहनादयः पूर्वमेवानुष्ठीयन्ते, तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्य सान्नाय्यधर्मा अवदानाभिघारणहविरासादनादयोऽपि सर्वे पूर्वमेवानुष्ठीयेरन् तत आग्नेयधर्मा अवदानादयस्तदनुष्ठानं च, ततः सान्नाय्ययागानुष्ठानं तदा सान्नाय्यधर्माणां सर्वेषां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्यामाग्नेयधर्मतदनुष्ठानाभ्यां विप्रकर्षः स्यात्। यदा तु सान्नाय्यधर्माणां केषाञ्चिद्वत्सापाकरणादीनां पूर्वमनुष्ठानेऽप्यन्ये सर्वेऽवदानादयस्तद्धर्मा मुख्यक्रममाश्रित्याग्नेयधर्मानुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसान्नाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति। आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सान्नाय्यधर्मैर्व्यवधानात् सान्नाय्यधर्माणां च स्वप्रधानेन सहाग्नेयानुष्ठानेन व्यवधानादिति न विप्रकर्षः। तस्मान्मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्बलवानिति।

अर्थबोधिनी—मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है। कारण, मुख्यक्रम प्रधान क्रियाओं के अनुष्ठान-क्रम पर आधारित होता है और प्रधानक्रियाओं का अनुष्ठानक्रम पाठक्रम पर आधारित होता है। इस प्रकार मुख्यक्रम प्रधानक्रम के ज्ञान (प्रतिपत्ति) की अपेक्षा रखता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने मुख्यक्रम को **प्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्ष** कहा है। प्रधानक्रम भी एक-दूसरे प्रमाण—पाठक्रम की अपेक्षा रखता है। इसीलिये प्रधानक्रम को **प्रमाणान्तरसापेक्ष** कहा गया है। मुख्यक्रम तो प्रमाणान्तरसापेक्ष जो प्रधानक्रम, उस प्रधानक्रम के ज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण विलम्ब से ज्ञान कराता है (**मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बप्रतिपत्तिकः**)। अतएव (विलम्बप्रतिपत्तिक होने के कारण) मुख्यक्रम दुर्बल है। पाठक्रम निरपेक्षभूत 'वेद के पाठक्रम' की ही अपेक्षा रखता है, अतएव प्राशुप्रतिपत्तिक—शीघ्रप्रतिपत्तिक है, इसलिये मुख्यक्रम से बलवान है।

मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल है, इसका उदाहरण इस प्रकार है—दर्शपूर्णमास के पूर्णमास याग के अन्तर्गत दो याग हैं—१. उपांशुयाग एवं २. अग्नीषोमीय याग। उपांशु याग का द्रव्य आज्य है। आज्य के धर्म (क्रियायें) 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गृहीतत्व' आदि हैं। अग्नीषोमीय याग का द्रव्य पुरोडाश है। पुरोडाश के धर्म (क्रियायें) 'निर्वाप' एवं 'अवघात' आदि हैं। प्रकृत विषय को सरलता से निम्न तालिका द्वारा समझा जा सकता है—

	याग	साधन-द्रव्य	द्रव्य की अङ्ग-क्रियायें
१.	उपांशु	आज्य	उत्पवन, चतुर्गृहीतत्व आदि
२.	अग्नीषोमीय	पुरोडाश	निर्वाप, अवघात आदि

यहाँ पहिले दो बातें समझ लेनी आवश्यक हैं—१. उपांशु याग का अनुष्ठान पहिले एवं अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान बाद में होता है अर्थात् उपांशुयाग, अग्नीषोमीय याग—यह अनुष्ठानक्रम है। २. वेद में पुरोडाश की निर्वाप एवं अवखात आदि अङ्ग-क्रियाओं (**औषधधर्माः**) का पाठ पहिले है और आज्य की उत्पवन एवं चतुर्गृहीतत्व आदि अङ्ग क्रियाओं (**आज्यधर्माः**) का पाठ बाद में है।

अब प्रश्न यह है कि क्या अनुष्ठानक्रम पर आधारित मुख्यक्रम को प्रमाण मानकर उपांशुयाग की अङ्गक्रियाओं 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गृहीतत्व' आदि (आज्यधर्मों) का अनुष्ठान पहिले किया जाय और अग्नीषोमीय याग की अङ्ग-क्रियाओं—निर्वाप एवं अवघात आदि (औषधिधर्मों) का अनुष्ठान बाद में किया जाय अथवा पाठक्रम से औषधिधर्मों का अनुष्ठान पहिले और आज्यधर्मों का अनुष्ठान बाद में।

सिद्धान्त विकल्पगत द्वितीय मत को प्रमाण मानता है। इसके अनुसार पाठक्रम मुख्यक्रम से प्रबल है। कारण, वैदिक शब्दों से पाठक्रम का बोध शीघ्र हो जाता है; किन्तु मुख्यक्रम से होने वाले क्रम का ज्ञान विलम्ब से होता है; क्योंकि यहाँ युक्तियों के द्वारा क्रम

की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिये पाठक्रम के अनुसार औषधिधर्मों का अनुष्ठान पहिले एवं आज्यधर्मों का अनुष्ठान बाद में होता है।[१]

मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान होता है। मुख्यक्रम के प्रवृत्तिक्रम से बलवान होने का उदाहरण इस प्रकार है—दर्शपूर्णमास में आग्नेय याग और सान्नाय्य याग—ये दो याग हैं। आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले किया जाता है और सान्नाय्य याग का बाद में। आग्नेय याग की अङ्गक्रिया 'अवदान' (हवि आदि को काटना), 'अभिघारण' (घृत से छिड़कना) एव 'हविरासादन' (हवि को निकट लाना) आदि हैं। सान्नाय्य याग की अङ्गक्रियायें दो प्रकार की हैं—१. जिनका अनुष्ठान पूर्णिमा के एक दिन पहिले होना आवश्यक है; जैसे—शाखाच्छेदन[२] (शाखा को काटना), वत्सापाकरण (बछड़े को अलग करना), दोहन (गाय को दुहना) आदि। ये क्रियायें पूर्णिमा से एक दिन पूर्व अनुष्ठित न की जाकर पूर्णिमा के दिन ही अनुष्ठित की जाय तो उसी दिन दूध से दही नहीं बन सकेगा और सान्नाय्य याग का अनुष्ठान नहीं हो सकेगा। अतएव अर्थक्रम से उक्त क्रियाओं का अनुष्ठान पूर्व—एक दिन पहिले—ही होगा। २. दूसरे प्रकार की क्रियाओं में अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि हैं।

इतना तो निश्चित है कि आग्नेय याग का अनुष्ठान पहिले होता है और सान्नाय्य याग का उसके बाद। अब प्रश्न यह है कि उक्त यागों के पूर्व उनकी अङ्ग-क्रियाओं के अनुष्ठान का जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, सान्नाय्य याग की कुछ अङ्गक्रियाओं—शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण एवं दोहन आदि—का अनुष्ठान सर्वप्रथम होगा। अब सान्नाय्य याग की अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि एवं आग्नेय याग के अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन क्रियाओं के अनुष्ठान के क्रम का प्रश्न है। प्रवृत्तक्रम को प्रमाण मानने पर सान्नाय्य याग की कुछ अनुष्ठित क्रियाओं के बाद अवशिष्ट अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाना चाहिये था अर्थात् सान्नाय्य की सभी अङ्ग-क्रियायें साथ ही अनुष्ठित की जानी चाहिये। उसके बाद आग्नेय याग की अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान किया जाना चाहिये।

१. अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरुपांशुयाजोऽग्नीषोमीयश्चेत्येतदुभयं पौर्णमास्यामाम्नातं तत्रोपांशुयाजस्याज्यं द्रव्यं आज्यस्य धर्मा उत्पवनं चतुर्गृहीतत्वादय, अग्नीषोमीयस्य पुराडाशो द्रव्यं तस्य धर्मा निर्वापावघातादयः यत्र चायं पूर्वपक्षः मुख्यौ यागावुपांशुयाजाग्नीषोमीयौ पूर्वोत्तरभाविनौ भवतः। तथा च सति अङ्गक्रमस्य प्रधानक्रमेणैवाश्रयणीयत्वात्प्रथममाज्यधर्माणामेवानुष्ठानं निर्वापादीनामिति। तत्र सिद्धान्तः औषधधर्माः निर्वापादयः पूर्वमाम्नाताः। आज्यधर्मास्तु पश्चात् तत्र मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणां प्राथम्यं बाधित्वा पाठक्रमानुरोधेनौषधधर्मा एव प्रथमतोऽनुष्ठेयाः पाठक्रमो हि वैदिकैः शब्दैः सहसा प्रतीयते मुख्यक्रमानुसारी तु क्रम उपपत्त्या कल्पनीयः तस्मादग्नीषोमीयपुरोडाशार्था औषधधर्माः प्रथममनुष्ठेया आज्यधर्मास्तु पश्चादिति।
(सारविवेचिनी)

२. शाखाच्छेदनवत्सापाकरणादय इत्यर्थः।

इसके बाद आग्नेय याग एवं तत्पश्चात् सान्नाय्य याग का अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् प्रवृत्तक्रम को प्रमाण मानने पर अङ्ग एवं प्रधान क्रियाओं का क्रम इस प्रकार होगा—

१. (क) शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण एवं दोहन आदि (सान्नाय्य की अङ्गक्रियायें)।
(ख) अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि (सान्नाय्य की अङ्गक्रियायें)।
२. अवदान, अभिघारण एवं हविरासादन आदि (आग्नेययाग की अङ्गक्रियायें)।
३. आग्नेय याग।
४. सान्नाय्य याग।

यहाँ हम देखते हैं कि सान्नाय्य की अङ्ग-क्रियाओं के अनुष्ठान (सङ्ख्या-१) एवं सान्नाय्य याग (सङ्ख्या-४) के बीच में आग्नेय याग की अङ्ग-क्रियाओं (सङ्ख्या-२) एवं आग्नेय याग (सङ्ख्या-३)—इन दो का व्यवधान पड़ता है; किन्तु आग्नेय याग की अङ्ग-क्रियाओं (सङ्ख्या-२) एवं आग्नेय याग (सङ्ख्या-३) में बिल्कुल व्यवधान नहीं है। इस प्रकार प्रवृत्तिक्रम को प्रमाण मान कर अनुष्ठान करने पर यहाँ व्यवधान तुल्य नहीं होता। मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर यह दोष नहीं होता।

मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर आग्नेय याग की अवदान आदि अङ्ग-क्रियाओं का अनुष्ठान पूर्व होगा और सान्नाय्य याग की अवदान आदि अङ्ग-क्रियाओं का अनुष्ठान उसके पश्चात्। अन्य क्रियाओं के अनुष्ठान समान होंगे। मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर अनुष्ठान की स्थिति इस प्रकार की होगी—

१. शाखाच्छेदन, वत्सापाकरण, दोहन आदि (सान्नाय्य याग की अङ्गक्रियायें)।
२. अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि (आग्नेययाग की अङ्गक्रियायें)।
३. अवदान, अभिघारण, हविरासादन आदि (सान्नाय्य याग की अङ्गक्रियायें)।
४. आग्नेय याग।
५. सान्नाय्य याग।

यहाँ हम देखते हैं कि आग्नेय याग की अङ्गक्रियाओं (सङ्ख्या-२) एवं आग्नेय याग (सङ्ख्या-४) के बीच में केवल एक—सान्नाय्य याग की अङ्गक्रियाओं (सङ्ख्या-३) का व्यवधान है और सान्नाय्य याग की अङ्गक्रियाओं (सङ्ख्या-३) और सान्नाय्य याग (सङ्ख्या-५) के बीच में केवल एक—आग्नेय याग (सङ्ख्या-४) का व्यवधान है। इस प्रकार दोनों यागों के अङ्गों की अपने-अपने प्रधान यागों से बराबर दूरी है। शाखाच्छेदन आदि अङ्गक्रियाओं (सङ्ख्या-१) का प्रयोजनवशात् प्रत्येक स्थिति में सर्वप्रथम अनुष्ठान किया जायेगा।[1] यही कारण है कि मुख्यक्रम प्रधानक्रम से बलवान होता है।

---

१. अत्रेदं बोध्यम्—दर्शपूर्णमासयोरादावाग्नेययागस्यानुष्ठानं ततः सान्नाय्ययागस्य सान्नाय्यधर्मांश्च केचिद्वत्सापाकरणदोहनादयः पूर्वमेवानुष्ठीयन्ते तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्यं सान्नाय्यधर्मा अव-

प्रसङ्ग—अब प्रवृत्तिक्रम का लक्षण अवसर-प्राप्त है—

५७. प्रवृत्तिक्रमलक्षणम्

सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद् यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इति वाक्येन तृतीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः। अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं सम्पाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात् सम्पाद्यम्। तच्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित् पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्तिक्रमः।

सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

अर्थ—यदि प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान साथ-साथ करना हो और 'सन्निपत्योपकारक'-संज्ञक अङ्गभूत क्रियाओं का आवृत्ति से अनुष्ठान करना हो तो प्रथम अनुष्ठित क्रिया के क्रम से द्वितीय आदि क्रियाओं का जो क्रम गृहीत होता है, उसे प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। उदाहरण के लिये 'प्राजापत्य'-संज्ञक पशुयागों की अङ्गक्रियाओं के क्रम का निश्चय प्रवृत्तिक्रम द्वारा ही होता है। वह इस प्रकार है—**वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति** एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है—वैश्वदेवी नामक क्रिया का अनुष्ठान करने के पश्चात् प्राजापत्य पशुओं की क्रियाओं का अनुष्ठान करे। यहाँ 'प्राजापत्यैः' इस तृतीयान्त पद से यह ज्ञात होता है कि 'प्राजापत्य' पशुयागों का अनुष्ठान एक काल में ही होना चाहिये, अतएव प्राजापत्य पशुयाग एवं उनकी अङ्गभूत उपाकरण[1], नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान साथ-साथ होना चाहिये। अनुष्ठान का साथ-साथ होना (अनुष्ठानसाहित्य) तभी सम्भव है जब समानदेवताक पशुक्रियाओं का अनुष्ठान एक

दानाभिघारणहविरासादनादयोऽपि सर्वे पूर्वमेवानुष्ठीयेरन् तत आग्नेयधर्मा अवदानादयस्तदनुष्ठानं च ततः सान्नाय्ययागानुष्ठानं तदा सान्नाय्यधर्माणां सर्वेषां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्यामाग्नेयधर्मतदनुष्ठाभ्यां विप्रकर्षः स्यात् तदा तु सान्नाय्यधर्माणां केषाञ्चिद्वत्सापाकरणादीनां पूर्वमनुष्ठानेऽप्यन्ये सर्वेऽवदानादयस्तद्धर्मा मुख्यक्रममाश्रित्याग्नेयधर्मानुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसान्नाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सान्नाय्यधर्मैर्व्यवधानात्सान्नाय्यधर्माणां स्वप्रधानेन सहाग्नेयानुष्ठानेन व्यवधानादिति न विप्रकर्षः तस्मान्मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवानिति। (कौमुदी)

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-४४ की 'अर्थबोधिनी'।

ही काल में हो। प्राजापत्य पशुक्रियाओं की उपाकरण, नियोजन आदि अङ्गक्रियाओं का युगपद् अनुष्ठान सम्भव नहीं है; अतएव अव्यवहितरूपेण एक के बाद दूसरी अङ्गक्रिया के अनुष्ठान के द्वारा साहित्य का सम्पादन करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार नियोजन आदि अङ्गक्रियाओं के विषय में भी समझना चाहिये। स्पष्ट अर्थ यह है कि किसी पशु में एक क्रिया के अनुष्ठान को प्रारम्भ करके सभी पशुओं में उस क्रिया का अनुष्ठान करे और दूसरी, तीसरी इसी प्रकार सभी अनुष्ठेय क्रियायें भी उसी प्रकार क्रमशः सभी पशुओं में अनुष्ठित करे। इसी को प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। प्रवृत्तिक्रम श्रुति आदि प्रमाणों से दुर्बल होता है। इस प्रकार छः तरह के क्रमों के निरूपण के साथ प्रयोगविधि का संक्षेप में विवेचन किया गया।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं प्रवृत्तिक्रमं लक्षयति—सहप्रयुज्येत्यादिना। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। प्राजापत्या हि सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिता इत्यन्वयः। अत इति। तेषामेककालत्वेन विहितत्वादित्यर्थः। तेषामिति। प्राजापत्यानामित्यर्थः। उपकरणेत्याद्युक्तार्थ एव बोध्यः। तच्चेति। साहित्यं चेत्यर्थः। सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेनेत्यत्र 'सम्प्रतिपन्नदेवताकालत्वेने'ति पाठः। तत्कालस्तु वैश्वदेव्यनुष्ठानान्तरकालो देवता च प्रजापतिरेव। तदङ्गानामिति। प्राजापत्याङ्गानामित्यर्थः। अशक्यमिति। अनेकेषां पशूनामुपाकरणं नियोजनं चैकस्मिन्काल एकेन कर्त्रा कर्तुमशक्यमित्यर्थः। अत इति। उपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानानुपपत्तेरित्यर्थः। तेषामिति। उपाकरणादीनामित्यर्थः।

तच्चेति। अव्यवधानेन साहित्यं चेत्यर्थः। एवमेकस्य पशोर्नियोजनं विधायापरस्य पशोर्नियोजनं विधेयमित्यतिदिशति—एवमिति। प्राजापत्येष्वेकस्य पदार्थस्य सर्वत्रानुष्ठेयत्वे यं पशुमारभ्यैकः पदार्थोऽनुष्ठितस्तमेव पशुमारभ्य द्वितीयादिः पदार्थोऽनुष्ठेय इत्याह—तथा चेत्यादिना। सोऽयमिति। प्रवृत्तिक्रम इत्यर्थः। आदिशब्देनार्थक्रमादयो गृह्यन्ते। अत्रेदं बोध्यम्—सप्तदश प्राजापत्या भवन्ति, सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेतेति तद्विधौ तथैव श्रवणात्। तथा च प्राजापत्येषु तेषु यं कञ्चित्पशुनारभ्योपाकरणं सप्तदशसु पशुषु कृत्वा तमेव पशुमारभ्य नियोजनं कर्तव्यम्। एवं च तत्तत्पशूपाकरणानां तत्तत्पशुनियोजनैस्तुल्यं षोडशक्षणैर्व्यवधानं भवति। तथा सति 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभेते'त्युत्पत्तिवाक्ये वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्तीति प्रयोगवाक्ये च श्रुतं साङ्गानां सप्तदशपशुयागानां साहित्यमुपपद्यते। अन्यथा तेष्वेकैकस्मिन्नुपाकरणनियोजनादिसर्वसंस्काराणां समापने प्रत्यक्षवचनावगतपशुसाहित्यं बाधितं भवेदिति। एवं निरूपितं षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिमुपसंहरति—तदेवमिति।

अर्थबोधिनी—कभी-कभी प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान एक साथ होता है। उदाहरण के लिये वाजपेय याग के प्रजापति देवता को सत्रह पशुओं की वसा का प्रदान एक साथ

ही किया जाता है। प्रधान क्रियाओं के साथ-साथ अनुष्ठान होने वाले स्थल में जब प्रधान क्रियाओं की अङ्गभूत सन्निपत्योपकारक क्रियाओं का आवृत्ति के साथ-साथ अनुष्ठान करना होता है तब यदि प्रथम अनुष्ठित क्रिया के क्रम से द्वितीय आदि क्रिया के क्रम का निश्चय हो तो उसे प्रवृत्तिक्रम कहते हैं (**सह प्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः**)।

वाजपेय याग में प्राजापत्य यागों का विधान है। प्रजापति देवता के लिये सत्रह पशुओं का आलभन किया जाता है (**सप्तदश पशून् आलभेत**)। प्राजापत्य मुख्य याग हैं। पशुओं की उपाकरण, नियोजन आदि क्रियायें सन्निपत्योपकारक हैं। प्राजापत्य मुख्य याग एवं सन्निपत्योपकारकरूप क्रियाओं का अनुष्ठान एक ही साथ होना चाहिये। यह बात 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस विधि से ज्ञात होती है। यहाँ 'वैश्वदेवी' नामक क्रिया के पश्चात् सभी प्राजापत्य पशुओं की क्रियाओं का विधान किया जाता है, अतएव इनके अनुष्ठान का एक ही काल प्रतीत होता है। उपाकरण, नियोजन आदि क्रियायें एक ही काल में अनुष्ठित नहीं हो सकतीं। सत्रह पशु हैं एवं अनेक क्रियायें हैं। सभी क्रियाओं का अनुष्ठान प्रत्येक पशु में करना है। अतएव यहाँ 'साहित्य' शब्द का अभिप्राय 'एक काल में अनुष्ठान' न होकर 'अव्यवहित-रूप से अनुष्ठान' होगा।

प्रवृत्तिक्रम के द्वारा 'अव्यवहितरूपेण अनुष्ठान' इस प्रकार होगा—पहिले किसी एक पशु का उपाकरण करे (प्रथमानुष्ठित पदार्थ)। फिर किसी दूसरे का उपाकरण करे। इसी प्रकार सभी सत्रह पशुओं का उपाकरण करे (**प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमात्**)। सभी पशुओं का 'उपाकरण' हो चुकने पर पशुओं का नियोजन करना होगा। 'नियोजन' सर्वप्रथम उसी पशु का किया जायेगा, जिसका सर्वप्रथम उपाकरण किया गया था। उसके बाद उस पशु का नियोजन किया जायेगा, जिसका उपाकरण दूसरे स्थान पर किया गया था। इसी प्रकार यथासङ्ख्य सभी पशुओं का नियोजन किया जायेगा।

इस प्रकार सङ्ख्या के अनुसार क्रमशः पशुओं की उपाकरण, नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर सभी पशुओं की भिन्न-भिन्न क्रियाओं में समान व्यवधान रहेगा। इसके विपरीत पशुओं में किसी क्रम से नियोजन आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर परस्पर असमान व्यवधान होगा। असमान व्यवधान प्रयोगविधि की दृष्टि में अनुचित है। इस प्रकार प्रवृत्तिक्रम के विवेचन के साथ ही प्रयोगविधि का विवेचन समाप्त होता है।

प्रसङ्ग—अब अधिकारविधि का निरूपण किया जा रहा है—

५८. अधिकारविधिलक्षणम्

कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधतानेन

स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिना शुचिविहितकालजीविनः सन्ध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।

अर्थ—अधिकारविधि के द्वारा यह ज्ञात होता है कि याग आदि कर्म के फल का स्वामी (अधिकारी) कौन व्यक्ति होता है। **कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधकः** इस लक्षणगत पद के अन्दर **कर्मजन्यफलस्वाम्य** शब्द का अर्थ **कर्मजन्यफलभोक्तृता** है। अभिप्राय यह है कि स्वाम्य शब्द का अर्थ 'भोक्ता होना' है। **यजेत स्वर्गकामः** यह वाक्य अधिकारविधि का एक उदाहरण है। इस विधि के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वर्गेच्छु व्यक्ति ही यागानुष्ठान से उत्पन्न स्वर्गोपभोग-रूप फल का भोक्ता हो सकता है। इसी प्रकार **यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्** भी एक अधिकारविधि है। इसका अर्थ इस प्रकार है—'अग्न्याधान किये हुये जिस पुरुष का घर अग्नि से जल गया हो, वह पुरुष शान्त हुई अग्नि के लिये आठ कपालों में बने हुये पुरोडाश का निर्वाप करे। इस विधिवाक्य से यह बोध होता है कि उक्त प्रकार से पुरोडाशनिर्वाप से उत्पन्न होने वाला पापक्षय-रूप फल उसी पुरुष को मिल सकता है, जो अग्न्याधान कर चुका हो और साथ ही जिसका घर भी जल चुका हो। इसी प्रकार **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** अर्थात् 'प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे' भी अधिकारविधि का एक उदाहरण है। सन्ध्योपासन का फल 'कर्तव्याननुष्ठान-रूप दोष का विनाश' (**प्रत्यवायपरिहार**) माना जाता है। उक्त जल का अधिकारी वही द्विज हो सकता है, जो पवित्रतापूर्वक जीवन-यापन करे।

इदानीं क्रमप्राप्तमधिकारविधिं निरूपयति—कर्मजन्येति। **कर्मजन्यफलस्वाम्यपदं व्याचष्टे**—कर्मजन्यफलस्वाम्यमिति। स चेति। **अधिकारविधिश्चेत्यर्थः**। अनेनेति। 'यजेत स्वर्गकाम' **इत्यादिवाक्येनेत्यर्थः**। **तत्रोदाहरणान्तरमाह**—यस्येति। क्षामवत इति। **क्षामवत्त्वगुणविशिष्टायेत्यर्थः**। निमित्तवत इति। **अग्निना गृहदाहादिरूपनिमित्तवतः पुरुषस्येत्यर्थः**। **इत्यादिना कर्मविदधता विधिनेत्यन्वयः**। कर्मजन्येति। **अग्निदेवताककर्मजन्येत्यर्थः**। **तत्रैवोदाहरणान्तरमाह**—एवमिति। शुचिविहितकालजीविन इति। **शौचविशिष्टत्वे सति विहितकालजीविन इत्यर्थः**।

अर्थबोधिनी—अधिकारविधि अधिकार का विधान करती है। 'अधिकार' का अर्थ है—'स्वाम्य' अर्थात् स्वामी होना (स्वामिता)। इसीलिये अधिकार विधि को स्वाम्यबोधक कहा गया है। यहाँ 'स्वाम्य' पद से अभिप्राय उन फलों के स्वामी होने से है, जो याग आदि के अनुष्ठान से उत्पन्न होते हैं (**कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः**)।

प्रत्येक याग के अनुष्ठानस्थल में जहाँ प्रत्येक विषय का विधान रहता है, वहाँ इस विषय का भी विधान रहता है कि अमुक याग का अनुष्ठान अमुक विशेषों से युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। प्रत्येक याग के अनुष्ठाता की विशेषतायें—क्षमतायें निर्धारित रहती हैं। यदि वे विशेषतायें किसी पुरुष में नहीं होती हैं तो वह याग के सम्पादन करने का अधिकारी नहीं है। यदि वह हठात् याग का अनुष्ठान करता है तो उसे उस याग से उत्पन्न होने वाला फल नहीं प्राप्त होता है अर्थात् वह व्यक्ति यागजन्य फल का भोक्ता नहीं हो सकता (**कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्**)।

यजेत स्वर्गकामः एक अधिकारविधि है। इस विधि के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वर्गकामी व्यक्ति ही यागफल का भोक्ता हो सकता है, तदितर नहीं। हम जानते हैं कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं—१. नित्य, २. नैमित्तिक एवं ३. काम्य। **यजेत स्वर्गकामः** में जिस कर्म का निर्देश है वह, काम्य है। नैमित्तिक कर्म में अधिकारविधि का उदाहरण है—**यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टकपालं निर्वपेत्।** इस विधि के द्वारा अग्नि देवता के लिये पुरोडाश के निर्वाप का विधान किया गया है; किन्तु निर्वाप का अधिकार उसी व्यक्ति को होगा, जो अग्न्याधान कर चुका हो और उसके घर को अग्नि ने जला दिया हो अर्थात् प्रकृत स्थल में गृहदाह निमित्त कारण है। 'आहिताग्नित्व' भी अधिकारी का विशेषण है। दाहक अग्नि घर जलाकर जब शान्त होने लगती है (क्षामवत्) तभी उसके लिये आठ कपालों में संस्कृत पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है। घर का जल जाना पुरुष के पाप का सूचक है। पुरोडाश का निर्वाप करने से पाप नष्ट हो जाता है अर्थात् जिसका घर जल गया हो, ऐसा 'निर्वाप करने वाला व्यक्ति' निर्वापजन्य पापक्षयरूप फल का स्वामी होता है (**निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यम्**) और जिसका घर नहीं जला है अथवा जिसने अग्न्याधान नहीं किया है, उसे निर्वाप का फल नहीं मिल सकता।

नित्य कर्म में अधिकारविधि का उदाहरण है—**अहरहः सन्ध्यामुपासीत।** द्विजातियों के लिये 'सन्ध्या' कर्म नित्य कर्तव्य होता है। जो द्विज सन्ध्योपासन नहीं करता, उसे प्रत्यवाय होता है। प्रत्यवाय उस दोष को कहते हैं, जो कर्तव्य (नित्य) कर्म के न करने से उत्पन्न होता है; किन्तु सन्ध्योपासन के अनुष्ठान का फल उन्हीं द्विजों को मिलता है, जो पवित्र (**शुचि**) हों तथा शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुये जीवनयापन करते हों (विहितकालजीवी), अन्यथा नहीं। यद्यपि **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** इस विधि में **शुचिविहितकालजीवित्वम्** जैसा अधिकार सुना नहीं जाता; फिर भी उसे आक्षिप्त समझना चाहिये।

प्रसङ्ग—अब अधिकारविधिगत अधिकारी एवं अधिकारी के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है—

५९. पुरुषविशेषणरूपस्याधिकारस्य बहुत्र श्रुतत्वम्

तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः। अधिकारश्च स एव यद् विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये सन्ध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम्। अतएव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किन्तु राज्ञः सतः स्वाराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्।

अर्थ—उक्त प्रकार से फल का स्वामी वही व्यक्ति होता है, जो अधिकार से विशिष्ट हो और अधिकार उसी को कहते हैं, जो विधिवाक्यों में कर्ता व्यक्ति के विशेषणरूप में सुना जाता है। जैसे काम्य कर्म (यथा—यजेत स्वर्गकामः) में फलकामना, नैमित्तिक कर्म (यस्याहिताग्ने इत्यादि) में निमित्त का निश्चय, नित्यकर्म (यथा—अहरहः सन्ध्यामुपासीत आदि) में शुचिविहितकालजीवित्व कर्ता व्यक्ति का विशेषण है। इसीलिये 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' (स्वाराज्य की प्राप्ति का इच्छुक क्षत्रिय राजसूय याग का अनुष्ठान करे) इस विधिवाक्य में पुरुष के राजत्व (क्षत्रियत्व) एवं स्वाराज्यकामना—ये दो विशेषण होने के कारण राजसूय याग का वही अनुष्ठाता व्यक्ति यागफल का भोक्ता हो सकता है, जो स्वाराज्य का इच्छुक होने के साथ-साथ क्षत्रिय भी हो; क्योंकि प्रकृत विधिवाक्य में राजत्व (क्षत्रिय होना) को भी अधिकारी पुरुष के विशेषणरूप में सुना गया है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तच्चेति। फलविधिबोधितं चेत्यर्थः। को ह्यधिकारो यद्विशिष्टस्य पुंसः कर्मजन्यफलभोक्तृत्वरूपं फलस्वाम्यं विधिना बोध्यत इत्यत आह—अधिकारश्चेति। अत एवेति। विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयमाणस्याधिकारत्वादेवेत्यर्थः। स्वाराज्यमुद्दिश्येत्यत्र राजसूयमिति शेषः। राज्ञः सत इति। क्षत्रियस्य सत इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—राजत्वस्येति। श्रवणादिति। 'राजसूयेने'त्यत्र श्रवणादित्यर्थः। अत्र हि राजशब्देन क्षत्रिय एवोच्यते, न तु राज्यसम्बन्धमात्रेण तदन्योऽपि। तेन क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकारो न तु तदन्यस्य ब्राह्मणादेरित्यन्यत्र विस्तर इति भावः।

इदमत्र चिन्त्यते—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'ति श्रूयते। तत्र क्रियानिष्पादकत्वं कर्तृत्वं फलभोक्तृतया स्वामित्वमधिकारः। तादृशोऽधिकारो यागकर्तुर्नास्ति। कुतः? फलभोगाभावात्। तथा हि—यजेतेत्यत्राख्यातेन भावनाभिधीयते। तस्यां च धात्वर्थो भाव्यः, एकपदोपात्तत्वात्। स्वर्गस्तु पदान्तरोपात्तत्वाद्वाक्येन भाव्यतयाऽन्वेतव्यः। तच्च वाक्यमेकपदरूपया श्रुत्या बाध्यते। स्वर्गस्य भाव्यत्वाभावे सति गुणत्वमभ्युपेयम्। स्वर्गशब्दो नात्र सुखवाची, किन्तु सुखसाधनं चन्दनादिद्रव्यं ब्रूते। लोके तथा व्यवहारात्।

तच्च कामयितुं योग्यम्। तेन द्रव्येण विना यागानिष्पत्तेः। तस्मादस्मिन्वाक्ये फलानभिधाने तद्भोगाभावात्कर्तुर्यागे कर्तृत्वमेव न त्वधिकार इत्यधिकारलक्षणं नारब्धव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—यजेतेत्यत्र प्रत्ययस्य केवलमाख्यातरूपत्वमेवेति न च मन्तव्यं, किन्तु लिङ्प्रत्ययत्वेन विधिरूपत्वमप्यस्ति तत्राख्याततत्वाकारेण भावनामाचष्टे, विधित्वाकारेण पुरुषं प्रवर्तयति, पुरुषश्च स्वाभिमतफलमन्तरेण न प्रवर्तते इति तदपेक्षितं स्वर्गमेव भाव्यतया विधिरुपादत्ते। स्वर्गशब्दश्चोत्कृष्टे सुखे रूढः। द्रव्ये तु लाक्षणिकः। तस्मात्सुखस्य भाव्यत्वं विधिश्रुत्या सिद्धम्। धात्वर्थस्य तु भाव्यत्वमेकपदेन प्रतीयमानमपि प्रत्ययेन नावगम्यते, किन्तु प्रकृत्या। तथासति स्वर्गभाव्यत्वं भावनायां प्रत्यासन्नयेकेनैव विधिरूपेणाख्यातेनावगमात्कमियोगादपि स्वर्गस्यैव भाव्यत्वम्। तस्मात्फलभोगसम्भवेन कर्तुरधिकारोऽस्तीत्यधिकारलक्षणमारब्धव्यमिति।

अर्थबोधिनी—जो व्यक्ति अधिकारविशिष्ट होता है, वही कर्मानुष्ठान करने पर उस कर्म के फल का भोक्ता होता है (**तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः**)। अभिप्राय यह है कि अधिकारी व्यक्ति ही कर्मफलभोक्ता होता है। अधिकारी पुरुष के विशेषण को ही अधिकार कहते हैं (**अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषत्वेन श्रूयते**)। **यजेत स्वर्गकामः** स्थल में प्रासङ्गिक याग काम्य कर्म है, अतएव स्वर्गकामना अर्थात् फलकामना 'अधिकार' है। जिस पुरुष में फलकामना है, वह अधिकारी है। 'स्वर्गकामः' अधिकारी व्यक्ति है और 'स्वर्गकामना' अधिकार है, जो कि पुरुष का विशेषण है। इसी प्रकार नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय अधिकार होता है। **यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्** इस नैमित्तिक कर्मसम्बन्धी अधिकारविधि में 'अग्न्याधान' एवं 'गृहदाह' अधिकार है और सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्म में शुचिविहितकालजीवित्व अधिकार है।[1] जो पुरुष 'शुचि एवं विहितकालजीवी' होता है। वह सन्ध्योपासन आदि नित्य क्रियाओं के फल का भोक्ता होता है।

अधिकारविधि में व्यक्ति के जितने विशेषण हैं, वे सभी सम्मिलित रूप में अधिकारी पुरुष में होने चाहिये, एक भी विशेषण की कमी होने पर व्यक्ति कर्मजन्य फल का भोक्ता नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये **राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत** यह एक विधि है। यहाँ पुरुष के दो विशेषण हैं—१. राजा (क्षत्रिय[2]) एवं २. स्वाराज्यकामः। अतएव राजसूय याग का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को क्षत्रिय भी होना चाहिए और स्वाराज्यकाम

---

१. देखिए—विभागसङ्ख्या-५८।

२. यहाँ 'राजा' शब्द का अर्थ 'क्षत्रिय' है—**अत्र राजपदं क्षत्रियमात्रवाचकम् एवञ्च नेतरयोरत्र प्राप्तिः।** (सारविवेचिनी)

एवं अत्र हि राजशब्देन क्षत्रिय एवोच्यते न तु राजसम्बन्धमात्रेण तेन क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकारो न तु तदन्यस्य ब्राह्मणादेरित्यन्यत्र विस्तर इति भावः। (कौमुदी)

भी। केवल स्वाराज्यकाम व्यक्ति राजसूय कर्म के फल का भोक्ता नहीं हो सकता, उसे क्षत्रिय भी होना आवश्यक है।

प्रसङ्ग—जिन विधिवाक्यों में जहाँ कहीं ऐसे विशेषण अश्रुत होते हैं, जिनकी अपेक्षा होती है, वहाँ उनका आक्षेप हो जाता है।

६०. क्वचिच्चाधिकारस्य पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतत्वम्

क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथाध्ययनविधिसिद्धा विद्या। क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवं सामर्थ्यमपि। 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

अर्थ—कहीं-कहीं पुरुष के विशेषण-रूप में न सुना गया पदार्थ भी पुरुष का विशेषण होता है, जैसे **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इस विधि से प्राप्त विद्या भी पुरुष का विशेषण मानी जाती है, यद्यपि विधिवाक्यों में 'विद्या' साक्षात् पुरुष के विशेषणरूप में सुनी नहीं जाती। इसका कारण यह है कि याग-विधायक विधिवाक्यों की प्रवृत्ति केवल उन्हीं पुरुषों के प्रति हो सकती है, जिन्होंने अध्ययनविधि के अनुसार विद्या की प्राप्ति कर ली है। भला विधिवाक्यों का अर्थ न जानने वाला व्यक्ति यागानुष्ठान में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? इसी प्रकार अग्निसापेक्ष क्रियाओं का अनुष्ठाता पुरुष वही हो सकता है, जिसने नियमपूर्वक अग्न्याधान कर लिया हो; क्योंकि अग्निसापेक्ष क्रियाओं से सम्बद्ध विधिवाक्यों की प्रवृत्ति उन्हीं पुरुषों के प्रति होती है, जो अग्नि का आधान कर चुके हों। अग्न्याधानरहित व्यक्ति तत्तत् अग्निसापेक्ष कर्मों के फल के अधिकारी नहीं हो सकते, भले ही वे व्यक्ति तत्तत् क्रियाओं का अनुष्ठान करें। इसी प्रकार तत्तत् क्रियाओं के सम्पादन का 'सामर्थ्य' (क्षमता) भी तत्तत् विधानस्थल में पुरुष का विशेषण समझा जाना चाहिये; क्योंकि **आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी** इस न्याय से यह विदित होता है कि आख्यात जब अर्थ का बोध कराते हैं तब (पुरुषगत) सामर्थ्य (कर्मानुष्ठानक्षमता) भी अर्थबोध में सहायक होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि समर्थ पुरुष के प्रति विधियों की प्रवृत्ति होती है।

विधिवाक्येष्वश्रुतमपि किञ्चिदधिकारिविशेषणत्वेनान्यथानुपपत्त्या तत्समाश्रयणेन व्यवहारोपपत्तिरित्याशयेनाह—क्वचित्त्विति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। विद्येत्यत्र विधिवाक्येष्वश्रुतमप्यधिकारिविशेषणत्वेन तद्विशेषणमिति शेषः। तत्र हेतुमाह—क्रत्वित्यादिना। तत्रैवोदाहरणान्तरमाह—एवमिति। अग्निमत्तेत्यत्रापि पूर्ववदेव शेषो बोध्यः। तत्रापि हेतुमाह—अग्निसाध्येति। तद्विधीनामिति। अग्निसाध्यकर्मविधीनामित्यर्थः। अनेन च

निरुक्ताधिकारिविशेषणेन शूद्रस्य यागेऽनधिकारो ध्वनितः। तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादाधानसिद्धाग्निमत्ताया अभावाच्च। किञ्च अध्ययने ह्युपनीतस्यैवाधिकारात् उपनयनेऽपि च 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीते'त्यादिना त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारविधानात्। अग्न्याधानेऽपि 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते'त्यादिना त्रैवर्णिकमात्रस्याधिकारविधानाच्च। यद्यपि 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीते'त्यनेन रथकारस्य सौधन्वनापरनामकस्याग्न्याधानं विहितं योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात् तथापि नास्योत्तरकर्मस्वधिकारः, तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादित्यन्यत्र विस्तर इति भावः। ननु तत्र रथं करोतीति व्युत्पत्त्या त्रैवर्णिक एव रथकारो न तु शूद्रस्य तत्राप्यधिकार इति चेन्न। सङ्कीर्णजातिविशेषे रथकारशब्दस्य रूढत्वात्। तथा हि—वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्यः। शूद्रायां वैश्यादुत्पन्ना करणी। तस्यां करण्यां माहिष्यादुत्पन्नो रथकारः। तथा च याज्ञवल्क्यः—'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' इति। तस्मान्न तादृशव्युत्पत्त्या त्रैवर्णिको रथकारशब्देन ग्रहीतुं शक्यत इति। किञ्च कुत्रचिद्यागेऽपि कस्यचिच्छूद्रस्याधिकारो भवति 'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपे'दिति प्रकृत्य 'एतया निषादस्थपतिं याजये'दिति श्रवणात्। वास्तुशब्दः किञ्चित्प्रकृतिद्रव्यविशेषमाह। एतस्यामिष्टावधिकारी निषादस्थपतिशब्दवाच्यस्त्रैवर्णिक एव। कुतः? निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीसमासस्य त्रैवर्णिके सम्भवात् तस्य ह्यधीतवेदत्वे विद्यासम्भवाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः—निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वान्न षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको निषादस्थपतिशब्दार्थः। षष्ठीसमासे तु सङ्कीर्णजातिविशेषवाचिना निषादशब्देन तत्सम्बन्ध उपलक्ष्येत। न त्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति। तस्मात् तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां सम्पाद्य धनिको निषादो रौद्रं यागं कुर्यादिति राद्धान्तः।

अध्ययनविधिसिद्धविद्यादिवत्पुरुषसामर्थ्यमपि विधिवाक्येष्वश्रुतमप्यधिकारिविशेषणमित्याह—एवमिति। सामर्थ्यमिति। आज्यावेक्षणादिकं लौकिकपुंसामर्थ्यमित्यर्थः। वैदिकसामर्थ्यस्याध्ययनविधिसिद्धविद्यादेः पूर्वमेवोक्तत्वादित्यर्थः। वृद्धोक्तन्यायं विनिगमकं समुदाहरन् तत्र हेतुमाह—आख्यातानामिति। अनेन च विशेषणेनान्धादेरनधिकारो ध्वनितः। इदमत्र विचार्यते—अन्धः पङ्गुर्बधिरो मूको गवाश्वादयश्च तिर्यञ्च इत्यादीनां चेतनत्वेन निरतिशयसुखरूपे स्वर्गे कामना सम्भवति। अथोच्येत केषुचिदङ्गेषु तेषां शक्तिर्नास्ति। तथा हि—अन्धो नाज्यमवेक्षितुं क्षमः, पङ्गुर्विष्णुक्रमेष्वशक्तः, बधिरो नाध्वर्युप्रोक्तं शृणोति। तथा च 'क्लृप्तीर्वाचयती'ति विहितस्यानुष्ठानं न सिद्ध्येत्। मूकोऽनुमन्त्रणादावसमर्थः। तिर्यञ्चो बहुष्वसमर्था इति—तन्न। यथाशक्त्यङ्गानामनुष्ठेयत्वात्। 'स्वर्गकामो यजेते'त्यनेन प्रधानवाक्येन सर्वाधिकारः प्रतीयते। स चाज्यावेक्षणाद्यङ्गवाक्यानुसारेण न सङ्कोचयितुं युक्तः, किन्तु प्रधानानुसारेणाङ्गानुष्ठानमेव सङ्कोचयितुं युक्तं, तस्मादन्धादेरप्यधिकार इति प्राप्ते ब्रूमः—यदाज्यावेक्षणादयः पुरुषार्थतया विधीयेरन् तदा

तल्लोपयितुर्न क्रतोर्वैकल्यम्, इह तु क्रत्वङ्गतया ते विहिता इति तल्लोपे क्रतुरेव न निष्पद्येत, तस्मादसमर्थस्य नास्त्यधिकार इति सिद्धम्। किञ्च ज्योतिष्टोमे श्रूयते— 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येतादक्षिणो यज्ञः संस्थाप्योऽथान्यश्चाहर्तव्यस्तत्र तद्दद्याद्यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात् यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्वस्वं दद्यादि'ति। अस्यायमर्थः—प्रातःसवने बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः शालाया बहिः प्रसर्पन्ति तदानीमेकस्य पृष्ठतोऽन्य इत्येवं पिपीलिकावत्पङ्क्त्याकारेण गन्तव्यम्। तत्र पुरतो गन्तुः कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठतोऽन्यो गच्छेत्। एवं सति यदि प्रमादादुद्गाता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत्तदा दक्षिणामदत्त्वा प्रक्रान्तो यज्ञः समापनीयः। तं समाप्य पुनरपि स यज्ञः प्रयोक्तव्यः। तस्मिन्प्रयोगे पूर्वं यद्दित्सितं द्रव्यं तद्दद्यात्। यदा प्रतिहर्ता मुञ्चेत् तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वं दद्यादिति। तत्र यद्युद्गातृप्रतिहर्तारौ युगपत्तन्मुञ्चेतां तदानीमुक्तं प्रायश्चित्तनिमित्तं विहन्येत। एककर्तृको ह्यपच्छेदो निमित्तत्वेन श्रुतः, अयं तूभयकर्तृकत्वान्नैकेन व्यपदेष्टुं शक्यते, तस्मात् श्रूयमाणस्य निमित्तस्य विहतत्वान्नास्ति प्रायश्चित्तमिति प्राप्ते ब्रूमः—द्वौ ह्यत्रापच्छेदौ तयोरेकैकस्यैकैक एव कर्तेति निमित्तस्य नास्ति विघातः। कालमात्रैक्यादेकापच्छेदभ्रान्तिः तस्मान्निमित्तविघाताभावादस्ति प्रायश्चित्तम्। किञ्च अदक्षिणत्वं सर्वस्वदक्षिणत्वं चेति यत्प्रायश्चित्तद्वयं निमित्तभेदेन श्रुतं तन्निमित्तद्वयसन्निपाते समुच्चेतव्यम्, यद्यदक्षिणत्वसर्वस्वदानयोरन्योन्यविरोधस्तर्हि प्रयोगभेदेन व्यवस्थापनीयम्, अपच्छेदयुक्ते प्रथमप्रयोगे दक्षिणा न दातव्या, उत्तरप्रयोगे सर्वस्वं दातव्यं, सत्यपि प्रयोगभेदे कर्मण एकत्वात् समुच्चय इति प्राप्ते ब्रूमः—न ह्युत्तरप्रयोगेऽपच्छेदो विद्यते। न चासति निमित्ते प्रायश्चित्तं युक्तम्। तस्मात्प्रथमप्रयोग एव निमित्तद्वयवशात्प्रायश्चित्तद्वयं प्राप्तं तच्चान्योन्यविरुद्धं विकल्प्यते। किञ्च उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकयोरपच्छेदयोर्यौगपद्य समानबलत्वादस्तु प्रायश्चित्तयोर्विकल्पः। यदा तु क्रमेणापच्छेदौ स्यातां तदानीमसञ्जातविरोधित्वेन पूर्वस्य प्रबलत्वात् श्रुतिलिङ्गादाविवोत्तरस्य प्रवृत्तिर्विरुध्यत इति चेत्। मैवम्। श्रुतिलिङ्गादावुत्तरस्य पूर्वसापेक्षत्वात्पूर्वेण विरोधे सत्युत्तरस्योत्पत्तिरेव नास्ति। इह तु ज्ञानद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं वाक्यद्वयादुत्पद्यत इत्युत्पत्तिप्रतिबन्धो नास्ति। उत्पद्यमानं चोत्तरज्ञानं स्वविरुद्धस्य पूर्वज्ञानस्य बाधनैवोत्पद्यते। ननु निरपेक्षत्वस्य समानत्वात् पूर्वज्ञानमेवोत्तरस्य बाधकमस्त्विति चेन्न। पूर्वज्ञानोत्पत्तिदशायामविद्यमानस्योत्तरज्ञानस्य बाध्यत्वायोगात्। उत्तरकाले तु स्वयं बाधितं पूर्वज्ञानं कथमुत्तरस्य बाधकं भवेत्, नान्यत्किंचिदुत्तरस्य बाधकं पश्यामः। तस्मादुत्तरकालीनापच्छेदनिमित्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयम्। किञ्च यद्युद्गाता पश्चादपच्छिद्यते तदा तस्यापच्छेदस्य प्रबलत्वात्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं, तच्च प्रायश्चित्तमीदृशं— प्रथमं प्रयोगं दक्षिणारहितमनुष्ठाय द्वितीयप्रयोगे पूर्वं दित्सिता दक्षिणा दातव्येति। पूर्वं च गवां द्वादशाधिकं शतं दित्सितं तस्य ज्योतिष्टोमदक्षिणारूपेण विहितत्वात्तस्मादुत्तरप्रयोगे द्वादशशतं देयमिति प्राप्ते ब्रूमः—प्रतिहर्तुः प्रथममपच्छेदे सति तन्निमित्तकं

सर्वस्वदानरूपं प्रायश्चित्तं प्रथमप्रयोगे प्राप्तं, तेन च क्रतुस्वभावप्रयुक्तस्य बाधात्सर्वस्वं दित्सितं, न चोद्गात्रपच्छेदेन पश्चाद्भाविना सर्वदित्सा बाध्यत इति शङ्कनीयम्। बाधकस्य दक्षिणान्तरस्य तत्रानुक्तत्वात्। यद्दित्सितं तदुत्तरप्रयोगे देयमित्येतावदेव तत्रोच्यते। दित्सितं च सर्वस्वमित्युक्तम्। अत उत्तरकालीनोद्गात्रपच्छेदनिमित्तेऽपि पुनः प्रयोगे पूर्वकालीनप्रतिहर्त्रपच्छेदप्रयुक्तं सर्वस्वमेव दातव्यमित्यादिकमर्थजातं निरूपणीयमभिप्रेत्य विधिनिरूपणमुपसंहरति—तदेवमिति। तस्मिन्नतीते ग्रन्थ उक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में ऐसे अधिकारों का विवेचन किया गया है, जो अधिकारविधि में पुरुष के विशेषणरूप में सुने जाते हैं; जैसे—**यजेत स्वर्गकामः** में 'स्वर्गकामना'। इसी प्रकार 'अग्निदाह' एवं 'राजत्व' 'स्वाराज्यकामना' आदि। किन्तु इस विभाग में उन अधिकारों का विवेचन किया गया है, जो विधिवाक्य में अधिकारी पुरुष के विशेषण-रूप में नहीं सुने जाते हैं; फिर भी अधिकारी पुरुष के विशेषण-रूप में उनका आक्षेप होता है अर्थात् अधिकारी होने के लिए उनकी अपेक्षा मानी जाती है (**पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्**)। उदाहरण के लिए यागविधायक विधियों में 'अध्ययनविधि द्वारा सिद्ध विद्या' को अधिकारी पुरुष का विशेषण माना जाता है। यद्यपि वहाँ इसका साक्षात् श्रवण नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रतु (याग) का अनुष्ठान करने का अधिकार उसी व्यक्ति को है, जो **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इस अध्ययनविधि के अनुसार वेदों का अध्ययन करके वेदों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर चुका हो (**अध्ययनविधिसिद्धा विद्या**)। यागविधायक विधियों के द्वारा कर्म के अनुष्ठान करने में वेदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा होती है (**क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेन**)। इसलिये अध्ययनविधि के द्वारा जिसे वेदार्थ का ज्ञान हुआ रहता है, उसी पुरुष के प्रति क्रतुविधियों की प्रवृत्ति होती है (**अध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव क्रतुविधीनां प्रवृत्तेः**) अर्थात् क्रतुविधियाँ ऐसे पुरुषों के लिये ही क्रतु (याग) का विधान करती हैं, जिन्होंने अध्ययनविधि के द्वारा वेदार्थज्ञान प्राप्त कर लिया हो। शूद्र उपनयन का अधिकारी नहीं होता; अतएव वेदाध्ययन का भी अधिकारी नहीं होता। इसीलिये वह क्रतुविधि-विहित कर्मों का भी अधिकारी नहीं होता है।

इसी तरह जिन कर्मों का अनुष्ठान अग्निसापेक्ष होता है, उनके अनुष्ठान करने का अधिकार उन्हीं पुरुषों को है, जिन्होंने नियमपूर्वक अग्न्याधान कर लिया हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिये ही अग्न्याधान का विधान है, अतएव जिन द्विजों ने नियमपूर्वक अग्न्याधान किया हो, वे ही अग्निसाध्य कर्म के अनुष्ठान का फल प्राप्त कर सकते हैं। शूद्र किसी भी दशा में अग्नि द्वारा अनुष्ठेय कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता। आशय यह है कि अग्निसाध्य कर्म में 'आधानसिद्ध अग्निमत्ता' पुरुष का विशेषण होती है। कारण, अग्नि द्वारा अनुष्ठेय कर्मों के अनुष्ठान में अग्नि की अपेक्षा होती है (अग्नि-

साध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन), अतएव अग्निसाध्य कर्मों का विधान करने वाली विधियों (तद्विधीनाम्) की प्रवृत्ति ऐसे पुरुषों के प्रति ही होती है, जो शास्त्रनिर्धारित अग्न्याधान के नियमों के अनुसार अग्नि का आधान कर चुके होते हैं (तद्विधीनामाधान-सिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः)।

इसी प्रकार विधिबोधित सभी क्रियाओं के अनुष्ठान करने की 'शक्ति' (सामर्थ्य) भी पुरुष का विशेषण होती है, यद्यपि विधिवाक्यों में पुरुष के विशेषणरूप में सामर्थ्य का श्रवण नहीं रहा करता है। उदाहरण के लिये अनुष्ठाता पुरुष की इन्द्रियाँ सशक्त होनी चाहिये, उसका कोई भी अङ्ग विकृत नहीं होना चाहिये; क्योंकि अन्धे, बहरे, लूले, लँगड़े आदि व्यक्ति यागानुष्ठान के लिये समर्थ नहीं हैं। अन्धा आज्यावेक्षण (आज्य को देखना) नहीं कर सकता, बहरा अध्वर्यु द्वारा उच्चारण किये गये मन्त्र को नहीं सुन सकता, लूला प्रोक्षण (छिड़कना) आदि क्रियाओं का अनुष्ठान नहीं कर सकता और लँगड़ा 'अभिक्रमण' आदि में असमर्थ होता है; अतएव सामर्थ्य भी पुरुष का विशेषण होता है। समर्थ व्यक्ति के प्रति ही विधियाँ भी प्रवृत्त होती हैं। असमर्थ व्यक्ति याग का अनुष्ठान अविकल रूप में नहीं कर सकता, अतएव वह यागफल का भागी न होने के कारण अधिकारी नहीं माना जा सकता।

आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी यह एक न्याय—सिद्धान्त है। 'आख्यात' पद अर्थ के वाचक होते हैं। अर्थ का अभिधान करने वाले आख्यातों की सहकारिणी शक्ति (सामर्थ्य) होती है। यजेत पद का अर्थ 'याग करना चाहिये' होता है, किन्तु वस्तुतः इसका पूरा अर्थ होता है—'याग करने में समर्थ पुरुष को याग करना चाहिये'। इसी प्रकार 'देखे' का अर्थ 'देखने में समर्थ पुरुष देखे' होता है। इस प्रकार आख्यात के अर्थबोध में शक्ति भी सहायता करती है।

इस प्रकार विधि का विवेचन पूर्ण हुआ।

विधिप्रकरण समाप्त



(ग) मन्त्रप्रकरणम्

प्रसङ्ग—अब मन्त्र का विवेचन किया जा रहा है—

६१. मन्त्रविचारः

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। न च दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि सम्भवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

अर्थ—मन्त्र अनुष्ठान में समवेत द्रव्य, देवता, क्रिया आदि पदार्थों का स्मरण कराते हैं। इस प्रकार से पदार्थों का स्मरण कराने में ही मन्त्रों की सार्थकता है। मन्त्रोच्चारण का अदृष्ट फल सर्वत्र नहीं मानना चाहिए; क्योंकि जब (स्मरण-रूप) दृष्ट फल सम्भव हो तो अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं और यह कहना कि 'अर्थस्मरणरूप दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि तो अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है, फिर मन्त्रोच्चारण व्यर्थ ही है' भी उचित नहीं है। कारण, **मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्** यह नियमविधि आश्रयणीय है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—

य: सर्वकर्ता सकलात्मरूपश्चन्द्रार्कवह्नीक्षणकश्चिदात्मा।
साम्बो हि सोमार्धविभूषणाढ्यस्तं नौमि देवार्चितपादपीठम्॥१॥

इदानीं मन्त्ररूपं वेदभागं निरूपयति—प्रयोगेति। तेषामिति। **मन्त्राणामित्यर्थः**। तादृशार्थेति। **प्रयोगसमवेतार्थेत्यर्थः**। अर्थवत्त्वमिति। **प्रयोजनवत्त्वमित्यर्थः**। **ननु मन्त्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वेनाप्युपपत्तेः कुतस्तेषां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैव प्रयोजनवत्त्वमित्यत आह**—न त्विति। तदुच्चारणमिति। **मन्त्रोच्चारणमित्यर्थः**। **तत्र हेतुमाह**—दृष्टफलकत्व इति। **ननु दृष्टस्य देवताद्यर्थस्मरणस्य ब्राह्मणवाक्यादिनापि सम्भवान्मन्त्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वानङ्गीकारे तदाम्नानस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्याशङ्क्य मन्त्रैरेव सोऽर्थः स्मर्तव्य इति नियमविध्यङ्गीकारान्न मन्त्राम्नानस्य वैयर्थ्यमिति परिहरति**—न चेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—यागानुष्ठान अनेक पदार्थों द्वारा सम्पन्न होता है। ये पदार्थ (अर्थ) द्रव्य, देवता, क्रिया आदि रूप से अनेक प्रकार के होते हैं। याग के अनुष्ठान (प्रयोग)-काल में मन्त्रों का भी पाठ किया जाता है। प्रश्न है कि मन्त्रों का पाठ क्यों किया जाता है? सिद्धान्तपक्ष का मत है कि मन्त्रों के पाठ से उन पदार्थों का स्मरण किया जाता है, जिनका उपयोग अनुष्ठान-काल में किया जाता है। अर्थात् मन्त्र अनुष्ठान (प्रयोग) में

समवेत (सम्बद्ध) पदार्थों (क्रिया एवं क्रियाभिन्न) के स्मारक होते हैं (प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः)। मन्त्रों की सार्थकता (अर्थवत्त्वम्) प्रयोगसमवेत अर्थों के स्मरण कराने में ही है।

पूर्वपक्षी मन्त्रोच्चारण को अदृष्टार्थक मानने का आग्रह कर सकता है। वह कह सकता है कि अनुष्ठानकाल में विहित मन्त्रों के यथास्थान पाठ से अदृष्ट उत्पन्न होता है, मन्त्र-पाठ का कुछ भी दृष्ट प्रयोजन नहीं। मन्त्र प्रयोगसमवेत अर्थ के स्मारक नहीं माने जाने चाहिये। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के उक्त कथन का खण्डन करता है। यदि दृष्ट फल की सम्भावना हो तो अदृष्ट फल की कल्पना कहीं भी करनी उचित नहीं है। जबकि मन्त्रोच्चारण का स्मरणात्मक दृष्ट प्रयोजन (फल) माना जा सकता है तब उसे मन्त्रोच्चारण का फल न मानकर उसका फल अदृष्ट अर्थात् पुण्योत्पत्ति नहीं माना जा सकता।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण किसी दूसरे उपाय, जैसे ब्राह्मणवाक्यों के द्वारा भी किया जा सकता है, फिर क्यों न मन्त्रोच्चारण को अदृष्टार्थक मान लिया जाय, तो इस आक्षेप का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह सकता है कि उक्त युक्ति के आधार पर प्रयोगसमवेत अर्थों के स्मरण कराने के सम्बन्ध में **मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्** इस प्रकार नियमविधि आश्रयणीय है; अतः प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण अनिवार्यतः मन्त्रों द्वारा ही किया जाना चाहिये। 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' इस नियम का आश्रय लेने पर इसे प्रमाण मानने पर मन्त्रों के उच्चारण को अदृष्टार्थक नहीं मान सकते। यदि मन्त्रों द्वारा प्रयोगसमवेत अर्थों का स्मरण नहीं किया जायेगा तो उक्त नियमविधि का उल्लङ्घन हो जायेगा एवं तदनुसार वहाँ यागजन्य अपूर्व निष्पन्न नहीं हो सकेगा—नियमापूर्व की उत्पत्ति नहीं होने से यागानुष्ठान खण्डित समझा जायेगा और अनुष्ठाता को यागजन्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसी बात को सारविवेचिनीकार ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है—

एवञ्च नियमविधि-बलात् नियमादृष्टं किञ्चिदुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते।

प्रसङ्ग—नियमविधि के स्वरूप का विवेचन—

६२. नियमविधिविचारः

नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते।। इति।

अस्यार्थः—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः, यथा 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्।

पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादिः। कथमस्य पक्षेऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेत्, इत्थम्—अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं

न प्रतिपाद्यतेऽन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किन्तु नियमः। स चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद् यदा अवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदा अवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।

अर्थ—विविध साधनों से सिद्ध होने वाली क्रिया के अनुष्ठान में अनभिप्रेत साधन होने लगने पर अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति कराने वाली विधि को नियमविधि कहा जाता है। कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक (१.२.३४) के अन्तर्गत विधिरत्यन्तमप्राप्तौ इस श्लोक में नियमविधि एवं अन्य दो विधियों का लक्षण किया है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—'अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करने वाली विधि को अपूर्वविधि, पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को नियमविधि और एक अर्थ तथा इतर अर्थ दोनों की प्राप्ति होने पर निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को परिसङ्ख्याविधि कहा जाता है। उक्त श्लोक का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—अन्य प्रमाणों से जिस पदार्थ का विधान नहीं हुआ रहता है, उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को अपूर्वविधि कहते हैं, जैसे—यजेत स्वर्गकामः यह अपूर्वविधि है। कारण, जिस याग का विधान अन्य किसी प्रमाण से नहीं होता है, ऐसे स्वर्गफलक याग का विधान यह विधि करती है।

पक्ष में अप्राप्त पदार्थ की प्रापक विधि को नियमविधि कहते हैं, यथा—व्रीहीनवहन्ति (धान कूटे जायँ) यह नियमविधि है। यह विधि अवघात का विधान इसलिये नहीं करती कि धान की भूसी दूर हो जाय, क्योंकि अवघात से भूसी दूर होती है और अवघात के अभाव में नहीं दूर होती; इस प्रकार लोकसिद्ध अन्वय एवं व्यतिरेक से ही इस विषय का ज्ञान हो जाता है। यह विधि नियम का प्रतिपादन करती है। अप्राप्त अंश की प्राप्ति को ही नियम कहा जाता है। तुषविमोक अनेक उपायों से सिद्ध हो सकता है, अतएव जब अवघात को छोड़कर अन्य किसी उपाय को ग्रहण किया जाने लगता है, तब ऐसी स्थिति में यह विधि अप्राप्त अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश की पूर्ति कराती है। सारांश यह है कि नियमविधि के द्वारा अप्राप्त अंश की पूर्ति-रूप नियम का ही बोध कराया जाता है। यहाँ पर पक्ष में अप्राप्त अवघात का प्रापण ही नियम है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु किंलक्षणको नियमविधिर्यदाश्रयणादन्यस्यार्थस्मारकस्य व्यवच्छेदो लभ्यत इत्याशङ्क्य नियमविधिलक्षणमाह—नानासाधनेति। तत्र सम्मतिमाह—यथाहुरिति। तां व्याचष्टे—अस्यार्थ इत्यादिना। तत्रापि विधिरत्यन्तमप्राप्ताविति प्रथमपादमपूर्वविधिपरं व्याचष्टे—प्रमाणान्तरेणेति। प्रमाणान्तरेण तदर्थत्वेनाप्राप्तस्य तदर्थत्वेन प्रापको यो विधिः सोऽपूर्वविधिरित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। तस्यापूर्वविधित्वे हेतुमाह—

स्वर्गेति। स्वर्गार्थकत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्य तदर्थत्वेन 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यनेन विधानाद्भवत्ययमपूर्वविधिरित्यर्थः।

नियमः पाक्षिके सतीति द्वितीयपादं प्रकृते सम्मतिरूपं व्याचष्टे—पक्षेऽप्राप्तस्येति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। ननु व्रीहीनवहन्तीत्यस्यावघातविधेः कथं पक्षेऽप्राप्तस्यावघातस्य प्रापकत्वं स्वीक्रियते, वैतुष्यार्थत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य तस्य तदर्थत्वेनानेन विधानोपपत्तेरित्याशङ्क्यानेन हि विधिनावघातस्य वितुषतार्थत्वं न प्रतिपाद्यते, तस्य तदर्थत्वेनान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, अवघातादिसत्त्वे व्रीहीणां वैतुष्यं जायते, तदसत्त्वे तदभाव इति सर्वजनीनमिति परिहरति—कथमित्यादिना। इत्थमिति। अनेन वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ननु यद्यवघातादीनां सर्वेषामेव वैतुष्यार्थत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं तदा 'व्रीहीनवहन्ती'-त्यवघातविधेरन्वयव्यतिरेकसिद्धावघातप्रापकत्वेन वैयर्थ्यमेवापद्येत अनुवादकत्वादित्याशङ्क्ते—किन्त्विति। नास्य विधेरनुवादकत्वेन वैयर्थ्यं सम्भवति, नियमविधायकत्वेनानुपपत्तेरिति परिहरति—नियम इति। व्रीहीणां वैतुष्यमवघातेनैव सम्पादनीयमिति नियमः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। ननु तादृशनियमप्रतिपादनेऽत्र कीदृशो वाक्यार्थो भवतीत्यत आह—स चेति। स एवाप्राप्तांशपूरणरूपो नियमोऽत्र वाक्यार्थ इत्यर्थः। ननु कथमत्राप्राप्तांशो लभ्यते यस्य पूरणेनास्य विधेः सार्थक्यमित्यतोऽत्राप्राप्तांशपूरणरूपमेव वाक्यार्थमुपपादयति—वैतुष्येत्यादिना। उपपादितमप्राप्तांशपूरणरूपं वाक्यार्थमुपसंहरति—अतश्चेति। अस्य विधेरप्राप्तांशपूरणरूपनियमप्रतिपादकत्वाच्चेत्यर्थः। पर्यवसितार्थमाह—पक्ष इति यावदिति। पर्यवसन्नमित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—विभागसङ्ख्या ६१ में **मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्** इस नियमविधि के आश्रय का उल्लेख किया गया है; अतएव नियमविधि का स्वरूप क्या है? इस प्रकार नियमविधि के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होती है। प्रकृत विभाग में नियमविधि के स्वरूप पर विचार किया गया है। नियम विधि का लक्षण देकर लक्षण की पुष्टि के लिये तन्त्रवार्तिक का एक श्लोक उद्धृत किया गया है। श्लोक विधि का एक नवीन विभाजन प्रस्तुत करता है। यहाँ विधि के तीन प्रभेद माने गये हैं—अपूर्व विधि, नियम विधि एवं परिसङ्ख्या विधि। श्लोक के अभिप्राय को स्पष्ट करते समय ग्रन्थकार ने लक्षण एवं उदाहरणों द्वारा तीनों विधियों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। परिसङ्ख्या विधि के स्वरूप का निरूपण अग्रिम विभागों में किया गया है।

तन्त्रवार्तिक (१.२.३४) में कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त तीनों विधियों का लक्षण इस प्रकार किया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते।।

यहाँ सर्वप्रथम विधि का लक्षण दिया गया है। यहाँ 'विधि' शब्द अपूर्वविधि का वाचक है। कुमारिल के अनुसार अपूर्वविधि का लक्षण है—**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ**। 'अत्यन्तम् अप्राप्तौ विधिः' का अर्थ है—**विधेयार्थस्य केनापि प्रमाणेन अज्ञातत्वे सति तस्य विधायको वाक्यो विधिः** अर्थात् जिस पदार्थ का ज्ञान किसी भी प्रमाण से नहीं होता है, उस पदार्थ का विधान करने वाली विधि को विधि अर्थात् अपूर्वविधि कहते हैं। **अत्यन्तमप्राप्ति** का अर्थ है—किसी अन्य प्रमाण से बिल्कुल ज्ञान न होना। **यजेत स्वर्गकामः** इस विधिवाक्य से ज्ञात होता है कि यागानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु स्वर्गसाधनभूत याग का ज्ञान एतद् वाक्यातिरिक्त प्रत्यक्षादि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता है। इस प्रकार विधेय—याग **अत्यन्तमप्राप्त** है। अत्यन्तमप्राप्त याग का विधान **यजेत स्वर्गकामः** विधि करती है, अतएव **यजेत स्वर्गकामः** वाक्य को अपूर्वविधि माना जाता है।

कुमारिल के **विधिरत्यन्तमप्राप्तौ** इस अपूर्वविधिलक्षण की व्याख्या लौगाक्षिभास्कर ने इन शब्दों में किया है—**प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः**। याग स्वर्गप्राप्ति का साधन है; इसमें प्रमाण है—**यजेत स्वर्गकामः** यह वाक्य। इस प्रकार **यजेत स्वर्गकामः** प्रमाण है। **यजेत स्वर्गकामः** वाक्य के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणान्तर हैं। 'अप्राप्त' शब्द का अर्थ है—अज्ञात एवं 'प्रापक' शब्द का अर्थ है—ज्ञापक। विधेयार्थ—याग स्वर्गार्थक (स्वर्गरूप प्रयोजन वाला) है, जिसका विधान अन्य किसी प्रमाण से न होकर केवल **यजेत स्वर्गकामः** वाक्य से होता है, अतएव यह वाक्य विधि या अपूर्वविधि होता है। विभागसङ्ख्या १९ और २० में जिसे उत्पत्तिविधि कहा गया है, उसी को यहाँ विधि या अपूर्वविधि कहा गया है।

कुमारिल की उक्त कारिका में **नियमः पाक्षिके सति** अंश नियमविधि का परिचय देता है। **नियमः** यह पद लक्ष्य है और **पाक्षिके सति** अंश लक्षण। **पाक्षिके सति** का अर्थ है—विधेय की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर। अभिप्राय यह है कि विधेयार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर अप्राप्त विधेयांश की प्रापक विधि 'नियमविधि' कहलाती है। **विधिरत्यन्तमप्राप्तौ** के अप्राप्ति (शब्दार्थ) के साथ **पाक्षिके** इसके अर्थ का अन्वय विवक्षित है। तब **पाक्षिके सति** का अर्थ **विधेयार्थस्य पक्षे अप्राप्तौ सत्याम्** हुआ। इसके अनुसार पक्ष में अप्राप्त अर्थ के प्रापक विधिवाक्य को नियमविधि कहा जाता है। इसीलिये लौगाक्षिभास्कर ने **पाक्षिके सति** का व्याख्यान इस प्रकार किया है—**पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः**। इसी व्याख्या का विस्तार उदाहरणसहित किया गया है, जिससे लौगाक्षिभास्कर के नियमविधिलक्षण **नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः** का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

बहुत-सी ऐसी क्रियायें होती हैं, जिनका सम्पादन अनेक साधनों द्वारा सम्भव होता

है। इस प्रकार की क्रिया को **नानासाधनसाध्य** कहा जा सकता है। कभी-कभी प्रासङ्गिक क्रिया के सम्पादन हेतु अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होती या होने लगती है (एकसाधनप्राप्तौ), अभिप्रेत की नहीं। ऐसी स्थिति में अभिप्रेत अप्राप्त साधन की प्राप्ति जिस वाक्य के द्वारा करायी जाती है, उसे नियमविधि कहा जाता (**अप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधि-र्नियमविधिः**) है। उदाहरण के लिये व्रीहितुषविमोक (धान से भूसी हटाना) एक क्रिया है, जिसका अनुष्ठान (१) नखविदलन (नाखूनों से छीलना) से हो सकता है, (२) अश्मकुट्टन (पत्थर से कूटना) से हो सकता है, (३) अवहनन (मूसल से कूटना) से हो सकता है। इस प्रकार अन्य साधनों से भी तुषविमोक हो सकता है।[1] इस प्रकार तुषविमोक के अनेक साधनों द्वारा सम्पाद्य होने पर जब तुषविमोक में (अवघात के अतिरिक्त) नखविदलन आदि किसी भी साधन की प्राप्ति होने लगती है तब अवघात की अप्राप्ति हो उठती है। अतः उस अप्राप्त अविघात को प्राप्त कराने के लिये नियमविधि की प्रवृत्ति होती है। नियमविधि—(**व्रीहीनवहन्ति**) यहाँ पर अप्राप्त अवघात का विधान करती है। ध्यान रहे, प्रकृत स्थल में अनभिप्रेत एक साधन की प्राप्ति हो रही थी, जिसे बाध कर अभिप्रेत अप्राप्त साधन—अवघात का विधान किया गया है। अवघात द्वारा ही वैतुष्य (तुषविमोक) होने पर अपूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है, नखविदलन द्वारा होने पर नहीं; इसीलिये अवघात का नियमन किया जाता है। आशय यह है कि अवघात का प्रयोजन नियमापूर्व की उत्पत्ति है, तुषविमोकमात्र नहीं। अवघात होने पर तुषविमोक होता है (अन्वय) एवं अवघात के अभाव में तुषविमोक नहीं होता (व्यतिरेक)। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक द्वारा तुषविमोक की सिद्ध्यसिद्धि लोकतः प्राप्त है—सर्वविदित है; अतएव अवघात का विधान तुषविमोक के लिये नहीं है, अपितु जब उपायान्तर का ग्रहण होने लगता है और इस प्रकार अवघात की वैकल्पिक पक्ष में प्राप्ति नहीं होती देखी जाती है तब अवघात का विधान **व्रीहीनवहन्ति** इस नियमविधि द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अप्राप्त अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश की पूर्ति की गई। इसी अप्राप्तांशपूरण को नियम् कहा जाता है (**किन्तु नियमः। स चा प्राप्तांशपूरणम्**)।

नियमविधिस्थल में अप्राप्ति की प्राप्ति करायी जाती है। यदि विधेय की प्राप्ति हो ही रही-हो तो यहाँ नियमविधि की प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि अवघात प्राप्त ही हो रहा हो तो एक तो अवघात का विधान ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी प्राप्ति हो ही रही है और प्राप्त का विधान करने पर पुनरुक्ति दोष हो जायेगा। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर नियमविधि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये नियमविधि स्थल में—१. अनभिप्रेत साधन की प्राप्ति होने लगती है, २. अभिप्रेत साधन (अंश) की अप्राप्ति हो उठती है

१. "वितुषीभावरूपं प्रयोजनं हि अवहननेन नखविदलनेन अश्मकुट्टनादिना वेत्यनेकैरुपायैः साधयितुं शक्यते। (सारविवेचिनी)

और (३) अप्राप्त अंश का विधान (पूर्ति) किया जाता है। नियमविधिस्थल में तीनों विशेषतायें समुदित रूप में रहती हैं।

प्रसङ्ग—अब परिसङ्ख्याविधि का निरूपण किया जा रहा है—

६३. परिसङ्ख्याविधिलक्षणम्

उभयोश्च युगपत्प्राप्ताावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्याविधिः। यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य[1] युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति[2] भवति परिसङ्ख्याविधिः।

अर्थ—दोनों पदार्थों की एक ही काल में प्राप्ति होने पर दोनों में से एक पदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि को परिसङ्ख्याविधि कहा जाता है। उदाहरण के लिये **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** ऐसा ही एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है—पञ्जे वाले पाँच जीव भक्ष्य हैं। यह वाक्य पाँच पञ्चनख जीवों के भक्षण का विधान नहीं करता; क्योंकि पञ्चनखभक्षण पुरुष को स्वभावतः राग से ही प्राप्त है। उक्त विधिवाक्य अप्राप्तांश की पूर्तिरूप नियम का भी विधान नहीं करता। कारण, यहाँ एक पक्ष में पञ्चनखभक्षण की अप्राप्ति नहीं होती है, जिसकी प्राप्ति कराने के कारण उक्त वाक्य को नियमविधि माना जाय। पक्ष में अप्राप्ति इसलिये नहीं है कि जीव चाहे पञ्चनख हों अथवा अपञ्चनख, सभी सर्वदा पुरुष को भक्ष्यरूप में स्वाभाविक राग से प्राप्त हैं। अतएव **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** यह वाक्य पञ्च पञ्चनख से अतिरिक्त जीवों के भक्षण की निवृत्ति का परक है। इसी को परिसङ्ख्याविधि कहते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तत्र चेत्याद्युत्तरार्धं परिसङ्ख्याविधिपरं व्याचष्टे—उभयोश्चेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। अस्यात्यन्तमप्राप्तविधित्वरूपमपूर्वविधित्वमाशङ्क्य निराचष्टे—इदं हीति। तत्र हेतुमाह—तस्येति। पञ्चनखभक्षणस्येत्यर्थः। अस्य वाक्यस्य नियमविधित्वमपि निराचष्टे—नापीति। तत्रापि हेतुमाह—पञ्चनखेति। अत इति। विधिद्वयासम्भवादित्यर्थः। इदमिति। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति वाक्यमित्यर्थः। अपञ्चनखभक्षणवृत्तिस्तु न केनापि प्राप्तां ततश्च तद्विधायकत्वेन नास्य वाक्यस्यानुवादकत्वमपि। तथा च सैवात्र वाक्यार्थ इति भावः।**

अर्थबोधिनी—परि उपसर्ग का अर्थ 'वर्जन' और संख्या शब्द का अर्थ 'बुद्धि' होता है, अतएव **परिसङ्ख्या** शब्द का अर्थ **वर्जनबुद्धि** हुआ। वर्जनबुद्धि को उत्पन्न करने वाली विधि को 'परिसङ्ख्याविधि' कहा जाता है।[3]

---

१. पाठान्तर—पञ्चपञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य।
२. पाठान्तर—इदमपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति।
३. परिसङ्ख्या वर्जनबुद्धिः, तज्जनको विधिः परिसङ्ख्याविधिरित्यर्थः। (सारविवेचिनी)

परिसङ्ख्याविधि का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** है। प्रकृत उदाहरण वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड के एक श्लोक का अंश है। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः॥[1]

बालि रामचंद्र से कहते हैं कि—हे राम! खरगोश, साही, गोह[2], गैडा और कछुआ—ये पाँच पञ्चनख (जीव) ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के द्वारा भक्ष्य हैं।

जैसाकि अभी बताया जा चुका है, परिसङ्ख्या का अर्थ 'वर्जनबुद्धि' होता है, तभी तो **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** यह परिसङ्ख्या विधि भी वर्जनबुद्धि उत्पन्न करती है। उक्त विधि के द्वारा शशक आदि पाँच पञ्चनखों के भक्षण का विधान नहीं है; अपितु यह विधि उक्त पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त जीवों के भक्षण से पुरुष को निवृत्त करती है; किन्तु निवृत करने के कारण **पंञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** इस वाक्य को निषेधवाक्य नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निषेधस्थल में 'नञ्' का अनिवार्यतः प्रयोग होता है, किन्तु परिसङ्ख्यास्थल में 'नञ्' का प्रयोग नहीं होता है। परिसङ्ख्या की विधिरूपेण प्रवृत्ति होती है, इसलिये परिसङ्ख्या को विधि कहा जाता है। भले ही उसका अर्थ निवृत्ति में पर्यवसित होता हो।

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः को अपूर्वविधि अर्थात् उत्पत्तिविधि नहीं माना जा सकता। कारण, अपूर्वविधिस्थल में विधेय अत्यन्त अप्राप्त है; किन्तु प्रकृतस्थल में पञ्चनखभक्षण रागतः प्राप्त है। आशय यह है कि क्षुधा की तृप्ति करने की इच्छा सभी पुरुषों के लिये स्वाभाविक है। जिस पदार्थ को प्राप्त करने की स्वभावतः इच्छा होती है, उसे 'स्वभावतः प्राप्त' या 'रागतः प्राप्त' कहते हैं। क्षुधा का निवारण मांसभक्षण से भी होता है, अतएव क्षुधित व्यक्ति के लिये प्रत्येक जीव का भक्षण रागतः प्राप्त है, वे जीव चाहे पञ्चनख (पाँच नाखूनों वाले अर्थात् पञ्जे वाले) हों अथवा अपञ्चनख (जिनके पाँच नाखून नहीं होते, जैसे—घोड़ा, गाय आदि)। पञ्चनख जीवों के अन्तर्गत ही शशक आदि पञ्च पञ्च-पञ्चनख जीव भी होते हैं। इस प्रकार 'पञ्च पञ्चनखभक्षण' की प्राप्ति हो जाती है। फिर 'पञ्च पञ्चनखभक्षण' को अत्यन्त अप्राप्त कैसे माना जाता सकता है, जिसका विधान मानकर

---

१. यह श्लोक रामेश्वरकृत कौमुदी से उद्धृत किया गया है, किन्तु सारविवेचिनी के अनुसार श्लोक का रूप यह होना चाहिये—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥

२. वैसे शब्दकोश में 'गोधा' का अर्थ 'घड़ियाल' और 'गोधिका' का अर्थ 'गोह' किया गया है।

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः को अपूर्व विधि माना जाय। इदं वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं तस्य रागतः प्राप्तत्वात् वाक्य द्वारा ग्रन्थकार ने पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः इस वाक्य को अपूर्वविधि मान लेने का खण्डन किया है।

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः इस वाक्य को नियमविधि भी नहीं माना जा सकता (नापि नियमपरम्)। जैसा कि अभी बतलाया जा चुका है, पञ्चनख भक्षण और अपञ्चनखभक्षण— इन दोनों की एक साथ प्राप्ति होने के कारण (**पञ्चनखापञ्चनखभक्षस्य युगपत्प्राप्तेः**) पक्ष में पञ्चपञ्चनखभक्षण की अप्राप्ति नहीं होती (**पक्षेऽप्राप्त्यभावात्**); फिर 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' को नियमविधि कैसे मान लिया जाय? नियमविधि होने के लिए आवश्यक है कि वाक्य पक्ष में अप्राप्त पदार्थ का विधायक हो, जैसा कि नियमविधि का लक्षण है— **पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः**[1]।

इसलिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' वह विधि शशक आदि पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त अन्य जीवों के भक्षण की निवृत्ति की बोधिका होती है। इस प्रकार निवृत्तिबोधक अर्थात् वर्जनबुद्धिजनक होने के कारण ही प्रकृत वाक्य को परिसङ्ख्याविधि कहा जाता है। जिन जीवों के भक्षण की निवृत्ति अभिप्रेत है, वे दो श्रेणियों में इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं—

१. अपञ्चनख—जिन जीवों के पञ्चनख अर्थात् पञ्जे नहीं होते।

२. खरगोश, साही, गोह, गैंडा और कछुआ—इन पाँच पञ्चनखों के अतिरिक्त अन्य सभी पञ्चनख जीव।

प्रकृत स्थल में 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' एवं तदतिरिक्त 'अपञ्चपञ्चनखभक्षण' इन दो की एक ही काल में प्राप्ति हो रही थी, जिनमें से एक अपञ्चपञ्चनखभक्षण की व्यावृत्ति की गई है (**उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्याविधिः**)। अभिप्राय यह है कि परिसङ्ख्या-स्थल में नियमविधि की भाँति पाक्षिक प्राप्ति नहीं होती; अपितु दोनों पदार्थों की युगपत्—एक काल में ही प्राप्ति होती है। इन दोनों में से एक की निवृत्ति की जाती है।

इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरम् के स्थान पर **इदं हि वाक्यं न पञ्चपञ्चनखभक्षणपरम्** होना चाहिये; क्योंकि **पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः** इस परिसङ्ख्याविधि में 'पञ्च' पद का भी प्रयोग किया गया है। इस स्थल पर मीमांसान्यायप्रकाश में **इदं हि वाक्यं न भक्षणविधिपरम्** यह पाठ प्राप्त होता है। इसी प्रकार **इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्** पाठ भी अनेक पुस्तकों में प्राप्त होता है; किन्तु इस पाठ को शुद्ध नहीं माना जाता; क्योंकि अपञ्चपञ्चनखों के भक्षण की निवृत्ति होती है, न कि केवल अपञ्चनखों के भक्षण

१ देखिए—विभागसङ्ख्या-६२

की निवृत्ति होती है। अतएव यहाँ **अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्** पाठ समीचीन माना जाता है।[१] चिन्नस्वामिशास्त्री ने सूचित किया है कि मीमांसान्यायप्रकाश में भी इसी स्थल पर **अपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्** पाठ अनेक पुस्तकों में प्राप्त हुआ है, किन्तु व्याख्या के कष्टसाध्य होने के कारण उन्होंने इस पाठ को छोड़ दिया तथा अन्य पुस्तकों में **पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरम्** इस पाठ को ग्रहण किया है।[२]

प्रसङ्ग—अब परिसङ्ख्याविधि के भेदों का निरूपण हो रहा है—

६४. परिसङ्ख्याया भेदद्वयम्

सा च द्विविधा—श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र हि एव आवपन्ति' इति श्रौती परिसङ्ख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

अर्थ—परिसङ्ख्याविधि के दो प्रभेद हैं—१. श्रौती एवं २.लाक्षणिकी। श्रौती परिसङ्ख्याविधि का उदाहरण **अत्र हि एव आवपन्ति**[३] (यहीं पर आवाप—शब्द-प्रक्षेपण करते हैं) है। प्रकृत उदाहरण में श्रुति 'एव' शब्द से पवमान के अतिरिक्त अन्य स्तोत्रों की निवृत्ति का बोध होता है, इसलिये इसे श्रौती परिसङ्ख्या कहते हैं। लाक्षणिकी परिसङ्ख्याविधि का उदाहरण **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** है, क्योंकि यहाँ निर्दिष्ट से अतिरिक्त की निवृत्ति का सूचक 'एव' जैसा कोई पद सुना नहीं जाता, अपितु लक्षण द्वारा उसकी कल्पना करनी पड़ती है, अतएव यह लाक्षणिकी परिसङ्ख्या तीन दोषों से युक्त है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**सा च परिसंख्या द्विविधेत्याह—सा चेति। आद्यामुदाहरति—तत्रेति। द्वयोः परिसङ्ख्ययोर्मध्य इत्यर्थः। अत्रेति। प्रकृत इत्यर्थः। अवयन्तीति। अवजानन्तीत्यर्थः, गायन्तीति यावत्। श्रौत्याः परिसङ्ख्यायास्तत्त्वे हेतुमाह—एवकारेणेति। द्वितीयामुदाहरति—पञ्चेति। पञ्च पञ्चनखास्तु 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः' इत्यादिवचनोदाहृता बोध्याः। अस्या अपि तत्त्वे हेतुमाह—इतरनिवृत्तीति। अत एवेति। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावादित्यर्थः। एषेति। लाक्षणिकीत्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—परिसङ्ख्या के दो भेद होते हैं—श्रौती और लाक्षणिकी। परिसङ्ख्या द्वारा प्राप्त दो पदार्थों में से विधिश्रुत से इतर की व्यावृत्ति की जाती है। **पञ्च पञ्चनखा**

१. देखिये—अर्थसंग्रह (गजेन्द्रगदकरव्याख्या)

२. अत्रापञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमित्येव पाठः उपलभ्यते मुद्रितपुस्तकेषु प्रायशः तथापि अपञ्चनखेत्यस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव व्याख्यातव्यतया क्लिष्टकल्पनापत्तेः पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव पाठं मैसूरपुरे तैलाङ्गाक्षरेषु मुद्रितपुस्तके लिखितपुस्तकेषु चोपलब्धवद्भिरस्माभिः स एव पाठो मूले निवेशितः। (सारविवेचिनी)

३. पाठान्तर—अत्र ह्येवावयन्ति। 'आवयन्ति' का अर्थ गायन्ति (गाते हैं) होता है।

भक्ष्याः विधि में 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' श्रुत है। विधिश्रुत से इतर हुआ—'अपञ्चपञ्चनखभक्षण'। इसी की व्यावृत्ति की जाती है। जिस परिसंख्या में इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात् श्रुत होता है, उसे श्रौती परिसङ्ख्या कहते हैं। यथा—**अत्र ह्येवावपन्ति** इस वाक्य में 'एव' शब्द इतरव्यावर्तक है; अतएव यह वाक्य श्रौती परिसङ्ख्या माना जाता है।

अत्र ह्येवावपन्ति वाक्य का अर्थ है—'यहीं पर आवाप होता है'। यहाँ आवाप का अर्थ है—सामों का प्रक्षेप[1]—अतिरिक्त सामशब्दों का योग। पवमान क्रिया के प्रसङ्ग में कहा गया है कि—**त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप्, अत्र ह्येवावपन्ति, अत एवोद्वपन्ति।**[2] 'उद्वाप' शब्द का अर्थ 'उद्धार' अर्थात् 'निष्कासन' (निकाल देना) होता है।[3] उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामों का आवाप एवं उद्वाप केवल पवमान के ही गायत्री, बृहती एवं अनुष्टुप् मात्र तीन छन्दों में होता है। इस 'अत्र ह्येवावपन्ति' का परिसङ्ख्याबोधित अर्थ हुआ—**(गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्) एतत्त्रितयातिरिक्तेषु छन्दस्सु पवमानातिरिक्तस्तोत्रेषु वा न समावापः कार्य।**[4] सारांश यह कि आवाप पवमान के उक्त तीन छन्दों के अतिरिक्त अन्य स्थल पर नहीं करना चाहिये।

अत्र ह्येवावपन्ति प्राठ प्राचीन प्रतियों एवं व्याख्याओं में मिलता है, चित्रस्वामी ने अशुद्ध होने के कारण इस पाठ को अगाह्य माना है।[5]

जिस परिसङ्ख्या विधि में 'एव' आदि इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात् श्रुत नहीं होता; अपितु लक्षणा द्वारा इतरव्यावर्तक शब्द की कल्पना की जाती है, उसे 'लाक्षणिकी परिसङ्ख्या कहते हैं।[6] **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** वाक्य में 'एव' जैसे इतरव्यावर्तक पद का प्रयोग नहीं किया गया है, अपितु कल्प्य है; इसलिये इस वाक्य को लाक्षणिकी परिसङ्ख्या माना जाता है।

इतरव्यावर्तक शब्द की कल्पना की जाने के कारण लाक्षणिकी परिसङ्ख्या में तीन दोष होते हैं, जिनका विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा।

---

१. देखिये—तत्र सङ्ख्यासम्पत्त्यर्थं स्थानान्तरादानीतानां साम्नां पवमानस्तोत्रेषु तदितरस्तोत्रेषु च समुच्चयेनावापः प्राप्तः। तथा आवापः प्रक्षेपः। (सारविवेचिनी)

२. सारविवेचिनी।

३. उद्वाप उद्धारः निष्कासनमिति यावत्। (सारविवेचिनी)

४. सारविवेचिनी।

५. एवं च सति यदत्रार्थसंग्रहव्याख्यातृभिः शिवयोगिभिक्षुभिः अत्र ह्येवावपन्ति इति स्वकपोलकल्पितं पाठमवलम्ब्य अवयन्तीति अवजानन्तीत्यर्थः गायन्तीति यावत् इति व्याख्यातम्, यदपि कैश्चित् एतद्ग्रन्थव्याख्याने पवमानसंज्ञकनानास्तोमलक्षणानि सामानि स्तोमाख्यमन्त्राणाम् इत्याद्किमुक्तं तत्सर्वं सम्प्रदायागतशास्त्रीयपदार्थज्ञानमूलकमित्युपेक्षितव्यम्। (सारविवेचिनी)

६. यत्र शक्तशब्दो नास्ति, निवृत्तिबोधनं तु लक्षणया सा लाक्षणिकीत्यर्थः। (सारविवेचिनी)

प्रसङ्ग—अब लाक्षणिकी परिसङ्ख्या के तीन दोषों का निरूपण किया जा रहा है—

६५. परिसङ्ख्याया दोषत्रयम्

दोषत्रयं च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्—

श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसङ्ख्या त्रिदूषणा।। इति।

श्रुतस्य पञ्चपञ्चनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुताया अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठः। इति दिक्।

अर्थ—लाक्षणिकी परिसङ्ख्या के तीन दोष ये हैं—१. श्रुतहानि, २. अश्रुतकल्पना और ३. प्राप्तबाध। कहा भी गया है कि 'परिसङ्ख्या'—१. श्रुत अर्थ के परित्याग, २. अश्रुत अर्थ की कल्पना और ३. रागतः प्राप्त की बाधा—इस प्रकार तीन दोषों से युक्त होती है। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः इस लाक्षणिकी परिसंख्या में उक्त तीन दोषों को इस प्रकार स्पष्टतः देखा जा सकता है—**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** का अर्थ अपञ्चपञ्चनखभक्षण का परित्यागरूप प्रथम दोष आपन्न हुआ। विधि में 'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' को नहीं सुना जाता है, तथापि यहाँ विधिवाक्यों के अर्थरूप में इसकी कल्पना की गई है। इस प्रकार उक्त कल्पना दूसरा दोष हुआ। पञ्च पञ्चनख जीवों एवं तदितर जीवों का भक्षण रागतः प्राप्त है, फिर भी 'इतर जीवों के भक्षण की निवृत्ति' विधि द्वारा समझनी होती है, अतएव 'प्राप्तनिवृत्ति' अर्थात् 'प्राप्तबाध' यह तीसरा दोष हुआ। उक्त तीनों दोषों में से प्रथम दो दोष श्रवणसम्बद्ध होने से शब्दगत माने जाते हैं एवं तीसरा दोष रागतः प्राप्त की निवृत्ति होने के कारण अर्थनिष्ठ माना जाता है, साक्षात् रूप से श्रवणसम्बद्ध न होने के कारण शब्द-निष्ठ नहीं माना जाता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**दोषत्रयं प्रदर्शयति**—दोषत्रयं चेति। **तत्र श्रुतहानौ हेतुमाह**—श्रुतस्येति। **अश्रुतकल्पनायां हेतुमाह**—अश्रुतेति। **प्राप्तस्य बाधेऽपि हेतुमाह**—प्राप्तस्येति। **रागतः प्राप्तस्येत्यर्थः। अस्य दोषत्रयस्य व्यवस्थया वृत्तित्वमाह**—अस्मिंश्चेति। **दोषत्रयमध्य इत्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—लाक्षणिकी परिसङ्ख्या में इतरव्यावर्तक शब्द का प्रयोग नहीं होता है; इसीलिये इसमें तीन दोष ये हैं—१. श्रुतार्थपरित्याग, २. अश्रुतार्थकल्पना एवं ३. प्राप्तबाधा।

जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है, **पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः** वाक्य का अर्थ 'अपञ्च-पञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' समझा जाता है; किन्तु वाक्य में 'पञ्चपञ्चनखभक्षण' साक्षात् श्रुत है और वाक्यार्थ होता है—'अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति'। इस प्रकार यहाँ श्रुत अर्थ—पञ्च-पञ्चनखभक्षण का परित्याग किये जाने के कारण श्रुतार्थपरित्याग नामक दोष माना जाता

है। वाक्य में अपञ्चपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति शब्दशः उपात्त (श्रुत) नहीं है, फिर वाक्यार्थ में इसकी कल्पना किये जाने के कारण यहाँ 'श्रुतार्थकल्पना' नामक दोष माना जाता है। 'पञ्चनखभक्षण' एवं 'अपञ्चनखभक्षण' पुरुष को रागतः प्राप्त होता है, किन्तु प्राप्तभक्षणैकदेशनिवृत्ति-इतरभक्षणनिवृत्ति होने के कारण यहाँ 'प्राप्तबाध' नामक दोष माना जाता है। अभिप्राय यह है कि सभी जीवों का भक्षण रागप्राप्त है, फिर कुछ के अतिरिक्त (प्राप्तैकदेश) सभी पञ्चापञ्चनख जीवों के भक्षण की निवृत्ति 'प्राप्तबाध' दोष है।

उक्त तीनों दोषों में से 'श्रुतार्थपरित्याग' एवं 'अश्रुतार्थकल्पना' इन दोनों दोषों का सम्बन्ध शब्दात्मक वाक्य से है, अतएव ये दोनों दोष शब्दनिष्ठ हैं। 'प्राप्तबाध' दोष का सम्बन्ध रागतः प्राप्त होने के कारण वाक्य से सम्बन्धित नहीं है; अपितु इसका सम्बन्ध अर्थ से है। अतएव इसे 'अर्थनिष्ठ' कहते हैं।

इस प्रकार संक्षिप्त विवेचन द्वारा ग्रन्थकार ने पाठकों को प्रकृत विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में मार्गदर्शन किया है (इति दिक्), जिसके आधार पर पाठक स्वप्रयास द्वारा ग्रन्थार्थ को विस्तार से समझ सकते हैं।

प्रसङ्ग—६१वें विभाग में ग्रन्थकार मन्त्र के स्वरूप की व्याख्या कर रहे थे। उस विभाग से लेकर यहाँ तक आनुषङ्गिक विषय—विधित्रय का विवेचन हुआ। अब ग्रन्थकार पुनः अपने मूलविषय—मन्त्रमीमांसा की ओर लौट आये—

६६. मन्त्रविशेषाणामुच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वम्

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न सम्भवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्या अदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति।

अर्थ—जो मन्त्र अनुष्ठान में उपयुज्यमान पदार्थों के स्मारक नहीं हो सकते हैं, अगत्या यह मान लिया जाता है कि उन मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट को उत्पन्न करने के लिये होता है। इसलिये मन्त्रोच्चारण व्यर्थ नहीं होता है।

ननु कथं सर्वेषां मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वमुपपद्यते हुंफडादिमन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वासम्भवादित्याशङ्क्याह—येषामित्यादिना। तदुच्चारणस्येति इति। हूंफडादिमन्त्रोच्चारणस्येत्यर्थः। अनन्यगत्यादृष्टार्थत्वमिति पदच्छेदः। इति नानर्थक्यमिति। अतो हेतोर्हुंफडादिमन्त्राणां नानर्थक्यमित्यर्थः।

अर्थबोधिनी—विभाग १६ में बताया जा चुका है कि अनुष्ठान में समवेत अर्थों का स्मरण कराना मन्त्रों का प्रयोजन होता है। प्राप्त मन्त्राक्षरों द्वारा वही अर्थ अभिहित होता है, जिसका सम्बन्ध अनुष्ठान से होता है।[1]

१. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। (ऐतरेयब्राह्मण-१.५)

किन्तु कुछ मन्त्र ऐसे भी होते हैं, जो प्रयोगसमवेत अर्थ का स्मरण करा सकने में समर्थ नहीं होते; जैसे 'कवचाय हुम्', 'अस्त्राय फट्' आदि मन्त्र। फिर क्या इन मन्त्रों के उच्चारण का कुछ भी प्रयोजन नहीं है[१] अतएव क्या ये मन्त्र प्रयोजनहीन—व्यर्थ हैं? उत्तर है—नहीं। जिन मन्त्रों का अर्थस्मरणरूप दृष्ट प्रयोजन नहीं प्राप्त होता है, उन 'कवचाय हुम्' आदि मन्त्रों के उच्चारण से अदृष्ट उत्पन्न होता है, यह मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे मन्त्रों को अदृष्टार्थक मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार किसी भी मन्त्र का उच्चारण किसी भी स्थिति में व्यर्थ नहीं होता है।

मन्त्रप्रकरण समाप्त



१. हुम्फटादिमन्त्रोच्चारणस्येत्यर्थः। (कौमुदी)

(घ) नामधेयप्रकरणम्

प्रसङ्ग—वेद के पाँच प्रभेदों[1] में से विधि एवं मन्त्र का विवेचन हो चुका। अब क्रमप्राप्त नामधेय का विवेचन किया जा रहा है—

६७. नामधेयलक्षणम्

नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। तथाहि—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयं, तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते। तथा हि—अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात् फलोद्देश्येन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र 'कोऽसौ यागविशेषः' इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्' इत्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्।

अर्थ—नामधेयों की यही सार्थकता है कि वे विधेय क्रिया के व्यावर्तक होते हैं अर्थात् नामधेयों से विधेय क्रियामात्र का बोध होता है। उदाहरण के लिये उद्भिदा यजेत पशुकामः एक विधिवाक्य है। यहाँ 'उद्भिदा' शब्द याग का नामधेय है। इसके द्वारा विधेय क्रिया व्यावृत्त होती है। इस कथन को इस प्रकार समझें—उद्भिदा यजेत पशुकामः इस वाक्य द्वारा पशुफलक ऐसे याग का विधान किया जाता है, जिसका विधान किसी प्रमाण से नहीं हो पाया है। ऐसा निश्चय होने पर किस याग का विधान है यह समझना सरल है कि यागसामान्य अर्थात् जिस किसी याग का विधान नहीं हो सकता, किसी विशेष याग का ही विधान होना चाहिये। फिर 'वह कौन-सा विशेष याग है?' ऐसी आकाङ्क्षा होने पर वह याग 'उद्भिद् संज्ञक है' इस प्रकार 'उद्भिद्' याग का नाम ठहरता है। उद्भिदा यजेत पशुकामः का मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होगा—उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्। यहाँ हम देखते हैं कि उद्भिदा और यागेन पदों में सामानाधिकरण्य है, अतएव दोनों एक हैं। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब 'उद्भिद्' याग का नाम हो।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**मन्त्रभागस्य यथायथं प्रयोजनवत्त्वमुपपाद्येदानीं क्रमप्राप्तं नामधेयानां सार्थक्यमुपपादयति**—नामधेयानामिति। विधेयार्थपरिच्छेदकतयेति। **विजातीयव्यावर्तकत्वेन विधेयार्थनिश्चायकतयेत्यर्थः। विधेयार्थस्यैव समर्थकतयेति यावत्। एतदेव प्रदर्शयति**—तथा हीत्यादिना। तेन चेति। **उद्भिच्छब्देन चेत्यर्थः। उद्भिच्छब्दस्य विधेयार्थपरिच्छेदकतया नामधेयत्वप्रदर्शनाय भूमिकामारचयति**—तथा हीत्यादिना। अनेनेति। 'उद्भिदा

---

१ देखिये—विभागसङ्ख्या-१२

यजेत पशुकामः' इत्यनेनेत्यर्थः। फलोद्देशेनेति। पशुरूपफलोद्देशेनेत्यर्थः। यागेति। साधन-वैलक्षण्यमन्तरेण फलवैलक्षण्यानुपपत्तेर्नात्र यागसामन्यं विधीयते। ततश्च यागविशेष एव विधीयत इत्यर्थः। तत्रेति। यागविशेषस्य विधेयत्व इत्यर्थः। क इति। कोऽसौ यागविशेष इति यागविशेषापेक्षायामित्यर्थः। उद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायत इति। उद्भिच्छ-ब्दात्पुनरुद्भिन्नामको यो यागः स एवात्र यागविशेष इति विज्ञायत इत्यर्थः। एवं च सिद्धमुद्भिच्छब्दस्य धात्वर्थसामानाधिकरण्येनान्वयं फलितमाह—उद्भिदेति। ननूद्भिच्छब्दस्य नीलमुत्पलमित्यत्र नीलपदस्योत्पलपदसामानाधिकरण्यवद्यजिसामानाधिकरण्यं भवे-त्किंनामधेयत्वेनेति चेन्न, वैषम्यात्। तथा हि—तत्र हि नीलपदस्यार्थो नीलगुण उत्पल-पदार्थादुत्पलरूपद्रव्यादतिरिक्तो भवति, लक्षणया तु नीलपदस्य तादृशद्रव्यपरत्वेनोत्पल-पदसामानाधिकरण्यमुपपद्यते। उद्भिच्छब्दस्य तु यज्यवगतयागविशेषान्नातिरिक्तो-ऽर्थोऽस्ति, तस्यैव तत्र विशेषत्वसमर्पकत्वात्। ततश्चार्थान्तरवाचकत्वाभावेन नोद्भिच्छब्दस्य नीलशब्दस्योत्पलशब्दसामानाधिकरण्यवद्यजिसामानाधिकरण्यमुपपद्यते, किं तर्हि 'वैश्वदेव्यामिक्षे'त्यत्रामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्दसामानाधिकरण्यवत्, वैश्वदेवीशब्दस्य हि देवतातद्धितत्वात् तस्य च 'सास्य देवते'ति सर्वनामार्थे स्मरंणात् सर्वनाम्नां चोप-स्थितविशेषवाचित्वेन विशेषपरत्वम्। तत्र कोऽसौ वैश्वदेवीशब्दोपात्तो विशेष इत्यपेक्षायाम् आमिक्षापदसान्निध्यादामिक्षारूपो विशेष इत्यवगम्यते। यथाहुः—

आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः।
आमिक्षापदसान्निध्यादस्यैव विषयार्पणम्।। इति।

तस्माद्यथा वैश्वदेवीशब्दोपात्तविशेषसमर्पकत्वेनामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्देन सामानाधिकरण्यमेवं सामान्यस्याविधेयत्वाद्यज्यवगतयागविशेषसमर्पकत्वेनैवोद्भिच्छब्दस्य यजिसामानाधिकरण्यमित्युक्तप्रकारेणैव नामधेयानामन्वयः साधुरिति। तथा चोक्तं 'तद-धीनत्वाद्यागविशेषसिद्धे'रिति।

अर्थबोधिनी—'नामधेय' का संक्षिप्त रूप 'नाम' (संज्ञा) है। मीमांसादर्शन में 'नामधेय' एक पारिभाषिक शब्द है। 'नामधेय' शब्द का अर्थ किसी 'याग का नाम' समझा जाता है, अन्य अर्थ नहीं। उदाहरण के लिए **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इस विधि में प्रयुक्त 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ 'उद्भिद्' नामक एक यागविशेष समझा जाता है। यद्यपि 'उद्भिद्' शब्द के 'खनित्र[1] (कुदाली)' आदि भी अर्थ गृहीत होते हैं, किन्तु वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार उद्भिद् शब्द यागनामधेय या नामधेय है।

नामधेय का प्रयोजन होता है—विधेय अर्थ का परिच्छेद करना। विधेय अर्थ कोई क्रिया होती है। उस क्रिया का सजातीय एवं विजातीय अर्थों से भिन्न रूप में समझना

१. उद्भिद्यते ऊर्ध्वं विदीर्यते भूमिरनेनेति व्युत्पत्त्या भूमेरूर्ध्वविदारणसाधनं खनित्रादिः पूर्वपक्षेऽर्थो वेदितव्यः। (सारविवेचिनी)

विधेयार्थपरिच्छेद हुआ। उदाहरण के लिये 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' विधि में 'यजेत' पद से 'याग'रूप अर्थ का विधान किया जाता है। याग के विधेयार्थ होने पर भी 'याग' अर्थात् यागसामान्य का—सभी यागों का विधान नहीं हो सकता।[1] विधान तो यागविशेष किसी एक याग का ही हो सकता है। कारण, यागानुष्ठान का विशेष फल पशु है, अतएव साधनभूत याग भी विशेष ही होना चाहिये।[2] यह निश्चय होने पर कि यागविशेष का विधान किया गया है, यह आकाङ्क्षा होती है कि वह यागविशेष कौन-सा है? इस आकाङ्क्षा का उपशमन **उद्भिदा यजेत पशुकामः** वाक्यगत 'उद्भिद्' शब्द द्वारा होता है। अर्थात् वह यागविशेष 'उद्भिद्' ही है। **उद्भिदा यजेत पशुकामः** का मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होता है—**उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्।** यहाँ 'उद्भिदा' एवं 'यागेन'—इन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य है; क्योंकि दोनों पदों के वचन, विभक्ति एवं लिङ्ग समान हैं। इस प्रकार 'उद्भिद्' याग का 'नामधेय' अर्थात् नाम है। सारांश यह कि 'उद्भिद्' यागविशेष की संज्ञा है।

प्रसङ्ग—अब उन कारणों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनके आधार पर शब्दों को याग का नामधेय माना जाता है—

६८. नामधेयत्वे निमित्तचतुष्टयम्

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्—मत्वर्थलक्षणाभयात्, वाक्यभेदभयात्, तत्प्रख्यशास्त्रात्, तद्व्यपदेशात् चेति।

अर्थ—किसी शब्द को नामधेय अर्थात् याग का नाम मानने में चार निमित्त कारण होते हैं—१. मत्वर्थलक्षणा के भय से अर्थात् मत्वर्थलक्षणा न माननी पड़ जाय, इस भय से, २. वाक्यभेद के भय से, ३. तत्प्रख्यशास्त्र से अर्थात् अन्यगुणबोधक वाक्य के विद्यमान होने के कारण एवं ४. तद्व्यपदेश से अर्थात् गुण के द्वारा उपमान होने का उल्लेख होने से।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**तच्च निमित्तचतुष्टयाद्भवतीत्याह**—नामधेयत्वं चेति। **निमित्तचतुष्टयं निर्दिशति**—मत्वर्थेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—चारों निमित्तों का विस्तृत विवेचन क्रमशः अग्रिम विभागों में किया जायेगा।

प्रसङ्ग—कहीं मत्वर्थलक्षणा दोष न हो जाय, इस भय से किसी शब्द का अर्थ

---

१. 'गामानय' वाक्य द्वारा गवानयन की आज्ञा दी जाती है, किन्तु गो सामान्य का आनयन सम्भव नहीं होता, अतएव गो विशेष का ही आनयन होता है। इसी प्रकार 'यजेत' पद से यागसामान्य का विधान नहीं हो सकता, यागविशेष का ही विधान हो सकता है।

२. साधनवैलक्षण्यमन्तरेण फलवैलक्षण्यानुपपत्तेर्नात्र यागसामान्यं विधीयते, ततश्च यागविशेष एव विधीयते। (कौमुदी)

नामधेय—यागविशेष का नाम समझ लिया जाता है, इसी विषय का स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

६९. मत्वर्थलक्षणाभयान्नामधेयत्वम्

तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वाद् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' इति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

अर्थ—**उद्भिदा यजेत पशुकामः** यहाँ मत्वर्थलक्षणा के भय से उद्भिद् शब्द को याग का नामधेय माना जाता है। **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इसी एक वाक्य से फल (पशु) को उद्देश्य करके याग का विधान और याग को उद्देश्य करके गुण (उद्भिद् = खनित्र) का विधान नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा। यदि वाक्यभेद को दूर करने के लिये 'उद्भिद्' शब्द को गुणवाची मानकर प्रमाणान्तर से अप्राप्त याग का विधान किया जाय तो इस स्थल में गुणविशिष्ट विधि माननी होगी। ऐसी स्थिति में **उद्भिदा यजेत पशुकामः** का अर्थबोधवाक्य **उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्** होगा और इस प्रकार 'उद्भिद्वता' पद में मत्वर्थलक्षणा माननी पड़ जायेगी, जो कि दोष है। इस विषय का विवेचन विभागसङ्ख्या १५ में किया गया है। अतएव लक्षणा न माननी पड़े, इसलिये 'उद्भिद्' शब्द को याग का नामधेय माना गया है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तत्राद्यनिमित्तविषयमुदाहरति—तत्रोद्भिदा यजेतेति। तत्रेति। चतुर्णां मध्य इत्यर्थः। अत्र मत्वर्थलक्षणापत्तिप्रदर्शनाय तावद्वाक्यभेदमापादयति—न तावदिति। अस्मिन्पक्षे तद्भिद्यते भूमिरनेनेति व्युत्पत्त्या खनित्रवाच्यसावुद्भिच्छब्दो भवेत्, तदा च 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यनेन वाक्येन यागेन पशुं भावयेद्यागं च खनित्रेण भावयेदिति फलं प्रति यागविधानं यागं प्रति च गुणविधानं क्रियेत, तच्च न युज्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—वाक्येति। आवृत्तिरूपवाक्यभेदापत्तेरित्यर्थः। नन्वनेन वाक्येन खनित्ररूपो गुण एव विधीयते। 'दध्ना जुहोती'त्यनेन गुणविधिना समानत्वात्। न चात्र पशुफलकः कश्चिद्यागो विधीयत इति वाच्यम्। पशूनां गुणफलत्वात्। यथा गोदोहनेन पशुकामस्येत्यत्र पशवो गोदोहनगुणस्य फलं तथेह खनित्रगुणस्य फलमस्तु, यदि 'चमसेनापः प्रणयती'ति विहितं प्रकृतमपां प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनं विधीयते तर्ह्यत्रापि ज्योतिष्टोमेन यजेतेति विहितं प्रकृतं ज्योतिष्टोममाश्रित्य खनित्रं विधीयतां तस्माद् गुणविधिरित्याशङ्क्य पशुकामो'यजेतेत्यस्य पदद्वयस्यायमर्थः—पशुरूपं फलं यागेन कुर्यादिति। तत्र केन यागेनेत्यपेक्षायां उद्भिदेति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेनान्वेति। उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेनेति

शक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते। न चैवमपि गुणविधिनामधेयत्वयोः शब्दनिर्वचन-ख्यात्र निर्णय इति वाच्यम्। सामानाधिकरण्यस्य निर्णायकत्वात्। तथा हि उद्भिन्नामकेन यागेन पशुरूपं फलं कुर्यादित्युक्तं सामानाधिकरण्यं लभ्यते। गुणविधित्वे तु खनित्रेण साध्यो यो यागस्तेन तादृशफलं कुर्यादित्येवं वैयधिकरण्यं स्यात्। तच्चायुक्तम्। किञ्च अनेन वाक्येन ज्योतिष्टोमे खनित्ररूपो गुणो विधातुं शक्यते, तस्य सोमेन यजेतेत्युत्पत्ति-विशिष्टसोमरूपगुणावरुद्धत्वात्। किञ्च यद्यस्योद्भिच्छब्दस्य खनित्ररूपगुणसमर्पकत्वं स्वीक्रियते तदा यत्र तेन गुणः समर्पणीयस्तादृशकर्मणोऽप्यप्राप्तत्वादनेन वाक्येन खनित्ररूपगुणविशिष्टकर्मविधानमेव वक्तव्यमन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततश्चोद्भिच्छब्दा-र्थरूपखनित्रवता यागेनेति सामानाधिकरण्येनान्वयो भविष्यति। तथा च मत्वर्थलक्ष-णापत्तिरिति परिहरति—उद्भिच्छब्दस्येत्यादिना। उक्तमेवेति। 'सोमेन यजेते'ति विध्य-र्थनिरूणप्रस्ताव इति शेषः।

अर्थबोधिनी—उद्भिदा यजेत पशुकामः इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'उद्भिद्' शब्द यागविशेष का नाम है। यागविशेष के नाम को ही 'नामधेय' अथवा 'यागनामधेय' कहा जाता है। यदि प्रकृत स्थल में 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय न माना जाय तो मत्वर्थलक्षणा हो जाने का भय है। मत्वर्थलक्षणा एक दोष है[1] जिससे बचने के लिये 'उद्भिद्' शब्द याग का नामधेय मान लिया गया है।

'उद्भिद्' शब्द को नामधेय न मानने पर मत्वर्थलक्षणा की प्राप्ति इस प्रकार होती है—यदि 'उद्भिद्' शब्द को गुणवाचक माना जायेगा तो **उद्भिदा यजेत पशुकामः** को भी 'दध्ना जुहोति' की भाँति गुणविधि[2] माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में 'उद्भिद्' शब्द का अर्थ 'खनित्र' अर्थात् 'कुदाली' होगा। खनित्र से भूमि खोदी जाती है (उद्भिद्यते); इसीलिये खनित्र को 'उद्भिद्' कहा जाता है।[3]

उद्भिदा यजेत पशुकामः को गुणविधि भी नहीं माना जा सकता। कारण, गुणविधि वहीं मान्य हो सकती है, जहाँ कर्म-याग की प्राप्ति (विधान) किसी अन्य वाक्य से पहिले से ही हुई रहती है, जैसे **दध्ना जुहोति** गुणविधि है; क्योंकि यहाँ याग की प्राप्ति **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** इस वाक्य से पहिले ही हुई रहती है।[4] किन्तु **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इस विधि के पूर्व कोई ऐसी विधि नहीं मिलती। जिसमें याग का विधान किया गया हो और उस याग को उद्देश्य करके **उद्भिदा यजेत पशुकामः** इस वाक्य से 'उद्भिद्'-रूप गुण का विधान किया जा सके।

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-१५
२. देखिये—विभागसङ्ख्या-१४
३. अस्मिन पक्षे तु उद्भिद्यते भूमिरनेन इति व्युत्पत्त्या खनित्रवाची असावुद्भिच्छब्दो भवेत्। (कौमुदी)
४. देखिए—विभागसङ्ख्या-१४

यदि **उद्भिदा यजेत पशुकामः** वाक्य से ही याग एवं गुण दोनों के दो विधान मानने का आग्रह किया जायेगा तो वाक्यभेद नामक दोष आपन्न होगा[१], क्योंकि इसी एक वाक्य से फल—पशु को उद्देश्य करके याग का विधान **यागेन पशुं भावयेत्** इस रूप में मानना होगा और याग को उद्देश्य करके गुण का विधान **उद्भिदा (खनित्रेण) यागं भावयेत्** इस रूप में मानना होगा। इस प्रकार स्पष्ट दो विधायक वाक्य हो जाने के कारण वाक्यभेद नामक दोष की प्राप्ति होने लगती है। वाक्यभेद सर्वथा परित्याज्य है।[२]

वाक्यभेद से मुक्ति पाने के लिये पूर्वपक्षी को **उद्भिदा यजेत पशुकामः** को **सोमेन यजेत**[३] की भाँति गुणविशिष्ट कर्मविधि अर्थात् विशिष्टविधि कहनी पड़ेगी (वाच्यम्)। विशिष्ट विधि मानने का कारण यह है कि यहाँ 'उद्भिद्' शब्द को खनित्र-रूप गुण का वाचक (समर्पक) माना जाता है और कर्म—याग का भी विधान (प्राप्त) किसी अन्य वाक्य से नहीं हुआ है (**यागस्य अपि अप्राप्तत्वात्**)। इस प्रकार गुणविधित्व एवं वाक्यभेद दोनों को अस्वीकार करके भी खनित्ररूप गुण एवं याग—दोनों का विधान मानने का आग्रह करने पर **उद्भिदा यजेत पशुकामः** को विशिष्टविधि माननी पड़ेगी। विशिष्टविधि का रूप होगा—**उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्**। यहाँ विधान याग का माना जायेगा, जिसका विशेषण 'उद्भिद्वत्' है। 'उद्भिद्वत्' में मत्वर्थलक्षणा है, ठीक वैसे ही जैसे **सोमेन यजेत** इस विशिष्ट विधि के मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य **सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्** में होती है।[४]

मत्वर्थलक्षणा पददोष है। इसी दोष से बचने के लिये 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय मान लिया जाता है। तब **उद्भिदा यजेत पशुकामः** का मीमांसासम्मत वाक्यार्थबोध इस प्रकार होगा—**उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्**। इस प्रकार मत्वर्थलक्षणाभय-रूप निमित्त से 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय माना गया।

प्रसङ्ग—अब नामधेय मानने में दूसरे निमित्त वाक्यभेदभय का निरूपण किया जा रहा है—

७०. वाक्यभेदभयान्नामधेयत्वम्

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेत्वं वाक्यभेदभयात्। तथा हि—न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति। 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इत्यनेन गुणस्य विहितत्वात् तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसम्बन्धे गुणसम्बन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः।

---

१. देखिए—विभागसङ्ख्या-१५

२. तथा च यागेन पशुं भावयेद्यागं च तादृशंगुणेन भावयेदिति यागस्य गुणफलोभयसम्बन्धे 'विधीयमाने सत्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वार इति भावः। (कौमुदी)

३-४. देखिये—विभागसङ्ख्या-१५

तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेत्' इति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्यभेदः। प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यवत्त्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

अर्थ—कहीं पर वाक्यभेद के भय से भी शब्द को याग का नामधेय मानते हैं। **चित्रया यजेत पशुकामः** एक ऐसी ही विधि है। इसका अर्थ है—पशु को प्राप्त करने की इच्छा वाले व्यक्ति को चित्रा से यागानुष्ठान करना चाहिए। प्रकृत स्थल में 'चित्रा' शब्द को गुणवाचक मानकर गुणविशिष्ट याग का विधान नहीं माना जा सकता; क्योंकि गुण की प्राप्ति तो **दधि मधु पयो** आदि वाक्य से पहिले से ही हुई रहती है। पुनश्च यदि पशुरूप फल को उद्देश्य करके याग का विधान और याग को उद्देश्य करके गुण का विधान मान लेने का आग्रह किया जायेगा तो वाक्यभेद हो जायेगा। अतएव वाक्यभेद से बचने के लिये 'चित्रा' शब्द को याग का नाम मान लिया गया है। तब **चित्रया यजेत पशुकामः** विधि का अर्थबोधवाक्य इस प्रकार होगा—**चित्रायागेन पशुं भावयेत्।** यहाँ चित्रा और याग में सामानाधिकरण्य है। ऐसी स्थिति में वाक्यभेद नहीं होगा। चित्रा को एक विशेष याग का नाम माना जा सकता है, क्योंकि प्रकृत स्थल में दधि, मधु आदि अनेक द्रव्यों (चित्र) का उपयोग होता है। अतएव याग को 'चित्रा' याग कहा जा सकता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**इदानीं द्वितीयं वाक्यभेदप्रसङ्गरूपं नामधेयत्वस्य निमित्तमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति**—चित्रया यजेतेति। **वाक्यभेदमेवोपपादयति**—तथा हीत्यादिना। अत्रेति। **'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यस्मिन्वाक्य इत्यर्थः।** गुणविशिष्टेति। **चित्राशब्दार्थभूतचित्रवर्णककिञ्चिद् गुणविशिष्टेत्यर्थः। अत्र विशिष्टविधानासम्भवे हेतुमाह**—दधीत्यादिना। तत्संसृष्टं प्राजापत्यमितीति। **तैर्दध्यादिभिर्द्रव्यैर्युक्तं प्रजापतिदेवताकं कर्मेत्यर्थः।** तद्विशिष्टेति। **निरुक्तगुणविशिष्टेत्यर्थः। दधीत्यादिप्रकृतवाक्यस्यैतत्कर्मण उत्पत्तिवाक्यत्वादस्य कर्मण उत्पत्तिशिष्टदध्यादिगुणावरुद्धत्वान्न तत्र गुणान्तरं विधातुं शक्यत इति भावः। अत्र दध्यादिवाक्ये दध्यादीनि षडेव द्रव्याणि श्रुतावाम्नातानि, उदकपदं तु प्रमादादायातम्, श्रुतितात्पर्यज्ञैर्माधवाचार्यैस्तथैवास्य वाक्यस्य व्याख्याततत्वात्। तथा च तद्वचनं 'दध्यादीनि विचित्राणि देयद्रव्याणि षडाम्नातानी'ति। नन्वत्र वाक्ये ह्युत्पत्तिवाक्यसिद्धस्वरूपस्य यागस्य पशुरूपफलसम्बन्धो विचित्रद्रव्यरूपगुणसम्बन्धश्च विधीयते। ततश्च न कर्मनामधेयत्वं चित्राशब्दस्येत्याशङ्क्याह**—यागस्येति। **तथा च यागेन पशुं भावयेद्यागं च तादृशगुणेन भावयेदिति यागस्य गुणफलोभयसम्बन्धे विधीयमाने सत्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वार इति भावः। उपपादितं वाक्यभेदप्रसङ्गमुपसंहरति**—तस्मादिति। **सिद्धे चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे वाक्यं योजयति**—तथा चेति। सामानाधिकरण्येनेति। **यजिधात्वर्थयागसामानाधिकरण्येन नामधेयस्यान्वयाच्चित्रानामकेन यागेन पशुं भावयेदित्याकारकान्न निरुक्तवाक्यभेदापत्तिरित्यर्थः।**

अनेकद्रव्यत्वेनेति। दध्यादिविचित्रानेकद्रव्यसाध्यत्वेनेत्यर्थः। ननु चित्राशब्दाच्चित्रत्व-स्त्रीत्वयोः प्रतीतेः स्त्रीरत्नस्य च स्वभावतः प्राणिधर्मत्वात्प्रकृते दध्यादिद्रव्यके कर्मणि निवेशासम्भवान्नानेन वाक्येन प्रकृते कर्मणि तादृशगुणविधानं क्रियते, किन्तु प्राणिद्रव्यके कर्मणि, अनारभ्याधीतानां चाङ्गानां प्रकृतिमात्रे प्रवेशाङ्गीकारात्। चित्रवाक्यस्याप्यना-रभ्याधीतत्वात्सर्वपशुयागप्रकृतिभूते प्राणिद्रव्यकेऽग्नीषोमीये कर्मणि तेन गुणो विधीयते। तथा च 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति विहितं पशुयागमत्र वाक्ये यजेतेति पदेनानूद्य तत्र चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वरूपौ गुणौ विधीयेते इति चेन्न। चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेदिति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधाने वाक्यभेद-प्रसङ्गस्य सर्वसम्मत्वात्। तथा चोक्तम्—

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयेरन्बहवोऽप्येकयत्नतः।। इति।

नन्वत्र वाक्यभेदपरिहाराय गुणद्वयविशिष्टं पशुद्रव्यरूपं कारकं विधीयत इति चेन्न। गौरवलक्षणवाक्यभेदप्रसङ्गात्। किञ्च दध्नादिवाक्यं प्रकृतस्य चित्रानामकस्य यागस्योत्पत्तिवचनं भवति। यागस्वरूपभूतयोर्दध्यादिद्रव्यप्रजापतिदेवतयोरत्रोपदिश्यमा-नत्वात्। उत्पन्नस्य च तस्य यागस्य 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्येतत्फलवाक्यमत्र यागस्य फलसम्बन्धबोधनात्। एवं च सति प्रकृतार्थो लभ्येत। अग्नीषोमीयपश्वनुवादेन, तादृशगुणविधाने तु प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयातां, लिङ्प्रत्ययस्य चानुवादत्वा-ङ्गीकारान्मुख्यो विध्यर्थो बाध्येत, तस्माच्चित्रापदं नामधेयमेव न गुणविधिरिति ध्येयम्।

अर्थबोधिनी—चित्रया यजेत पशुकामः वाक्य में 'चित्रा' शब्द याग का नामधेय माना जाता है, अन्यथा वाक्यभेद हो जाने का भय है (वाक्यभेदभयात्)। वाक्यभेद वाक्यदोष है और विशिष्ट विधि में होने वाली मत्वर्थलक्षणा पददोष है; फिर यहाँ वाक्यभेद को छोड़कर विशिष्टविधि क्यों न मानी जाय? **उद्भिदा यजेत पशुकामः** में भी वाक्यदोष (वाक्यभेद) को छोड़कर विशिष्ट विधि माननी पड़ी थी। पुनःविशिष्ट विधि में मत्वर्थलक्षणा जैसे पददोष से मुक्ति पाने के लिये ही 'उद्भिद्' शब्द को यागनामधेय माना गया था, क्या वही स्थिति **चित्रया यजेत पशुकामः** इस स्थल में नहीं है? उत्तर है—नहीं। कारण, **चित्रया यजेत पशुकामः** इस स्थल पर गुणविधि हो ही नहीं सकती (**न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति**)। यह इसलिये कि गुणविशिष्ट विधि वहीं होती है जहाँ गुण एवं कर्म (याग) दोनों ही अप्राप्त रहा करते हैं, जैसे **सोमेन यजेत** इस वाक्य में[१], किन्तु यहाँ गुण की प्राप्ति **दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्** इस वाक्य से हो जाती है। यहाँ गुण के अन्तर्गत मिश्रित रूप में दधि आदि सभी द्रव्य

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-१५

गृहीत होते हैं। इस प्रकार गुण की प्राप्ति हो जाने पर **चित्रया यजेत पशुकामः** को गुणविशिष्ट कर्मविधि नहीं माना जा सकता (**गुणस्य विहितत्वातद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः**)।

फिर भी हठात् यदि कोई भी व्यक्ति **चित्रया यजेत पशुकामः** वाक्य द्वारा याग एवं गुण दोनों का विधान माने तो वाक्यभेद होने लगता है; क्योंकि **यागेन पशुं भावयेत्** (**यागस्य फलसम्बन्धे विधीयमाने**) एवं **चित्रया** (**गुणेन**) **यागं भावयेत्** (**यागस्य गुणसम्बन्धे विधीयमाने च**) इस प्रकार **चित्रया यजेत पशुकामः** इस एक वाक्य में ही स्पष्टतः दो विधायक वाक्य हो जाने पर वाक्य-भेद हो जाता है।

वाक्यभेद न होने पाये इसका एक ही उपाय है और वह यह है कि चित्रा शब्द को याग का नाम मान लेना। तब **चित्रया यजेत पशुकामः** का मीमांसासम्मत अर्थबोधवाक्य होगा—**चित्रायागेन पशुं भावयेत्**। यहाँ चित्रायागेन पद में प्रयुक्त 'चित्रा' शब्द के याग का नामधेय अर्थात् नाम हो जाने पर दो विधान नहीं हुये, इसलिये वाक्यभेद नहीं हुआ।

याग का 'चित्रा' नाम यथार्थ है, क्योंकि दधि, मधु आदि अनेक द्रव्यों से सिद्ध होने वाली क्रिया (याग) को 'चित्रा' (अनेक द्रव्यों वाली) कहा जा सकता है (**अनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः**)।

पूर्वपक्ष 'चित्रा' शब्द का अर्थ 'गुण' लेना चाहता है। उसके अनुसार 'चित्रा' शब्द का अर्थ अनेक वर्णों से युक्त स्त्री (मादा) 'पशु' होना चाहिये; किन्तु मीमांसक पूर्वपक्ष की इस मान्यता को समीचीन नहीं मानता, क्योंकि पशुगत 'चित्रत्व' (अनेकवर्णयुक्तत्व) एवं स्त्रीत्व—इन दो गुणों के द्वारा याग का विधान मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा।[1] इसलिये वाक्यभेद से बचने के लिये 'चित्रा' शब्द को याग का नामधेय मान लेना चाहिये।

प्रसङ्ग—किसी शब्द को याग का नामधेय मानने में तीसरा निमित्त 'तत्प्रख्यशास्त्र' है। अब उसी का निरूपण किया जा रहा है—

७१. तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्

'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेत् न। यदि 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' इति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोति'

---

१. तथा चाग्नीषोमीयं पगशुमालभेतेति विहितं पशुयागमत्र वाक्ये यजेतेति पदेनानूद्य तत्र चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वरूपौ गुणौ विधीयते इति चेन्न। चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेदिति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। (कौमुदी)

इत्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। 'अग्नये होत्रमस्मिन्' इति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेत्। न, तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

अर्थ—अग्निहोत्रं जुहोति इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'अग्निहोत्र' शब्द तत्प्रख्यन्याय से एक यागविशेष का नामधेय (नाम) है। तत्प्रख्यशास्त्रात् शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—**तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्** अर्थात् उस गुण के प्रख्यापक (प्राप्ति कराने वाले) शास्त्र के विद्यमान होने के कारण। इसी कारण से 'अग्निहोत्र' शब्द का कर्म नाम होता है।

यह कहना कि **अग्निहोत्रं जुहोति** को गुणविधि ही क्यों न मान लिया जाय, उचित नहीं है। कारण, यदि **अग्नौ होत्रमस्मिन्** इस प्रकार **अग्निहोत्रम्** पद में सप्तमी तत्पुरुष समास मानकर होम के आधाररूप में अर्थात् गुणरूप में 'अग्नि' का विधान माना जाय तो **यदाहवनीये जुहोति** वाक्य, जिसमें **अग्नौ** यह सप्तम्यन्त पद प्राप्त होता है, ही व्यर्थ हो जायेगा और यदि 'अग्निहोत्रम्' पद का विग्रह **अग्नये होत्रमस्मिन्** इस प्रकार चतुर्थी तत्पुरुष समास लेकर देवतारूप अग्निगुण का विधान मानने का प्रस्ताव रखा जाय तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ देवता की प्राप्ति तो दूसरे ही वाक्य से हो रही है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं तत्प्रख्यशास्त्ररूपात् तृतीयनिमित्तान्नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य प्रदर्शयति—अग्निहोत्रमिति। 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्र'मिति हि तत्प्रख्यशास्त्रसूत्रम्। तस्य फलितार्थमाह—तस्येत्यादिना।

नन्वग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्राग्निरूपस्य गुणस्यैव विधिर्न नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य स्वीकर्तव्यमित्याशङ्कते—नन्वयमिति। यद्यत्र सप्तमीसमासमश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपस्य गुणस्य विधानं स्वीक्रियते तदा तदाधारत्वेनाग्निरूपस्य गुणस्य वाक्यान्तरेण प्राप्तत्वात्तेन तद्विधानस्यानर्थक्यमापद्येतेत्याह—यद्यग्नावित्यादिना। चतुर्थीसमासमाश्रित्यात्राग्निदेवतारूपस्य गुणस्य विधानमाशङ्कते—चतुर्थीत्यादिना। नात्र देवतारूपेणाग्निरूपस्य गुणस्य विधानमुपपद्यत इति समाधत्ते—नेति। तत्र हेतुमाह—तद्देवताया इति। अग्निरत्र तच्छब्दार्थः।

अर्थबोधिनी—किसी शब्द को नामधेय मानने में तीसरा निमित्त है—तत्प्रख्यशास्त्र। अर्थात् जब गुण का विधान किसी दूसरे वाक्य से होता है तब विचार्यमाण विधिवाक्य में आपाततः गुणबोधक प्रतीत होने वाले शब्द को यागनामधेय माना जाता है। तत्प्रख्यशास्त्रात् इस हेतुवाचक पद की व्याख्या ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है—**तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्** अर्थात् गुणबोधक विधिवाक्य के विद्यमान होने के कारण।

इस विषय को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझें—**अग्निहोत्रं जुहोति** एक विधिवाक्य है। पूर्वपक्षी की दृष्टि में **अग्निहोत्रम्** पद से अभिप्राय अग्निरूप गुण होना चाहिये; अतएव

उक्त विधिवाक्य अग्निरूप गुण का विधायक होने के कारण गुणविधि है; यहाँ गुण-रूप में अग्नि के दो रूपों की सम्भावनायें हैं—१. अग्निहोत्रम् की व्याख्या अग्नौ होत्रम् अस्मिन् होने पर होम के आधाररूप में अग्नि गुण होगा; २. अग्निहोत्रम् पद की अग्नये होत्रम् व्याख्या होने पर देवतारूप में अग्नि गुण होगा।

मीमांसक **अग्निहोत्रं जुहोति** को गुणविधि नहीं मानता, क्योंकि अग्निरूप गुण का विधान अन्य वेदवाक्यों (शास्त्रों) से इस प्रकार हो रहा है—१. आधाररूप में अग्नि गुण का विधायक वाक्य है—**यदाहवनीये जुहोति** और २. देवतारूप में अग्नि गुण का विधायक वाक्य **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** है। जब इन वाक्यों में अग्निरूप गुण का विधान किया गया है, फिर भी 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से अग्निरूप गुण का विधान मान लेने पर 'पुनरुक्ति' नामक दोष होगा, जो सर्वथा त्याज्य है। अतएव तत्प्र-ख्यशास्त्ररूप निमित्त के कारण 'अग्निहोत्र' शब्द को यागनामधेय मानना पड़ा।

प्रसङ्ग—देवतारूप अग्नि (गुण) का विधायक वाक्य कौन-सा है? इसका निर्णय प्रकृत स्थल में किया जा रहा है—

७२. अग्निदेवताप्रापकशास्त्रान्तरविचारः

किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेव-ताप्रापकः। नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्, मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्, यथाहुः—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्।।

इति चेत्, न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इत्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्यः तत्समुच्चितप्रजापति-मात्रविधाने लाघवात्।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्या-दिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्, 'समिधो यजति' इत्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयम्।

अर्थ—फिर प्रश्न होता है कि वह कौन-सा अन्य वाक्य है, जिससे अग्निरूप देवता की प्राप्ति होती है? कुछ लोगों का कहना है कि अग्निदेवता का प्रापक वाक्य है—

'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' और दूसरे लोग 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मन्त्राक्षरों को ही अग्निदेवता का प्रापक मानते हैं।

कोई कह सकता है कि 'चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त प्रजापति देवता से मन्त्रवर्णविहित देवता का बाध हो जाता है। कारण, मन्त्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल हैं। इस विषय की पुष्टि में कुमारिल का तद्धितेन आदि श्लोक है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—'देवता का विधान तद्धित, चतुर्थी और मन्त्रवर्ण के द्वारा होता है, उन तीनों में उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से दुर्बल है।' वस्तुतः उक्त कथन समीचीन नहीं है; क्योंकि 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' यहाँ केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है, **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा**—इस मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उस अनूदित अग्नि से युक्त प्रजापति का विधान है। इस प्रकार यहाँ अग्निदेवता का बाध नहीं होता है। कारण, यहाँ केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है। यह भी कहना उचित नहीं कि **यदग्नये** आदि द्वारा अग्नि एवं प्रजापति—दोनों का सम्मिलित विधान क्यों न मान लिया जाय। यह इसलिये कि समुच्चित दोनों का विधान मानने से उचित यह होगा कि अन्य वाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उस अनूदित अग्नि से युक्त प्रजापतिमात्र का विधान माना जाय। इससे लाघव होगा।

इसी तरह प्रयाजों में गुणरूप 'समिद्' आदि देवताओं की प्राप्ति 'समिधः समिधो' आदि मन्त्रवर्णों से होने के कारण 'समिधो यजति' आदि वाक्यों में 'समिद्' आदि शब्द 'तत्प्रख्यशास्त्र' से कर्म के नामधेय (नाम) होते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—देवतारूपेणाग्निप्रापकं शास्त्रं पृच्छति—किमिति। केषाञ्चिन्मतानुसारेणोत्तरमाह—यदग्नये चेति। अत्राग्निर्ज्योतिरित्यादिमन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवं तदुभयसमुच्चितस्यैवात्र विधाने गौरवमिति च समुच्चितोभयविधानं 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र स्वीकर्तव्यमित्यस्वरसबीजं केचिदित्यनेन सूचितम्। अधुना सिद्धान्तमतेनोत्तरमाह—अपरे त्विति। किञ्च 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोती'ति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तमग्निमनूद्य, तत्समुच्चितस्य प्रजापतेः यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र सायङ्कालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते। 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातर्जुहोती'ति विहितेन च मन्त्रेण प्राप्तं सूर्यमनूद्य तत्समुच्चितस्य च तस्य 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोती'त्यत्र प्रातःकालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते। तेनाग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिविधेरेकेनैव वाक्येन सिद्धेः 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोती'त्यत्र वाक्यद्वयं व्यर्थमिति निरस्तम्। सायं होमेऽग्निसमुच्चितस्य प्रजापतेर्विधानं प्रातर्होमे सूर्यसमुच्चितस्य च तस्यैकेन वाक्येन कर्तुमशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण अधिकं तु न्यायप्रकाशे द्रष्टव्यम्। नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिना तस्य बाधः स्यात्प्रजापतेश्चतुर्थ्या

देवतारूपेण प्राप्तत्वेन प्रबलत्वात्। अग्नेस्तु मन्त्रवर्णप्राप्तत्वेन दुर्बलत्वाच्च। न च 'सास्य देवते'ति तद्धितप्रत्ययस्य देवतात्वे स्मरणवच्चतुर्थी न देवतात्वे स्मर्यते 'सम्प्रदाने चतुर्थी'ति सम्प्रदानमात्रे तस्याः स्मरणात्। तस्मात्प्रजापतिना कथमग्नेर्बाधः स्यादिति वाच्यम्। त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वे सति प्रतिग्रहीतृत्वस्य सम्प्रदानपदार्थत्वेन त्यज्यमान-द्रव्योद्देश्यत्वरूपस्य देवतात्वस्य सम्प्रदानस्वरूपान्तर्गतत्वात्। ततश्चतुर्थीतः सम्प्रदानैक-देशतया देवतात्वप्रत्ययो भवत्येव, मन्त्रवर्णात्तु न देवतात्वप्रतीतिरस्ति किन्त्वधिष्ठानत्वमेव ततः प्रतीयते। तस्मान्मन्त्रवर्णश्चतुर्थीतो दुर्बल एव।

तथा च प्रबलप्रमाणबोधितप्रजापतिदेवतया दुर्बलप्रमाणबोधिताग्नेर्बाधो दुर्वार एवेत्याशयेन शङ्कते—नन्विति। तत्र सम्मतिमाह—यथाहुरिति। तत्रेति। तद्धितादिषु मध्य इत्यर्थः। प्रमिति। तद्धितापेक्षया चतुर्थ्या दौर्बल्यं चतुर्थ्यपेक्षया च मन्त्रवर्णस्य दौर्बल्यं भवतीति परं परं दुर्बलं बोध्यमित्यर्थः। ततः परमिति पाठे तु ततस्ततः परं दुर्बलप्रमाण-मिति वीप्सापरत्वेन व्याख्येयम्। यदि च 'प्रजापतये जुहोती'ति केवलप्रजापतिविधानं स्यात्तदा तु भवेदपि प्रजापतिनाग्नेर्बाधः परन्तु न तथा विधानं क्रियत इति परिहरति—यदग्नये चेत्यादिना। प्रजापतेरित्यत्र विधानमित्यस्यानुषङ्गः। एवञ्चेति। मन्त्रवर्णप्राप्तमग्नि-मनूद्य तत्समुच्चितस्य प्रजापतेर्विधाने चेत्यर्थः। न बाध इति। न प्रजापतिनाग्नेर्बाध इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—केवलेति। ननु यदग्नये च प्रजापतये चेत्यस्मिन्वाक्ये होमानुवादेन समुच्चि-तस्यैवोभयस्य विधानं क्रियत इति कथं न स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य तयोः समुच्चितयोर्विधा-नापेक्षया मन्त्रवर्णतः प्राप्तमग्निमनूद्य लाघवेन तत्समुच्चितप्रजापतेर्विधानमेवोचितमिति परिहरति—न चेत्यादिना।

तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वे उदाहरणान्तरमाह—एवमिति। समिदादिशब्दा इत्यत्रादि-पदेन तनूनपातादयः शब्दा गृह्यन्ते।

अर्थबोधिनी—अग्निहोत्रं जुहोति विधि में 'अग्निहोत्र' शब्द एक याग का नाम है, न कि होम का आधार अथवा देवतारूप में अग्निरूप गुण का बोधक। इस तथ्य की ओर पिछले विभाग में सङ्केत किया जा चुका है। 'अग्निहोत्र' शब्द देवतारूप अग्नि (गुण) का प्रख्यापक इसलिये नहीं माना गया कि देवतारूप अग्नि का प्रख्यापक अन्य वाक्य (शास्त्रान्तर) पाया जाता है। जब उसी शास्त्रान्तर से अग्निरूप देवता की प्राप्ति हो जाती है तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' विधि से भी उसी अग्निदेवता की प्राप्ति मानने पर पुनरुक्ति नामक दोष आपन्न होता है अथवा अग्निप्रख्यापक शास्त्रान्तर की अप्रामाणिकता—व्यर्थता सिद्ध होती है; किन्तु फिर भी वाक्य की व्यर्थता मीमांसा दर्शन के लिये सर्वथा असह्य है।

अब जिज्ञासा होती है कि वह शास्त्रान्तर कौन-सा है, जिससे अग्निहोत्र में अग्निरूप देवता की प्राप्ति होती है। इसके विषय में दो मत हैं। शबर के अनुयायी कुछ मीमांसकों

(केचित्) का मत है कि अग्निदेवता का प्रापक शास्त्रान्तर **यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति** है, किन्तु पार्थसारथि मिश्र आदि दूसरे मीमांसक (और अर्थसंग्रहकार भी) **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** मन्त्र को अग्निदेवतारूप गुण का विधायक मानते हैं।

पूर्वपक्ष को एक और आपत्ति है, वह यह कि यदि अग्निहोत्र के लिये अग्निदेवता की प्राप्ति **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** इस मन्त्रवर्ण से मानी जायेगी तो **यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति** इस वाक्य के चतुर्थ्यन्त 'प्रजापतये' पद से बोध्य प्रजापति देवता से अग्निदेवता का बाध हो जायेगा। इस प्रकार अग्निहोत्र में एक ही देवता प्रजापति रह जायेगा। क्योंकि मन्त्रवर्ण से प्राप्त देवता का चतुर्थी से प्राप्त देवता से बाध हो जाता है। यही बात कुमारिल ने निम्नलिखित कारिका में कही है—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥
(तन्त्रवार्तिक-२.२.२३)

उक्त कारिका का अर्थ यह है कि देवता का विधान तद्धितान्त एवं चतुर्थ्यन्त पद तथा मन्त्र द्वारा होता है। इनमें बाद वाले अपने-अपने पूर्व वाले से दुर्बल हैं अर्थात् तद्धित से चतुर्थी दुर्बल है और चतुर्थी से मन्त्रवर्ण।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के उक्त कथन का खण्डन करता है। सिद्धान्ती के अनुसार **अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** मन्त्र से अग्नि देवता का विधान किया जाता है और इस प्रकार विहित अग्निदेवता से युक्त (समुच्चित) प्रजापति देवता का विधान **यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति** वाक्य द्वारा किया जाता है। इस प्रकार **यदग्नये** आदि द्वारा प्रजापति का विधान तो होता ही है, साथ ही साथ मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्नि का भी अनुवाद होता है। अभिप्राय यह है कि अग्निदेवता के विधान का पूरा भार मन्त्रवर्ण पर ही है। **यदग्नये** आदि के द्वारा तो विहित अग्नि का पुनः उल्लेखमात्र होता है। या यों कहा जाय कि उसकी स्वीकृतिमात्र होती है। अनूदित अग्निदेवता से युक्त प्रजापति का विधान मानने पर इसलिये बाध नहीं होता कि चतुर्थीयुक्त **यदग्नये च प्रजापतये च** इत्यादि वाक्य के द्वारा प्रजापति के विधान के साथ अग्निदेवता की भी स्वीकृति अनूदित रूप में होती है। जो जिसे स्वीकार करता है, वह उसका विरोध भी कैसे कर सकता है?

ध्यान रहे कि **यदग्नये** आदि वाक्य से अग्नि एवं प्रजापति दोनों का निरपेक्ष विधान नहीं होता। दोनों का विधान मानने पर—१. **यदग्नये** आदि वाक्य पर दो देवताओं के विधान का भार पड़ेगा और २. **अग्निर्ज्योतिः** आदि मन्त्र देवता का विधायक न होकर निरर्थक होने लगेगा। इससे यही मानने में लाघव है कि मन्त्रवर्ण से अग्नि का विधान और 'यदग्नये' आदि वाक्य से प्रजापति का विधान माना जाय; किन्तु यहाँ प्रजापतिमात्र का

विधान न होकर उसके (प्रजापति के) साथ मन्त्रवर्णविहित अग्नि भी देवता रूप में स्वीकृत रहता है।

इसी प्रकार **समिधो यजति, तनूनपातं यजति** आदि वाक्यों में 'समिद्' आदि शब्द याग के नाम (नामधेय) हैं; क्योंकि गुण का विधान (प्रख्यापन) करने वाले अन्य वाक्य (तत्प्रख्यशास्त्र) विद्यमान हैं, यथा—'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' आदि वाक्यों के 'समिद्' आदि शब्द गुण—समिधाओं (यज्ञकाष्ठ) के विधायक हैं।

प्रसङ्ग—नामधेय होने में चतुर्थ-निमित्त तद्व्यपदेश है, उसी का विवेचन किया जा रहा है—

७३. तद्व्यपदेशेन नामधेयत्वम्

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्, तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि—यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात् तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्। न च श्येनोपमानेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

अर्थ—श्येनेनाभिचरन् यजेत (शत्रुमारणक्रिया करते हुए श्येन का अनुष्ठान करना चाहिए) यहाँ तद्व्यपदेश-रूप निमित्त से 'श्येन' शब्द याग का नामधेय (नाम) माना जाता है। **तद्व्यपदेशात्** पद की व्याख्या है—**तेन व्यपदेशात् उपमानात् तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्** अर्थात् उस गुण से उपमान होने का कथन होने से 'श्येन' शब्द को यागवाची माने बिना उपमान होने की सिद्धि न होने के कारण। इस विषय को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है—जो अर्थ विधेय होता है, उसकी अर्थवाद से स्तुति की जाती है। यदि **श्येनेनाभिचरन् यजेत** यहाँ श्येन नामक पक्षी का विधान होता तो अर्थवाद के द्वारा उसी श्येन पक्षी की ही स्तुति होनी चाहिये थी; किन्तु **यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते** इस अर्थवादवाक्य के द्वारा श्येन पक्षी की स्तुति नहीं की जा सकती; क्योंकि श्येन पक्षी के उपमान के द्वारा श्येन पक्षी से इतर अर्थ की ही स्तुति की जा सकती है। अर्थात् श्येन की उपमा देकर उसी श्येन की ही तो स्तुति हो नहीं सकती। कारण, दो भिन्न-भिन्न पदार्थ ही उपमान एवं उपमेय हो सकते हैं। हाँ यदि 'श्येन' नामक याग को विहित माना जाय तब तो अर्थवाद द्वारा श्येनपक्षी की उपमा से उस याग की स्तुति बन सकती है। इस प्रकार 'तद्व्यपदेश' नामक निमित्त से श्येन शब्द याग का नामधेय ठहरता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं चतुर्थनिमित्तेन तद्व्यपदेशरूपेण श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं प्रदर्शयति—श्येनेति। कर्मनामधेयत्वमिति। नन्वत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं न भवति, किन्तु सोमयागे नित्यं सोमद्रव्यं बाधित्वा तस्य स्थाने पक्षिद्रव्यरूपो गुणः काम्यो विधीयते, तथा सति श्येनशब्दस्य पक्षिणि लोकप्रसिद्धा रूढिरुपपन्ना भवतीत्याशङ्क्य श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे हेतुमाह—तद्व्यपदेशादिति। तद्व्यपदेशशब्दं व्याचष्टे—तेनेति। श्येनेत्यर्थः। तदिति। उपमानोपमेयभावस्य भेदघटितत्वादेवार्थवादवाक्ये श्येनोपमानेन विधेयस्तुतेः श्येननामककर्मविशेषं विनानुपपत्तेर्नात्र पक्षिद्रव्यरूपो गुणो विधातुं शक्यत इति भावः। तदन्यथानुपपत्तिमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना। यदिति। विधेयस्य स्तुतेः कर्तव्यत्वादित्यर्थः। अत्रेति। श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यत्रेत्यर्थः। श्येन इति। श्येननामकपक्षिविशेष इत्यर्थः। तस्यैवेति। श्येननामकपक्षिविशेषस्यैवेत्यर्थः। यथेति। यथा श्येनः पक्षिविशेषो निपत्य मत्स्यादीञ्जन्तूनादत्ते एवमयं श्येननामको यागो द्विषन्तं भ्रातृव्यं शत्रुं निपत्यादत्त इत्यर्थः। यमभिचरति श्येनेनेति वाक्यशेषः। अत्रेति। अत्र प्रकृतेऽनेन श्येनार्थवादेन श्येनः पक्षिविशेष एव स्तोतुं न शक्यते इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—श्येनेति।

ननु श्येनार्थवादोपमानेन श्येन एव पक्षिविशेषः कथं न स्तोतुं शक्यः स्यादित्यत आह—न च श्येनोपमानत्वेनेति। तदशक्यत्वे हेतुमाह—उपमानेति। यद्यत्र श्येनसंज्ञकस्य यागस्य विधेयत्वं स्वीक्रियते तदा तादृशार्थवादोपमानेन तस्य श्येनसंज्ञकस्य यागस्य स्तुतिः कर्तुं शक्या भवत्येवेत्याह—तदेत्यादिना। फलितमुपसंहरति—इतीति। एवमुक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—किसी शब्द को नामधेय मानने का अन्तिम कारण 'तद्व्यपदेश' है। ग्रन्थकार ने **तद्व्यपदेशात्** की व्याख्या **तेन व्यपदेशात्** किया है। **व्यपदेशात्** पद का अर्थ उपमानात् किया गया है। यहाँ तेन पद का अर्थ **गुणेन** है। इस प्रकार **तद्व्यपदेशात्** पद का अर्थ 'उस गुण से उपमा होने के कारण' है। **तद्व्यपदेशात् कर्मनामधेयत्वम्** का अर्थ होता है—'क्रिया का गुण से उपमा (साम्य) के श्रवण होने के कारण शब्दविशेष नामधेय होता है'। उदाहरण के लिए इस प्रकार समझिए—**श्येनेनाभिचरन् यजेत** एक विधिवाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है कि 'अभिचार करते हुए श्येन का अनुष्ठान करना चाहिए'। ऐसी क्रिया, जिसका अनुष्ठान करने से शत्रु की मृत्यु हो जाती है अभिचार कही जाती है[1]। वैसे श्येन शब्द का अर्थ 'बाज' पक्षी होता है, किन्तु प्रकृत स्थल में यह एक यागविशेष का नामधेय (नाम) है। 'श्येन' शब्द को याग का नामधेय मानने का कारण यह है कि प्रकृत स्थल में 'श्येन' शब्द का अर्थ गुण 'बाज' नहीं हो सकता, क्योंकि एक

१. अभिपूर्वकचरधातोः वैरिमरणानुकूलो व्यापारोऽर्थः, तदुत्तरं श्रूयमाणः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इति सूत्रेण विहितः शतृप्रत्ययो हेत्वर्थकः' हेतुरत्र फलरूपो विवक्षितः, एवञ्च श्येनसंज्ञकेन यागेन अभिचाररूपं फलं भावयेत्—इति विषयवाक्यार्थः। (सारविवेचिनी)

अर्थवादवाक्य में श्येन (बाज) की उपमा (साम्यप्रदर्शन) द्वारा **श्येनेनाभिचरन् यजेत** में विहित 'श्येन' की प्रशंसा (स्तुति) की गई पाई जाती है। अर्थात् यदि अर्थवादवाक्यगत श्येन (बाज) शब्द के द्वारा विधिवाक्यगत 'श्येन' शब्द को भी गुणवाचक (श्येन—बाज पक्षी का वाचक) मान लिया जायेगा तब 'श्येन से श्येन की स्तुति' का अर्थ स्वयं से स्वयं की स्तुति होगा; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि जिसकी स्तुति की जा रही हो—उपमेय एवं जिसके द्वारा स्तुति की जा रही हो—उपमान भिन्न-भिन्न होते हैं। उपमान ही उपमेय नहीं हो सकता; उपमान एवं उपमेय भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हैं। एक ही पदार्थ में उपमानत्व एवं उपमेयत्व—दोनों धर्म नहीं रह सकते (**उपमानोपमेयधर्मस्य भिन्ननिष्ठत्वात्**)। इससे सिद्ध होता है कि अर्थवादवाक्यगत 'श्येन' शब्द गुणवाचक है तो विधिवाक्यगत 'श्येन' शब्द गुणवाचक नहीं हो सकता। जब वह गुणवाचक नहीं है तो उसे अगत्या याग का नाम मान लेना होता है। यदि उसे याग का नाम नहीं माना जायेगा तो विधिवाक्यगत 'श्येन' एवं अर्थवादवाक्यगत 'श्येन' में उपमानोपमेयभाव की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकेगी (**तदन्यथानुपपत्तेः**)।

श्येनेनाभिचरन् यजेत इस विधि का अर्थवादवाक्य इस प्रकार है—**यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते**। अर्थवादवाक्य में 'यथा' एवं 'एवम्' दोनों शब्दों द्वारा उपमान का प्रदर्शन किया गया है। यदि हठवशात् **श्येनेनाभिचरन् यजेत** इस वाक्य में 'श्येन' पद का अर्थ गुण अर्थात् बाज पक्षी ले लिया जाय तो अर्थवादवाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा—जैसे बाज झपट कर (शिकार को) पकड़ लेता है, वैसे ही यह (बाज) द्वेष करने वाले शत्रु को झपट कर पकड़ लेता है; किन्तु जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है, उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ (बाज पक्षी) नहीं हो सकते। हाँ, यदि **श्येनेनाभिचरन् यजेत** विधिवाक्य में 'श्येन'संज्ञक याग का विधान माना जाय, गुण का नहीं तो अर्थवादवाक्यगत 'श्येन' के उपमान से उक्त याग की प्रशंसा हो सकती है (**यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यते**) और इस प्रकार 'तद्व्यपदेश' निमित्त से 'श्येन' एक याग का नामधेय सिद्ध होता है।

प्रसङ्ग—जिन चार निमित्तों से कोई शब्द याग का नामधेय होता है, उनका विवेचन अभी तक किया जा चुका है। कुछ लोगों ने नामधेय होने में एक पाँचवें निमित्त को भी माना है। इस निमित्त को 'उत्पत्तिगुणबलीयस्त्व' कहते हैं। सिद्धान्ती इसे अतिरिक्त निमित्त नहीं मानता, इसी विषय का विवेचन किया जा रहा है—

७४. नामधेत्वे उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं न निमित्तान्तरम्

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयमिति केचित्। यथा—'वैश्वदेवेन

यजेत' इत्यादौ। अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद् वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवता-भिधायकत्वं न सम्भवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वम्, प्रकृतयागे विश्वदेवरूप-गुणसम्प्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति।

अर्थ—उत्पत्तिवाक्य द्वारा विहित गुण के अपेक्षाकृत अधिक बलवान् होने (उत्पत्ति-शिष्टगुणबलीयस्त्व) को भी कुछ लोग नामधेय होने में पाँचवाँ निमित्त मानते हैं। उदाहरण के लिये वैश्वदेवेन यजेत इस विधि में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' शब्द याग का नामधेय है, न कि देवतारूप गुण का वाचक; क्योंकि उत्पत्तिवाक्य में विहित अग्नि आदि देवता प्रबल हैं; किन्तु सिद्धान्त मत यह है कि यहाँ भी तत्प्रख्यशास्त्ररूप निमित्त से शब्द यागविशेष का नामधेय होता है, किसी पाँचवें निमित्त से नहीं। यहाँ विश्वदेव-रूप गुण का प्रख्यापक अर्थवादशास्त्र इस प्रकार पाया जाता है—यद् विश्वेदेवाः समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्। इसलिये वैश्वदेवेन यजेत में 'वैश्वदेव' शब्द याग का नामधेय मान लिया गया है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—अत्र कर्मनामधेयत्वे चोत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं पञ्चममपि निमित्तं भवतीति केषाञ्चिन्मतमाह—उत्पत्तिशिष्टेति। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। अत्रेति। अस्मिन्वाक्ये वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताविधायकत्वं न सम्भवत्युत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वादित्यन्वयः। फलितार्थमुपसंहरति—इतीति। तस्येति शेषः। अत्रेदं बोध्यम्—चातुर्मास्ये चत्वारि पर्वाणिवैश्वदेवो वरुणप्रघासः साकमेधः शुनासीरीयश्चेति। तेषु प्रथमे पर्वण्यष्टौ यागा विहिताः—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुं, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतं चरुं, पौष्णं चरुं, मारुतं सप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षां, द्यावापृथिव्यमेककपा-लमिति। तेषामष्टानां सन्निधिवदिमाम्नायते—वैश्वदेवेन यजेतेति। अत्र चाग्नेयादीन् यागान् यजेतेत्यनूद्य वैश्वदेवशब्देन देवतारूपो गुणस्तेषु विधीयते। यद्यपि वैश्वदेव्यामामिक्षायां विश्वेदेवाः प्राप्तास्तथाप्याग्नेयादिषु सप्तसु यागेष्वप्राप्तत्वाद्विधीयन्ते। तेष्वप्यग्न्यादिदेवताः सन्तीति चेत्तर्हि गत्यभावात्तेषु देवता विकल्प्यन्ताम्। नामधेयत्वे तु नाममात्रस्याविधेयत्वाद् द्रव्यदेवतयोरभावेन यागस्यात्र स्वरूपासम्भवाच्छ्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात्तस्माद् गुणविधिरिति पूर्वपक्षः। उत्पत्तिवाक्यैर्विहितानाग्नेयादीनष्टौ यागान् यजेतेत्यनूद्याष्टानां सङ्घे वैश्वदेवशब्दो नामत्वेनोपवर्ण्यते। न च विधित्वाभावेऽपि नामोपदेशस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। 'प्राचीनंप्रवणे वैश्वदेवेन यजेते'त्यादिषु वैश्वदेवशब्देनैकेनैवाष्टानां सङ्घस्य व्यवहर्तव्यत्वेनार्थवत्त्वोपपत्तेः। नामप्रवृत्तिनिमित्तभूता निरुक्तिस्तु द्विधा। आमिक्षायागे विश्वेषां देवानामिज्यमानतया तत्सहचरितानां सर्वेषां छत्रिन्यायेन वैश्वदेवत्वमिति, विश्वेदेवा

अष्टानां कर्तार इति वा तेषां वैश्वदेवत्वम्। तथा च ब्राह्मणं 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्व'मिति। देवताविकल्पस्तु समानबलत्वाभावान्न युज्यते, अग्न्यादय उत्पत्तिशिष्टत्वात् प्रबलाः विश्वेदेवा उत्पन्नशिष्टत्वाद् दुर्बलाः तस्माद्वैश्वदेवशब्दः कर्मनामधेयमिति सिद्धान्तः।

वस्तुगतिमाश्रित्य तत्प्रख्यशास्त्रादेव वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमाह—वस्तुतस्त्विति। प्रकृतयाग इति। वैश्वदेवनामकेऽष्टानामाग्नेयादीनां सङ्घात्मके प्रकृतयाग इत्यर्थः। विश्वदेवेति। प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणः सम्प्रतिपन्नः सम्प्राप्तो यस्मात्तादृशशास्त्र-स्येत्यर्थः। तत्र गुणप्रापकं शास्त्रमुदाहरति—यद्विश्वेदेवा इति। अस्य शास्त्रस्य कर्तृरूपेण प्रकृते यागे विश्वदेवरूपगुणप्रापकत्वमिति भावः। नामधेयस्य प्रयोजनं तु सर्वत्र व्यवहार एव। न ह्यन्तरेण नामधेयमृत्विग्वरणादिष्वनेनाहं यक्ष्य इत्याख्यानोपायो लघुः कश्चिदस्ति, तस्माद्वैश्वदेवादिशब्दानां कर्मनामधेयत्वमेवेति सिद्धम्।

अर्थबोधिनी—कुछ लोग किसी शब्द को नामधेय मानने में उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व को पाँचवा कारण मानते हैं; किन्तु सिद्धान्ती इस मत को स्वीकार नहीं करता। सिद्धान्ती 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को 'तत्प्रख्यशास्त्र' में ही अन्तर्भूत करता है।

'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा। 'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्तिविधि, 'शिष्ट' का अर्थ उपदिष्ट अर्थात् विहित, 'गुण' का अर्थ द्रव्य-देवतादि अङ्ग एवं 'बलीयस्त्व' का अर्थ बलवान होता है। इस प्रकार उत्पत्तिशिष्टगुण-बलीयस्त्व शब्द का अर्थ हुआ—उत्पत्तिविधि में उपदिष्ट (देवता आदि) गुण का बलवान होना।

पूर्वपक्ष का अभिप्राय इस प्रकार है—उत्पत्तिविधि में जिस गुण का विधान किया जाता है, वह गुण अन्यवाक्यविहित गुण से बलवान होता है; अतएव स्वीकार्य होता है। अन्य वाक्य में जिसे गुण समझा जाता है, वह वस्तुतः गुण नहीं होता; क्योंकि गुण का विधान उत्पत्तिवाक्य में ही हो गया है। इसलिये विधिवाक्यातिरिक्त वाक्य में जिस शब्द को गुणवाचक मानने का आग्रह किया जाता है, वह गुणवाचक न होकर यागवाचक अर्थात् याग का नामधेय होता है। उदाहरण इस प्रकार समझिये—चातुर्मास्य याग के अङ्गभूत चार याग होते हैं—१. वैश्वदेव, २. वरुणप्रघास, ३. साकमेध एवं ४. सुनासीरीय। १. वैश्वदेव याग के अन्तर्गत आठ याग हैं; जिनका विधायक उत्पत्तिवाक्य इस प्रकार है—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरु, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतं चरु, पौष्णं चरु, मारुतं सप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षां, द्यावापृथिव्यामेककपालम्। इस उत्पत्तिवाक्य के आग्नेयम् सौम्यम् आदि पदों द्वारा गुण (अग्नि सोम आदि देवताओं) का विधान (उपदेश) किया गया है। इस प्रकार अग्नि आदि देवता उत्पत्तिशिष्टगुण हुये। अग्नि

देवता उत्पत्तिशिष्ट गुण होने के कारण बलवान है; इसलिये उत्पत्तिवाक्य के समीप पठित **वैश्वदेवेन यजेत** वाक्य में 'वैश्वदेव' पद देवतारूप गुण का वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि उत्पत्तिवाक्य के **वैश्वदेवीमामिक्षाम्** पदों से वैश्वदेवदेवता-रूप गुण उपदिष्ट (शिष्ट) हो चुका है। इसलिये **वैश्वदेवेन यजेत** यहाँ 'वैश्वदेव' यागविशेष का नामधेय है। 'वैश्वदेव' याग के अन्तर्गत उत्पत्तिवाक्यप्रतिपादित आठों याग आते हैं।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के उक्त कथन का खण्डन करता है। सिद्धान्ती के अनुसार यहाँ 'तत्प्रख्यशास्त्र'-रूप निमित्त से ही **वैश्वदेवेन यजेत** वाक्य में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' शब्द यागविशेष का नामधेय (नाम) है, अतः 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व' को पृथक् निमित्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैश्वदेवेन यजेत वाक्य में प्रयुक्त वैश्वदेव पद याग का नामधेय इसलिये है कि विश्वेदेव देवता-रूप गुण का प्रख्यापक शास्त्र विद्यमान ही है।[1] सिद्धान्ती **यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्** इस वाक्य को विश्वदेव देवता का विधायक मानता है। इस प्रकार नामधेयप्रकरण समाप्त हुआ।

नामधेयप्रकरण समाप्त

●

१ ....तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्। (विभागसङ्ख्या-७१)

(ङ) निषेधप्रकरणम्

प्रसङ्ग—वेद के विधि, मन्त्र एवं नामधेय—इन तीन प्रभेदों के विवेचन के अनन्तर क्रमप्राप्त 'निषेध' का विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है—

७५. निषेधलक्षणम्

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथाहि—यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्तयति।

अर्थ—जो वाक्य पुरुष को किसी क्रिया के करने से निवृत्ति कराता है, उसे निषेध कहते हैं। अनर्थकारी क्रियाओं के प्रति पुरुष में निवर्तना उत्पन्न करना ही निषेध-वाक्यों का प्रयोजन है। जिस प्रकार विधिवाक्य प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपनी प्रवृत्तिजनकता को चरितार्थ करने के लिये विधेयभूत याग आदि की इष्टसाधनता का आक्षेप करता हुआ पुरुष को उस (याग) में प्रवृत्त कराता है, उसी प्रकार **न कलञ्जं भक्षयेत्** (विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षी का मांस नहीं खाना चाहिये) यह निषेधवाक्य भी निवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपनी निवृत्तिजनकता का निर्वाह करने के लिये निषेध्यभूत कलञ्जभक्षण के 'घोर अनिष्ट के साधन होने' का आक्षेप करता हुआ पुरुष को उस (कलञ्जभक्षण) से निवृत्त कराता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तदेवं मत्वर्थलक्षणादिनिमित्तचतुष्टयनिरूपणेन नामधेयस्य विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वं निरूपितम्। अधुना निषेधवाक्यानामर्थवत्त्वनिरूपणाय निषेधवाक्यं लक्षयति—पुरुषस्य निवर्तकमिति। निषेधेति। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेध-वाक्यानामनर्थहेतुभूतायाः कलञ्जभक्षणादिक्रियायाः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिजनक-त्वेनैवार्थवत्त्वं न किञ्चित्कर्तव्यताप्रतिपादकत्वेनेति भावः, यथा विधिवाक्यानां स्वप्र-वर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या विधेयार्थस्य स्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन तत्र विधेयार्थे पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं तथा निषेधानामपि स्वनिवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या निषेध्यस्य पुरुषा-निष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन, ततः कलञ्जभक्षणादेः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्ति-काभ्यां निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियायाः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वमुपपादयति—तथा हीत्यादिना।

अर्थबोधिनी—जो वाक्य किसी पुरुष को किसी क्रिया को करने से दूर रखता है, उसे निषेध कहा जाता है। निषेधवाक्यों का एक ही प्रयोजन (अर्थवत्त्व) है और वह यह कि निषेधवाक्य पुरुष में निवर्तना (विमुखता अर्थात् दूर हटने का भाव) को उत्पन्न करे, ताकि पुरुष अनिष्ट की साधनभूत क्रियाओं के अनुष्ठान से दूर रह सकें। निषेधवाक्य विधिवाक्यों के ठीक विपरीत—विरोधी होते हैं। विधिवाक्य पुरुष को इष्ट फल की साधनभूत क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराते हैं, जैसे **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** यह विधि स्वर्गफलक अग्निहोत्र याग का विधान करती हुई पुरुष को उस याग के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराती है। निषेधवाक्य अनिष्ट फल की साधनभूत क्रियाओं से पुरुष को निवृत्त कराते हैं। उदाहरण के लिय **न कलञ्जं भक्षयेत्** एक निषेधवाक्य है। यह वाक्य पुरुष को कलञ्जभक्षणरूप क्रिया से निवृत्त कराता है; क्योंकि कलञ्जभक्षण क्रिया घोर अनिष्ट—नरक की जन्मदात्री है। विषाक्त बाण से मारे गये पशु-पक्षियों के विषैले मांस को कलञ्ज कहा जाता है।

प्रसङ्ग—निषेधवाक्यों के द्वारा निवर्तना का प्रतिपादन जिस प्रकार होता है, उसका विवेचन किया जा रहा है—

७६. नञर्थेन शब्दभावनाया अन्वयः

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेत्। उच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितमन्यत्रान्वेति। अन्यथा 'राजपुरुषमानय' इत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः। अतः प्रयत्यार्थस्यैव नञर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यातत्वांश-वाच्यार्थभावनायाः, तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङं-शवाच्यशब्दभावनायाः, तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि निषेधवाक्य निवर्तना का प्रतिपादन किस प्रकार करते हैं? तो उत्तर रूप में यह कहा जाता है—**न कलञ्जं भक्षयेत्** इस निषेधस्थल में 'धातु के अर्थ' का अन्वय नञ् के अर्थ के साथ नहीं होता है। यद्यपि धात्वर्थ नञर्थ के समीप अव्यवहितरूपेण स्थित है; फिर भी यतः धात्वर्थ 'त' प्रत्यय के वाच्य—भावना के प्रति उपसर्जन (गौण) रूप में स्थित है, अतः धात्वर्थ का नञर्थ के साथ अन्वय नहीं होता है। कारण, अन्य के प्रति उपसर्जन-रूप में विद्यमान अर्थ दूसरे के साथ अन्वित नहीं होता है, नहीं तो राजपुरुषमानय यहाँ राजा का भी क्रिया से अन्वय होने की आपत्ति उठ खड़ी होगी। अतः यह निश्चय होता है कि प्रत्यय के अर्थ अर्थात् भावना का ही नञर्थ से अन्वय होता है, वह भी आख्यातत्व अंश के वाच्य—आर्थी भावना का अन्वय नहीं होता है; क्योंकि आर्थी भावना तो 'लिङ्' अंश के वाच्य—शाब्दी भावना के प्रति उपसर्जनरूप में

अर्थात् गौणरूप में स्थित होती है। अतः लिङंशवाच्य शाब्दी भावना का ही नञर्थ से अन्वय होता है। कारण, शाब्दी भावना ही धात्वर्थ एवं आर्थी भावना आदि सबकी अपेक्षा प्रधान है।

ननु निषेधवाक्यानां निवर्तनाप्रतिपादकत्वं न सम्भवति, न भक्षयेन्न हन्तव्य इत्येवमादावव्यवधानेन नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनान्वये सति धात्वर्थवर्जनकर्तव्यताया एव सर्वत्र वाक्यार्थत्वेन प्रतीयमानत्वात्। तथा च यथा यजेतेत्यादौ यागकर्तव्यता वाक्यार्थो भवति तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्, ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादावपि तत्तद्धात्वर्थवर्जनकर्तव्यतैव वाक्यार्थो न निवर्तनेत्याशयेनाशङ्कते—नन्विति। नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनाव्यवधानेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितत्वान्न नञर्थेनान्वयः सम्भवति। अन्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वितस्यान्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वयायोगादिति परिहरति—उच्यत इत्यादिना। अत्रेति। 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादावित्यर्थः। अव्यवधानेऽपीत्यत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनेत्यनुषङ्गः। तस्येति। धात्वर्थस्येत्यर्थः। अन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वये को दोष इत्यत आह—न हीति। तत्र बाधकं दोषमाह—अन्यथेति। अन्यविशेषणत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्र विशेषणत्वेनान्वयंस्वीकारे पुरुषोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य राज्ञोऽपि क्रियोपसर्जनत्वेनान्वयापत्तेरित्यर्थः। धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयासम्भवात् कलञ्जादिपदार्थस्यापि कारकोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य तत्रान्वयासम्भवाच्च परिशेषात्प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थेनान्वयो भवतीत्याह—अत इति। किञ्च प्रत्ययार्थोऽपि द्विविधो भवत्याख्यातत्वांशवाच्यार्थभावना लिङंशवाच्या शब्दभावना चेति, तयोर्मध्येऽपि नाख्यातत्वांशवाच्यभूताया अर्थभावनाया नञर्थेनान्वयः सम्भवतीत्याह—तत्रापीति। तत्र हेतुमाह—तस्या इति। प्रवर्तनोपसर्जनत्वेनेति। शब्दभावनाविशेषणत्वेनेत्यर्थः। लिङंशवाच्येत्यस्य लिङो योंऽशो लिङ्त्वरूपो धर्मस्तद्वाच्येत्यर्थो बोध्यः। एवमग्रेऽपि। ननु 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादौ कलञ्जादिपदार्थस्य धात्वर्थस्य च नञर्थेनान्वयो भवतैव निरस्तः, प्रत्ययार्थस्याप्यर्थभावनारूपस्य नञर्थेनान्वयानङ्गीकारे प्रत्ययार्थत्वाविशेषाच्छब्दभावनाया अपि तेनान्वयासम्भवे-नानन्वितशब्दस्याप्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति—किन्त्विति। तत्र हेतुमाह—तस्या इति। प्रत्ययार्थत्वं न नञर्थेनान्वये प्रयोजकं किन्तु सर्वापेक्षया मुख्यत्वेनोपस्थितत्वं, तच्च शब्दभावनायामबाधितमिति भावः।

अर्थबोधिनी—प्रश्न यह है कि **न कलञ्जं भक्षयेत्** आदि वाक्य निवर्तना का विधान किस प्रकार करते हैं। पूर्वपक्षी कह सकता है कि **भक्षयेत्** पद प्रवर्तना का विधान करता है और **न भक्षयेत्** वाक्य से **भक्षणाभावः कर्तव्यः** अर्थ का बोध हो सकता है। यह इसलिये कि 'नञ्' (न) का अर्थ 'अभाव' होता है, नञर्थ से भक्ष् धातु के अर्थ का अन्वय होने पर **भक्षणाभावः** अर्थ का बोध होगा और 'त' प्रत्यय प्रवर्तनाबोधक होता है।

पूर्वपक्ष का मत समीचीन नहीं है; क्योंकि यहाँ 'नञ्' का अर्थ 'अभाव' नहीं है, इसका विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा। पुनश्च नञर्थ से धातु (भक्ष्) के अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि 'भक्ष्' धातु का अर्थ 'त' प्रत्यय के आख्यातत्वांश-वाच्य आर्थी भावना का साधन होने के कारण आर्थी भावना के प्रति उपसर्जनभूत है। किसी के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ अन्य किसी से अन्वित नहीं होता है। जैसे राजपुरुषमानय यहाँ आनय पद का अन्वय 'राजा' से नहीं होगा; क्योंकि 'राजा' पुरुष के प्रति उपसर्जनभूत है। इसीलिए **राजपुरुषमानय** कहने पर आनयन 'पुरुष' का होता है, राजा का नहीं। इस प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ से नहीं होगा। तब क्या नञर्थ का अन्वय **भक्षयेत्** पदगत 'त' प्रत्यय के आख्यातत्वांश-वाच्य आर्थी भावना से होता है? उत्तर है—नहीं। कारण, आर्थी भावना लिङ्त्ववाच्य[1] शब्दभावना का साधन होने से उसके प्रति उपसर्जन-रूप में स्थित है। इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि शाब्दी भावना ही धात्वर्थ एवं आर्थी भावना से प्रधान है और इसलिये नञर्थ का अन्वय शाब्दी भावना से होना चाहिए।

यहाँ तक सिद्धान्ती ने यह निर्णय किया कि नञर्थ का अन्वय शाब्दी भावना से होना चाहिए; किन्तु 'नञ्' (न) का अर्थ सर्वत्र अभाव ही नहीं होता; अपितु विरोधी भी होता है, इस विषय का विवेचन अग्रिम विभाग में किया जायेगा।

प्रसङ्ग—'नञ्' का अर्थ विरोध भी होता है, सर्वत्र अभाव ही नहीं। इसी का निरूपण इस विभाग में हो रहा है—

७७. नञ्स्वभावनिरूपणम्

नञश्चैष स्वभावो यत् स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ति' इत्यादौ 'अस्ति' इति शब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति। तद्वदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्यश्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति' इति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् निषेधवाक्यश्रवणे 'अयं मां निवर्तयति' इति निवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपनिवर्तनायाः प्रतीतेः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः।

अर्थ—'नञ्' का यह स्वभाव है कि वह अपने साथ उच्चरित पदार्थ के विरोधी अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिये **घटो नास्ति** इस वाक्य में 'अस्ति' शब्द के साथ उच्चरित 'नञ्' घट के अस्तित्व के विरोधी 'घटासत्त्व' अर्थ का बोध कराता है, इसी प्रकार **न कलञ्जं भक्षयेत्** यहाँ लिङ् के साथ उच्चरित नञ् 'लिङ्' के अर्थ—प्रवर्तना के विरोधी—निवर्तना का बोध कराता है; क्योंकि जैसे विधिवाक्य के सुनने पर 'यह मुझे

१. देखिये—विभागसङ्ख्या-६-११

प्रवृत्त करा रहा है' इस प्रकार प्रवर्तना की प्रतीति होती है, उसी प्रकार निषेधवाक्य के सुनने पर निवृत्ति के अनुकूल व्यापाररूप निवर्तना की प्रतीति होती है। इसलिये निषेधवाक्यस्थल में 'नञ्' का अर्थ निवर्तना ही होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवं शब्दभावनारूपस्य प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तनाविशेषस्य नञर्थेनान्वये सिद्धे नञः प्रत्ययार्थभूतप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाबोधकत्वप्रदर्शनाय प्रथमं तत्स्वभावं प्रदर्शयति—नञश्चैष स्वभाव इति। अत्र स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं स्वान्वितपदार्थविरोधिबोधकत्त्वं बोध्यम्। तेन कलञ्जादिपदार्थानामपि विरोधिबोधकत्वं नञो दुर्वारं स्यात्तेषामप्येकत्र सहपाठरूपनञ्समभिव्याहारस्य सत्त्वादिति निरस्तम्। तेषां नञन्वितपदार्थत्वाभावस्य दर्शितत्वेन नञस्तद्विरोधिबोधकत्वासम्भवात्। नञः स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेत्यादिना। घटसत्त्वविरोधीति। नास्तीत्युक्ते कस्यासत्त्वमस्तीति सत्त्वशब्दान्वयिना नञात्र बोध्यते इति सत्त्वनिरूपकाकाङ्क्षायाः सत्त्वाद् घटनिरूपितसत्त्वविरोधीत्यर्थः। इदानीं नञः स्वभावप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति—तदिति। तन्नञित्यन्वयः। तत्प्रदर्शितस्वभावं नञित्यर्थः। इहेति। 'न कलञ्जं भक्षयेद्, ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादौ वाक्य इत्यर्थः। ननु लिङः प्रवर्तनाप्रतिपादकत्वे सिद्धे तत्सम्बद्धनञस्तदर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति तदेव कुत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—विधीति। प्रतीतेरिति। प्रवर्तनाप्रतीतेरित्यर्थः। यद्वा 'यजेत स्वर्गकाम' इति विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिनिषेधवाक्यश्रवणेऽप्ययं मां निवर्तयतीति निवर्तनाप्रतीतेरित्यध्याहारेण विधीत्यादिहेतुवाक्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविधया योजनीयम्। एवं सिद्धं निवर्तनारूपं निषेधवाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यत्र कलञ्जकर्मकभक्षणानुकूलपुरुषप्रवृत्तिजनकप्रवर्तनां प्रति लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनैव वाक्यार्थः। एवमन्यत्रापि निषेधवाक्येषु सर्वत्र निवर्तनाया एव वाक्यार्थत्वे विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वमप्युपपन्नं भवति, हननादिवर्जनकर्तव्यतावाक्यार्थत्वपक्षे तु कर्तव्यताया एवोभयत्र प्रतिपाद्यत्वात्तयोरेकार्थत्वं स्यात्तच्च न युक्तम्। यथाहुः—

अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः।
दृश्यते तादृगेवेह विधानप्रतिषेधयोः।। इति।

तस्मान्निवर्तनैव प्रतिषेधेषु वाक्यार्थ इति सिद्धम्।

अर्थबोधिनी—मीमांसा के अनुसार 'नञ्' का अर्थ 'अभाव' के अतिरिक्त विरोधी भी होता है। उदाहरण के लिये घटो नास्ति यह वाक्य। घटोऽस्ति से 'घट के अस्तित्व' का बोध होता है और इसीलिए घटो नास्ति का अर्थ 'घटास्तित्व का विरोधी' अर्थात् 'घटासत्त्व' समझा जाता है। न कलञ्जं भक्षयेत् इस निषेधवाक्य में भक्षयेत् पद विधि लिङ् में प्रयुक्त हुआ है। 'लिङ्' का अर्थ प्रवर्तना होता है, इस विषय का स्पष्टीकरण विभाग-

सङ्ख्या-८ में किया गया है। वहाँ इन पङ्क्तियों के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये—**तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः।** इस प्रकार यह निश्चित हो जाने पर कि 'लिङ्' का अर्थ प्रवर्तना होता है और 'नञ्' का अर्थ 'समीप उच्चरित पदार्थ का विरोधी' होता है तो 'लिङ्' के साथ उच्चरित 'नञ्' का अर्थ 'प्रवर्तना का विरोधी' अर्थात् निवर्तना हुआ। **यजेत स्वर्गकामः** जैसे विधिवाक्यों को सुनकर पुरुष को यह बोध होता है कि प्रस्तुत विधिवाक्य मुझे याग में प्रवृत्त कराता है। इसी प्रकार **न कलञ्जं भक्षयेत्** जैसे निषेधवाक्य को सुनकर पुरुष को यह ज्ञान होता है कि यह वाक्य मुझे कलञ्जभक्षण से निवृत्त कराता है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि निषेधवाक्य 'निवर्तना' के प्रतिपादक होते हैं।

प्रसङ्ग—कभी-कभी 'लिङ्' प्रत्यय के साथ 'नञ्' का अन्वय होने में बाधा होती है, इस बात को मीमांसक भी स्वीकार करता है। उक्त बाधस्थलों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

७८. नञर्थेन प्रत्ययार्थस्यान्वये द्विविधं बाधकम्

यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्। तस्य व्रतम् इत्युक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च।

अर्थ—और जब प्रत्यय (लिङ्) के अर्थ का उस (नञ् के अर्थ) के साथ अन्वय (होने) में बाधक (उपस्थित) होता है तब धातु के अर्थ का (लिङर्थ से) अन्वय होता है और वह (लिङर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में) बाधक दो प्रकार का है—उसका व्रत (तस्य व्रतम्) यह उपक्रम (प्रारम्भ) एवं विकल्प की प्रसक्ति (आपत्ति)।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**यदि तु प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये किञ्चिद्बाधकं वर्तते तदा धात्वर्थस्यैव नञर्थेनान्वयो भवतीत्याह**—यदा त्वित्यादिना। **तत्र बाधकं विभजते**—तच्चेति। **प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये वर्तमानं चेत्यर्थः।**

अर्थबोधिनी—दो प्रकार के ऐसे बाधक होते हैं, जिनके उपस्थित होने पर नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होता। ऐसी स्थिति में नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ से होता है। दो प्रकार के बाधकों में प्रथम है—**तस्य व्रतम् का उपक्रम** और द्वितीय है—**विकल्पप्रसक्ति।** 'तस्य व्रतम्' का अर्थ है—ब्रह्मचारी के कर्तव्य। जहाँ कहीं ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उपक्रम (प्रारम्भ) **तस्य व्रतम्** पदों द्वारा किया गया हो और बाद के वाक्य या वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग किया गया हो, वहाँ लिङर्थ—प्रवर्तना का अन्वय नञर्थ से नहीं होगा; क्योंकि **तस्य व्रतम्** के द्वारा कर्तव्य की सूचना दी गई है। कर्तव्यस्थल में प्रवर्तना होती है, निवर्तना नहीं। लिङर्थ से नञर्थ के अन्वय होने पर प्रवर्तना का बाध होगा, इसलिये ऐसे स्थलों पर धात्वर्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है।

विकल्पप्रसक्ति-स्थल में लिङर्थ का नञर्थ से अन्वय नहीं होता; अपितु सुबन्त पद के अर्थ का, क्योंकि विकल्प की आपत्ति हो जाती है। इसका विवेचन विभागसङ्ख्या-८० में विस्तार से किया गया है।

प्रसङ्ग—अब प्रथम बाधक का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

७९. आद्यं बाधकम्

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादौ, 'तस्य व्रतम्' इत्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्। तथा हि व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात् 'तस्य व्रतम्' इत्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत् कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः। अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेकवाक्यत्वं न स्यात्। तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः, कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्, तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मात् 'नेक्षेत' इत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसङ्कल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते तस्य कर्तव्यत्वसम्भवात्।

'आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्पेन भावयेत्' इति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इति वाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतयान्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव। न च अत्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि सम्भवात् कथमनीक्षणसङ्कल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम्। तस्य कर्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्।

अर्थ—नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय होने में पहिला बाधक 'तस्य व्रतमित्युपक्रमः' है, जिसका उदाहरण है—**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** अर्थात् 'उदित होते हुए सूर्य को न देखें।' 'तस्य व्रतम्' द्वारा प्रकरण का प्रारम्भ करके नेक्षेत इत्यादि वाक्य का पाठ होने के कारण ही नञर्थ से क्रियार्थ का अन्वय नहीं होता है। इसीलिए यहाँ पर्युदास का आश्रय लिया गया है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—व्रत शब्द कर्तव्य अर्थ में रूढ है और **तस्य व्रतम्** पदों द्वारा स्नातक के कर्तव्य के विधान का प्रारम्भ किया गया है। 'वह कौन-सा कर्तव्य है'—ऐसी आकाङ्क्षा होने पर **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** इस वाक्य के द्वारा कर्तव्यार्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिए; अन्यथा 'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता नहीं हो सकेगी। अतएव कर्तव्यार्थ का बोध न होने के कारण नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा। नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना का ही ज्ञान होता है और निवर्तना में कर्तव्यता का अभाव रहता है, इसलिए **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** इस स्थल में लक्षणा के द्वारा 'नञ्' का अर्थ

धात्वर्थ का विरोधी—अनीक्षणसङ्कल्प लिया जाता है; क्योंकि अनीक्षणसङ्कल्प कर्तव्य की कोटि में आता है अर्थात् न देखने का सङ्कल्प किया जा सकता है।

तब **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** इस वाक्य का 'सूर्य को न देखने के सङ्कल्प के द्वारा भावना करे' यह अर्थ होता है। इस पर जब भाव्य (फल) की आकाङ्क्षा होती है तब **एतावता हैनसा वियुक्तो भवति** (इतने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है) इस अर्थवाद से ज्ञात 'पापक्षय' भाव्य के रूप में अन्वित होता है। इस प्रकार पूर्व एवं उत्तरवाक्यों में एकवाक्यता का निर्वाह हो जाता है। यह भी कहना उचित नहीं कि 'धात्वर्थ का विरोधी और भी कोई पदार्थ (जैसे कपड़े से नेत्र बन्द करना आदि) हो सकता है; फिर अनीक्षण सङ्कल्प को ही भावना से अन्वय होने योग्य क्यों माना जाय? कारण, धात्वर्थ का विरोधी (कपड़े से नेत्र बन्द करना आदि) और किसी पदार्थ में कर्तव्य नहीं हो सकता। इसीलिए प्रकृत स्थल में उसका भावना से अन्वय नहीं होता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—तत्राद्यमिति। **तयोरुक्तयोर्द्वयोर्मध्य आद्यबाधकमित्यर्थः।** तस्य व्रतमितीति। तस्य स्नातकस्य ब्रह्मचारिविशेषस्य व्रतं प्रजापतिदेवताकमादित्यानीक्षणसङ्कल्पादिकं किञ्चिदनुष्ठेयमित्यर्थः। एतद्वाक्यपाठादिति। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचने'त्येतद्वाक्यपाठादित्यर्थः। तथा चेति। तस्य व्रतमिति स्नातकस्यानुष्ठेयमुपक्रम्य 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादिवाक्यपाठे चास्मिन्वाक्ये पर्युदास एव समाश्रीयत इत्यर्थः। किञ्च 'नेक्षोतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नञ्पदमभिधावृत्त्या प्रतिषेधं ब्रूते न तु पर्युदासं, लक्षणापत्तेः प्रतिषेधस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वाद्वैदिकस्य प्रतिषेधस्य वैदिक्येव प्राप्तिस्तु प्रत्यासन्नाभवेत्। तथा च सति यत्र क्रतावादित्येक्षणं विहितं तत्रायं प्रतिषेध उदयास्तमयोद्देशेन प्रवर्तते। एवं च सति नात्र फलं कल्पनीयं स्यात्। पर्युदासमाश्रित्य पुरुषार्थत्वाङ्गीकारे त्वधिकारसिद्धये फलस्य कल्पनीयत्वमापद्येत, तस्मादत्र क्रत्वर्थः प्रतिषेध इत्याशङ्क्य, तस्य व्रतमित्युपक्रम्य 'नेक्षेतोद्यन्तमि'त्याद्याम्नातत्वाद् व्रतशब्दस्य च कर्तव्यरूपार्थे रूढत्वादत्र किञ्चिदनुष्ठेयमेव प्रतिभाति। तच्च पर्युदासाश्रयणे सत्येवोपपद्यते।

किञ्चोपक्रमवाक्ये प्रतिज्ञातस्यैवार्थस्यात्रापि वक्तव्यत्वात्, उपक्रमवाक्ये तु स्नातकानुष्ठेयव्रतानामेव प्रतिज्ञातत्वात् कानि तानि व्रतानीत्यपेक्षायां स्नातकव्रतप्रदर्शनायास्य वाक्यस्यावतारादत्र कर्तव्य एव कश्चिदर्थो वक्तव्यः, स च पर्युदासपक्षे लभ्यते, निषेधपक्षे तु दुर्लभ एवेत्यभिप्रायेण पर्युदासपक्षमुपपादयति—तथा हीत्यादिना। नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ कर्तव्यरूपस्यार्थस्याप्रतिपादनीयत्वे बाधकमाह—अन्यथेति। पूर्वोत्तरेति। तस्य व्रतमिति नेक्षेतोद्यन्तमित्याद्युत्तरवाक्यं च तयोरेकवाक्यत्वं बाध्येतेत्यर्थः।

ननु 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादौ भवतु कर्तव्यरूपार्थस्यैव प्रतिपादनं, ततोऽपि किं स्यादित्यत आह—तथा चेति। तथा च 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादौ कर्तव्यरूपार्थस्य प्रतिपादनीयत्वे

च नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वयावकाशो न भवतीत्यर्थः। ननु 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नञर्थेन प्रत्ययार्थस्यान्वये को दोष इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—कर्तव्येति। नञर्थेन प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये ततः कर्तव्यार्थानवबोधापत्तेरित्यर्थः। ननु प्रत्ययान्वितस्य नञः कर्तव्यार्थावबोधकत्वानङ्गीकारे को वार्थस्तेनावबोध्यत इत्यत आह—विध्यर्थेति। तादृशनञेति। प्रत्ययान्वितेन नञेत्यर्थः। तादृशनिवर्तनैव कर्तव्यरूपार्थो भवतु को दोष इति मन्दाभिप्रायमाशङ्क्याह—तस्याश्चेति। निरुक्तनिवर्तनायाश्चेत्यर्थः। किं चैवं नञः प्रत्ययेनान्वयासम्भवे प्रत्ययादवतारितो नञ् धातुना सह सम्बध्यते, धातुना नञः सम्बन्धे च न तस्य निषेधकत्वं सम्भवति विधायकसम्बद्धस्यैव नञो निषेधकत्वात्, निषेधकत्वप्रतिपक्षत्वात्, नामधातुभ्यां योगे तु नञो न निषेधकत्वं युक्तं तयोरविधायकत्वात्। यथाहुः—

नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदतोऽब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ।। इति।

तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञो धातुना योगान्नञा धात्वर्थक्षणविरोधी कश्चनार्थः प्रतिपाद्यते। यद्यपि नञोऽभाव एव शक्तिः। तथा चेक्षणस्याभाव एव नञः शक्यार्थो लाघवात् न तु तद्विरोधी तस्यां भावघटितत्वेन गौरवापत्तेः। तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञिति स्मरणं तु प्रतीत्यभिप्रायं न शक्त्यभिप्रायं, तथापि नेक्षेतेत्यत्र प्रत्ययस्य नञा सम्बन्धशून्येन च तेन तावत्कश्चिदर्थो विधेयः स्वीकर्तव्यः। तत्र न तावद्धात्वर्थो विधातुं, नञा तदभावबोधनात्। नापि तदभावो विधातुं शक्यते, अभावस्याविधेयत्वात्, तस्मात्पर्युदासाश्रयणेन धात्वर्थेक्षणविरोधी कश्चनात्र विधानयोग्योऽर्थो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यते, स च विधानयोग्यः पदार्थोऽनीक्षणसङ्कल्प एव, तस्येक्षणविरोधित्वात्कर्तव्यत्वसम्भवाच्च, ततश्च स एव सङ्कल्पोऽत्रानुष्ठेयत्वेन विधीयत इत्यभिप्रायेण पर्युदासस्यावश्यकत्वात् प्रत्ययादवतारितस्य नञो धातुसम्बन्धेन तदर्थविरोध्यनीक्षणसङ्कल्पप्रतिपादकत्वमुपसंहरति—तस्मादिति। लक्षणयेति। स्वसमभिव्याहृतपदार्थाभाव एव नञः स्वशक्यार्थो भवति। तथा च स्वसम्बध्यमानधात्वर्थाभावं शक्त्या प्रतिपादयन् नञ् तदभावसम्बन्धिनं तदर्थविरोधिनं लक्षणया प्रतिपादयत्येव तदभावतद्विरोधिनोः सम्बन्धस्य सम्भवात्। दृश्यते हि तेजोऽभावतमसोः सम्बन्धः। तथा चोद्यन्तमस्तं यन्तं चादित्यं नेक्षिष्य इत्येवंरूपः सङ्कल्पोऽत्रानुष्ठेयत्वेन विधीयमानो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यत इति भावः। तस्येति। अनीक्षणसङ्कल्पस्येत्यर्थः।

पर्युदासपक्षे 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यस्य वाक्यस्यार्थं प्रदर्शयति—आदित्येति। यत्तु पर्युदासपक्षे फलस्यात्र कल्पनीयत्वमापादितं तदपि न, वाक्यशेषावगतस्य पापक्षयस्यैवात्र फलत्वसम्भवादित्याशयेनात्र भाव्यान्वयं प्रदर्शयति—तत्रेति। अनीक्षणसङ्कल्पभावनायामित्यर्थः। एनसा वियुक्तो भवतीति। पापेन विरहितो भवतीत्यर्थः। किञ्च 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्रानीक्षणसङ्कल्परूपस्यानुष्ठेयस्य प्रतिपादने तस्य व्रतमिति

स्नातकव्रतोपक्रमवाक्यस्य नेक्षेतेत्याद्युत्तरवाक्येनैकवाक्यत्वमुपपन्नं भवति, पूर्वप्रतिज्ञातस्यैवोत्तरप्रतिपादनादित्याह—एवमिति। ननु धात्वर्थेक्षणविरोधिनो बहवः पदार्था अनुष्ठेयाः सन्ति, ततश्च कथमत्र वाक्येऽनीक्षणसङ्कल्पस्यैव भावनायां करणत्वेनान्वयः स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। यद्यपि पदार्थान्तराणां पटेन चक्षुषोः पिधानादिरूपाणां धात्वर्थेक्षणविरोधित्वं सम्भवति; तथापि कायिकवाचिकव्यापारविशेषाणामत्राप्रतीयमानत्वान्मानसव्यापारस्य चाप्रतिषेधात्सङ्कल्प एव मानसव्यापारविशेषोऽत्र परिशिष्यत इत्यभिप्रेत्य तत्र हेतुमाह—तस्येति। पटादिना चक्षुषोः पिधानादिरूपस्य पदार्थान्तरस्य कर्तव्यताभावेन कर्तव्यत्वेन विवक्षाऽसम्भवेन सर्वक्रियाऽविनाभूतस्यैव धात्वर्थेक्षणविरोधिपदार्थान्तरस्य नेक्षेतेत्यादौ प्रकृते भावनान्वययोग्यत्वमुपपद्यते। तथा च धात्वर्थेक्षणविरोध्यनीक्षणसङ्कल्पस्यैवात्र भावनान्वययोग्यता सम्भवति, तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वात्र तु तादृशपदार्थान्तरस्य तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वासम्भवादिति भावः।

अर्थबोधिनी—विभागसङ्ख्या-७८ में ग्रन्थकार ने सूचित किया है कि ऐसे स्थल दो प्रकार के होते हैं, जहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में बाधा पहुँचती है। ऐसे स्थलों पर पर्युदास का आश्रय लिया जाता है। जब नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से न होकर धात्वर्थ अथवा सुबन्त पद के अर्थ से हो तो उस स्थिति को पर्युदास कहते हैं। पहिले प्रकार के पर्युदास के स्वरूप का स्पष्टीकरण इसी विभाग में किया गया है एवं द्वितीय प्रकार के पर्युदास का स्पष्टीकरण विभागसङ्ख्या-८० में किया गया है।

नञर्थ से प्रत्यार्थ के अन्वय होने में जहाँ बाधा उपस्थित होती है, उन दो प्रकार के स्थलों में से पहिले प्रकार का स्थल वह है, जहाँ कर्तव्य अर्थात् प्रवृत्तिबोधक शब्द 'व्रत' से किसी अनुष्ठान को प्रारम्भ करके परवर्ती वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग मिलता है। इस विभाग में इसी प्रथम प्रकार के बाधक के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है। ग्रन्थकार 'तत्राद्यम्' पदों द्वारा इसी प्रथम बाधक की ओर सङ्केत कर रहे हैं।

जहाँ कहीं कर्तव्य विषयों का विवेचन 'व्रत' (कर्तव्य) आदि शब्द का उल्लेख करके प्रारंम्भ किया जाता है[1] और उन्हीं कर्तव्यों के बोधक वाक्यों में 'नञ्' का प्रयोग किया जाता है, वहाँ नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से नहीं होता। उदाहरण के लिए नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्[2] (उदित होते हुये सूर्य को नहीं देखना चाहिये) इस वाक्य का अर्थ

---

१. यत्रोपक्रमेऽनुष्ठेयपदार्थवाचको व्रतशब्दो दृश्यते। (सारविवेचिनी)

२. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।। (मनुस्मृति-४.३७)

कुल्लूक भट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—उद्यन्तमस्तं यन्तं च सूर्यबिम्बं सम्पूर्णं नेक्षेत। उपसृष्टं ग्रहोपरक्तं वक्ताद्युपसर्गयुक्तं च, वारिस्थं जलप्रतिविम्बितं, नभोमध्यगतं मध्यंदिनसमये।

करते समय 'नञ्' (न) के अर्थ से (नेक्षेत-गत) 'त' प्रत्यय के अर्थ का अन्वय नहीं किया जायेगा। कारण, **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** वाक्य का प्रयोग 'व्रत'[1] (कर्तव्य) के प्रसङ्ग में किया गया है। अभिप्राय यह है कि स्नातक[2] के व्रतों का प्रख्यापन करने के पूर्व कर्तव्यार्थसूचक 'व्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी बात को ग्रन्थकार ने **तस्य व्रतमित्युपक्रमः** (उस स्नातक का कर्तव्य कहकर प्रारम्भ करना) इन शब्दों द्वारा कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** वाक्य कर्तव्य अर्थात् प्रवर्तना का बोध कराता है, निवर्तना का नहीं। आशय यह है कि जब प्रकृत स्थल में साक्षात् 'व्रत' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'व्रत' शब्द का रूढ़ अर्थ कर्तव्य होता है तब **किं कर्तव्यम्** अर्थात् क्या कर्तव्य है? इस प्रकार स्नातक के कर्तव्यों की आकाङ्क्षा होती है तब **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** इत्यादि वाक्य कर्तव्यज्ञापक के रूप में ही अन्वित होने चाहिये। इस प्रकार 'व्रत' शब्द एवं 'नेक्षेत' आदि वाक्य दोनों कर्तव्यपरक समझे जाने के कारण दोनों वाक्यों में समन्वय हो जाता है। अन्यथा **तस्य व्रतम्** एवं **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** इन दोनों वाक्यों में समन्वय न होने के कारण एकवाक्यता नहीं हो पाती और दोनों वाक्य एक ही विषय के प्रतिपादक नहीं माने जाते।

यह सिद्ध हो जाने पर कि **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** द्वारा कर्तव्यार्थ—प्रवर्तना का ही

---

१. अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।। (मनुस्मृति-४.१३)

२. स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक, २. व्रतस्नातक एवं ३. विद्याव्रतस्नातक। विद्यास्नातक उस स्नातक को कहते हैं, जिसने स्वाध्याय की समाप्ति कर लिया हो; किन्तु ब्रह्मचर्य की अवधि को पूरा न किया हो। व्रतस्नातक ऐसे स्नातक को कहते हैं, जिसने ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर ली हो, किन्तु अध्येतव्य वेद का अध्ययन न समाप्त किया हो। विद्याव्रतस्नातक उस स्नातक को कहते हैं, जिसने अध्येतव्य वेद का अध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि दोनों को पूर्ण कर लिया हो—

त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति। समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः। समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य यः समम्वर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति।
(पारस्करगृह्यसूत्र-२.५.३२-३५)

तथा

समाप्य समाप्तिं पठतोऽर्थतश्च अवसानं नीत्वा वेदवेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मिकां एकां शाखां व्रतं च ब्रह्मचर्यं समाप्य यः समावर्त्तते स्नाति स ब्रह्मचारी विद्यास्नातको भवति एवं समाप्य व्रतं द्वादशवार्षिकादिकं ब्रह्मचर्यम् असमाप्य असम्पूर्णमधीत्य वेदम् एकां शाखां यो ब्रह्मचारी समावर्त्तते स्नानं करोति स व्रतस्नातको भवति। उभयं वेदं सब्रह्मचर्यं समाप्य अन्तं नीत्वा यः स्नाति स विद्याव्रतस्नातको भवति।
(पारस्करगृह्यसूत्र-२.५.३३-३५ पर हरिहरभाष्य)

बोध होता है, यह विचारणीय प्रश्न है कि प्रकृत वाक्य से प्रवर्ततना का बोध किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि वाक्यगत 'नञ्' (न) के अर्थ का अन्वय किसके साथ हो। जैसा कि विभागसङ्ख्या-७६ में बतलाया गया है कि यदि नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से किया जायेगा तो वाक्य से निवर्तना का बोध होगा और निवर्तना विधिबोध्य प्रवर्तना के ठीक विरुद्ध होती है (**तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्**)। इस प्रकार प्रकृत वाक्य से निवर्तना का बोध होने से वाक्य कर्तव्य अर्थ का बोध नहीं करा सकेगा; क्योंकि कर्तव्य अर्थ का बोध तो निवर्तना द्वारा न होकर प्रवर्तना द्वारा ही होता है। इस प्रकार नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय मानने पर निवर्तना का बोध होने लगेगा और निवर्तना 'व्रत' एवं शब्दबोध्यकर्तव्यार्थ प्रवर्तना के विरुद्ध होती है, इसलिये **तस्य व्रतम्** एवं **नेक्षेतोऽन्तमादित्यम्** दोनों वाक्यों में समन्वय अर्थात् एकवाक्यता नहीं हो सकेगी, जबकि दोनों में एकवाक्यता होनी चाहिए। यही कारण है कि यहाँ नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा।

प्रश्न यह है कि फिर नञर्थ से किसका अन्वय होगा? उत्तर यह है कि धात्वर्थ का अर्थात् नञर्थ से 'ईक्ष्' धातु के अर्थ का अन्वय विवक्षित है। 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' और 'ईक्ष्' धातु का अर्थ 'ईक्षण' अर्थात् 'दर्शन' है। तब नञर्थ एवं धात्वर्थ का अन्वित अर्थ 'ईक्षणविरोधी' अर्थात् 'दर्शनविरोधी' हुआ; किन्तु अब ईक्षणविरोधी कौन-सा पदार्थ लिया जाए? यह प्रश्न उपस्थित होता है। मीमांसक यहाँ पर लक्षणा द्वारा धात्वर्थविरोधी के रूप में 'अनीक्षणसङ्कल्प' को गृहीत हुआ मानेगा। कारण, धात्वर्थविरोधी पदार्थ ऐसा होना चाहिए, जो कर्तव्य हो सके। सङ्कल्प 'भावात्मक मानस कर्म' होता है। इस प्रकार 'अनीक्षणसङ्कल्प' कर्तव्य की कोटि में आ सकता है। 'अनीक्षणसङ्कल्प' के मानस कर्म होने पर **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** वाक्य का मीमांसासम्मत अर्थ इस प्रकार होता है—**आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्पेन भावयेत्** अर्थात् आदित्य को न देखने के सङ्कल्प से सम्पन्न करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृत अर्थबोधवाक्य विधिरूप में कर्तव्यरूप परिणत हो जाता है।

उक्त वाक्य में 'भावयेत्' पद साकाङ्क्ष है। यहाँ **किं भावयेत्** इस प्रकार भाव्य (साध्य) की आकाङ्क्षा होती है, जिसका उपशमन **एतावता हैनसा वियुक्तो भवति**[1] इस वाक्यविशेष अर्थात् अर्थवाद वाक्य से होता है। इस अर्थवाद वाक्य का अर्थ है—इतने (आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्प) से व्यक्ति (स्नातक) पाप से मुक्त हो जाता है। इस

१. मनुस्मृति में फलबोधक वाक्य भिन्न है। वह इस प्रकार है—
अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते।। (मनुस्मृति-४.२३०)

प्रकार **नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** एवं **एतावता हैनसा वियुक्तो भवति**—इन दोनों वाक्यों को मिलाकर एक पूर्ण वाक्य बन जाता है। यह इसलिए कि दोनों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष हैं। प्रथम वाक्य साध्याकाङ्क्ष और दूसरा साधनाकाङ्क्ष। साधन—आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्प का उल्लेख प्रथम में है और साध्य—पापमुक्ति का दूसरे में। इस सब विवेचन से यही सिद्ध होता है कि यहाँ धात्वर्थविरोधी के रूप में 'अनीक्षणसङ्कल्प' ही लेना है, न कि प्रवर्तनाविरोधी निवर्तना।

पूर्वपक्षी प्रश्न कर सकता है कि धात्वर्थ के विरोधी कर्तव्य संसार में अनेक पदार्थ हैं, जैसे कपड़े से नेत्र बन्द करना, फिर धात्वर्थविरोधी कर्तव्यरूप में 'अनीक्षणसङ्कल्प' को ही क्यों ग्रहण किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि कपड़े आदि से नेत्र बन्द करना शारीरिक क्रियामात्र है; जबकि 'व्रतम्' द्वारा ऐसे कर्तव्यों का बोध होता है, जो मानस कर्म हों। **इदं मया कर्तव्यम्, इदं न कर्तव्यम् इत्येवंविधसङ्कल्पविशेषाद् व्रतम्**[1]। इस प्रकार अनीक्षणसङ्कल्प भावना के रूप में अन्वित होने के कारण अर्थात् भावनारूप होने में समर्थ होने के कारण यहाँ पर ग्रहण किया जाता है, 'कपड़े आदि से नेत्रों का बन्द करना' आदि नहीं।

ध्यान रहे कि यहाँ—**१. तस्य व्रतम्, २. नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्** एवं **३. एतावता हैनसा वियुक्तो भवति**—इन तीनों वाक्यों में एकवाक्यता मानी गई है; अतएव इन तीनों वाक्यों का उल्लेख एक ही ग्रन्थ में मिलना चाहिये था। अतएव यह अन्वेषणीय विषय है कि यह तीनों वाक्य किस श्रुति से उद्धृत किये गये हैं?

चिन्नस्वामी ने 'व्रत' शब्द को 'धर्म' का और 'उपक्रम' शब्द को 'उपसंहार' का उपलक्षण माना है। ऐसी स्थिति में यदि उपसंहार-वाक्य में 'धर्म' का उल्लेख हो और उसके पूर्व धर्मपरक वाक्य में 'नञ्' का प्रयोग हो तो वहाँ भी पर्युदास का आश्रय लिया जायेगा एवं नञर्थ का अन्वय धात्वर्थ के साथ होगा। उदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है। पहिले एक विधिवाक्य का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है—**एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि** अर्थात् 'दोनों पक्षों की एकादशी में भोजन नहीं करना चाहिये।' पुनश्च बाद में उक्त वाक्य के प्रसङ्ग में उपसंहारवाक्य इस प्रकार प्राप्त होता है—**वनस्थयतिधर्मोऽयम्**। यहाँ उपसंहार वाक्य में 'धर्म' शब्द का अर्थ कर्तव्य है। अतएव **एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि** में भी कर्तव्य का प्रतिपादन होना चाहिये तभी दोनों वाक्यों में एकवाक्यता का निर्वाह होगा। यहाँ **न भुञ्जीत** का अर्थ लक्षणा द्वारा **अभोजनसङ्कल्पेन भावयेत्** होगा[2]।

१. देखिये, मनुस्मृति (४.१३) पर कुल्लूक भट्ट की टीका।

२. व्रतमित्युपलक्षणं धर्मादिपदस्यापि। उपक्रम इत्युपलक्षकमुपसंहारस्यापि। अत एव 'एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि। वनथयतिधर्मोऽयम्' इत्यत्राभोजनसङ्कल्पलक्षणा स्मर्तृभिरङ्गीकृता सङ्गच्छते। (सारविवेचिनी)

प्रसङ्ग—नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में पहिला बाधक तस्य व्रतमित्युपक्रमः था, जिसका विवेचन हो चुका है। अब द्वितीय बाधक विकल्पप्रसक्ति के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

८०. द्वितीयबाधकम्

द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इत्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणत्। तथा हि—यद्यत्र वाक्ये नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्, तदा अनुयाजेषु 'ये यजामहे' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यात् इति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात्। प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात्।

अर्थ—नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने में दूसरा बाधक विकल्पप्रसक्ति (विकल्प की आपत्ति) है। विकल्पप्रसक्ति का उदाहरण **यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु** यह वाक्य है (इसका अर्थ है—यागों में **ये यजामह** मन्त्र का पाठ करना चाहिये, अनुयाजों में नहीं)। यहाँ यदि नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जाय तो विकल्प की आपत्ति होती है; अतः प्रकृत स्थल में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जाता, अपितु पर्युदास का आश्रय लेते हुये अनुयाज के साथ। इस विषय को इस प्रकार समझिये—यदि उक्त वाक्य में 'नञर्थ' का अन्वय 'प्रत्ययार्थ' से होगा तो 'अनुयाज'-संज्ञक यागों में **ये यजामहे** मन्त्र का प्रतिषेध होने लगेगा अर्थात् अनुयाजों में 'ये यजामहे' मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिए, यह अर्थ होगा। अनुयाजों में उक्त मन्त्र का प्रतिषेध तभी सम्भव है जब उसकी प्राप्ति पहिले से हुई रही हो, क्योंकि प्राप्त पदार्थ का ही तो प्रतिषेध हो सकता है। 'ये यजामहे' मन्त्र की प्राप्ति **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस शास्त्रवचन से होती है। शास्त्र से प्राप्त (मन्त्र आदि) पदार्थ का प्रतिषेध प्रतीत होने के स्थल में विकल्प ही माना जा सकता है, न कि शास्त्रप्राप्त का निषेध (बाध)। जिसकी प्राप्ति का मूल राग होता है (जैसे कलञ्जभक्षण) उसका शास्त्र (यथा—**न कलञ्जं भक्षयेत्**) द्वारा बाध हो जाता है; किन्तु रागप्राप्त पदार्थ की भाँति शास्त्रप्राप्त (जैसे—**ये यजामह** मन्त्र) पदार्थ का दूसरे शास्त्र (शास्त्रान्तर) से बाध हुआ नहीं माना जा सकता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये विकल्पप्रसक्तिरूपस्य बाधकस्य प्रतिषेधविघटनेन पर्युदासगमकत्वप्रदर्शनाय तद्विषयमुदाहरति—द्वितीयमिति। अत्र पर्युदासाश्रयणाय विकल्पप्रसक्तिमेवोपपादयति—तथा हीत्यादिना। स चेति। निषेधश्चेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—प्राप्तस्यैवेति। शास्त्रादेवेति। ब्राह्मणहननादेरिव रागतः प्राप्त्यसम्भवात्तस्य शास्त्रादेव प्राप्तिर्वाच्येत्यर्थः। उपपादितां विकल्पप्रसक्तिमुपसंहरति—शास्त्रप्राप्तस्येति। ननु यथा

हननादौ प्रवृत्तं पुरुषं हननादिप्राप्तिमूलभूतरागस्य बाधने ततो न हन्तव्य इत्यादिशास्त्रं निवर्तयति, तथा 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रादनुयाजेष्वप्यनुष्ठानकाले यजतित्वाविशेषादेव 'ये यजामह' इति मन्त्रस्य समुच्चारणे प्रवृत्तं पुरुषं तत्प्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शितशास्त्रस्य यजतिसामान्ये 'ये यजामह' इति मन्त्रप्रापकस्यानुयाजेषु बाधेन ततो 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रं निवर्तयत्वेति कथं न शास्त्रप्राप्तस्य बाधः स्यादित्यत आह—प्राप्तीति। शास्त्रेण बाध इति शेषः। तन्मूलशास्त्रस्येति। 'ये यजामह' इति मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्रात् 'यजतिषु ये यजामहं करोती'त्येवंरूपाच्छास्त्रान्तरेण 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोती'त्येवंरूपेण प्रदर्शितमन्त्रप्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शितशास्त्रस्य बाधायोगादित्यर्थः। दृष्टान्तस्त्वत्र व्यतिरेकी बोध्यः। तथा च—यथा हननादिप्राप्तिमूलरागस्य प्राप्तिनिमित्तकस्य शास्त्रेण बाधो भवति तथा मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्राच्छास्त्रान्तरेण मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधो न युक्तो, निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्राप्तिसापेक्षत्वेन तत्प्रापकस्याबाधकत्वादित्यनुपदं स्पष्टीभविष्यति मूल इति भावः। यद्वा, तन्मूलशास्त्रादिति पञ्चमी षष्ठ्यर्थे बोध्येति, तेनानुषङ्गविभक्तिविपरिणामयोर्न श्रमः कर्तव्य स्यात्। केचित्तु तन्मूलशास्त्रादिति बाधमूलशास्त्राद्बाधकरूपात्प्राप्तिमूलरागस्य यथा बाधस्तथा शास्त्रान्तरेण प्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधायोगादिति व्याचक्षते।

अर्थबोधिनी—विभागसङ्ख्या ७८ में यह बताया गया है कि नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में दो प्रकार के बाधक होते हैं—१. तस्य व्रतमित्युपक्रम एवं २. विकल्पप्रसक्ति। इनमें से पहिले प्रकार के बाध का विवेचन विभागसङ्ख्या ७९ में अभी किया जा चुका है। प्रकृत विभाग में विकल्पप्रसक्ति-संज्ञक द्वितीय प्रकार के बाध के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२४.१३.५) में यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु यह वाक्य प्राप्त होता है। श्रौतसूत्र में पठित होने के कारण इस वाक्य को 'शास्त्र' कहा जाता है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—'यागों में 'ये यजामह'-संज्ञक मन्त्र का पाठ करना चाहिए, अनुयाजों में नहीं।' वस्तुतः यजतिषु ये यजामहं करोति, नानुयाजेषु इसमें दो वाक्य हैं। वे इस प्रकार हैं—१. यजतिषु ये यजामहं करोति एवं २. नानुयाजेषु। पहिले वाक्य का अर्थ है—यागों में ये यजामह मन्त्र का पाठ करना चाहिये और दूसरे वाक्य का अर्थ है—अनुयाजसंज्ञक यागों में नहीं। यहाँ हम देखते हैं कि दूसरा वाक्य—नानुयाजेषु स्वयं में पूर्ण नहीं है। इसे पूर्ण रूप प्राप्त होने में प्रथम वाक्य से सहायता लेनी पड़ती है अर्थात् परवाक्य पूर्ववाक्याश्रित है। पूर्ववाक्य से सहायता प्राप्त करने पर परवाक्य का पूर्ण रूप इस प्रकार होगा—नानुयाजेषु ये यजामहं करोति। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुयाजसंज्ञक यागों में ये यजामह नामक मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिए।

अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति इस वाक्य में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता। कारण, नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर निवर्तना का बोध होगा और निवर्तना से अनुयाजसंज्ञक यागों में **ये यजामह** मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिए, यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार **ये यजामह** मन्त्र का निषेध होगा।[1] किसी पदार्थ का निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक होता है अर्थात् जिस किसी भी पदार्थ की प्राप्ति पहिले से हुई रहती है, उसी का निषेध होता है। उदाहरण के लिए **न कलञ्जं भक्षयेत्** वाक्य 'कलञ्जभक्षण' का निषेध कर रहा है; क्योंकि 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति राग द्वारा पहिले से हुई रहती है।

यह स्पष्ट ही है कि **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** वाक्य को **ये यजामह** मन्त्र की प्राप्ति **यजतिषु ये यजामहं करोति** वाक्य से हुई है। दोनों वाक्यों में एकवाक्यता है ही। दोनों वाक्य 'शास्त्र' संज्ञा से अभिहित होते हैं; क्योंकि वे शास्त्र श्रौतसूत्र में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय मानने पर **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस शास्त्र से प्राप्त **ये यजामह** मन्त्र का **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** इस शास्त्र से निषेध होने लगता है।

किन्तु शास्त्रप्राप्त पदार्थ का दूसरे शास्त्र से निषेध नहीं माना जा सकता। कारण, प्रकृत स्थल में परशास्त्र को स्वार्थबोधहेतु पूर्वशास्त्र की अपेक्षा होती है। इस प्रकार सापेक्ष होने के कारण परशास्त्र पूर्वशास्त्रप्राप्त मन्त्र का बाध कर सकने में असमर्थ है। हाँ, यदि दोनों शास्त्र परस्पर निरपेक्ष होते तो उन दोनों में बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध हो सकता था।[2] इसके अतिरिक्त रागप्राप्त पदार्थ का शास्त्र द्वारा निषेध हो सकता है, जैसे रागप्राप्त 'कलञ्जभक्षण' का बाध **न कलञ्जं भक्षयेत्** इस शास्त्र द्वारा हो जाता है; किन्तु रागप्राप्त पदार्थ का जैसे शास्त्र द्वारा बाध हो जाता है, वैसे शास्त्रप्राप्त का दूसरे शास्त्र से बाध नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति रागमूलक है, इसीलिये उसका **न कलञ्जं भक्षयेत्** से बाध हो जाता है; किन्तु इसी प्रकार जिस पदार्थ की प्राप्ति शास्त्रमूलक होती है, ऐसे 'ये यजामह' मन्त्र का निषेध शास्त्रान्तर **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** से नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह है कि प्रकृत स्थल में एक शास्त्र द्वारा पदार्थ का अपर शास्त्र द्वारा निषेध है और निषेध अमान्य है, तब मान्य क्या होना चाहिए? उत्तर है—विकल्प। अर्थात् जब शास्त्रप्राप्त का शास्त्र द्वारा निषेध हो रहा हो तो विकल्प मान्य होता है, निषेध नहीं। विकल्प के मान्यतास्थल में पाक्षिक अप्रामाणिकता रहती है। अतएव जब विकल्प की प्राप्ति (प्रसक्ति) होने लगती है तब पर्युदास का आश्रय लिया जाता है। पर्युदास का

---

१. प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्। (मीमांसान्यायप्रकाश)
२. शास्त्रयोर्हि बाध्यबाधकभावो यत्र परस्परनिरपेक्षता। (मीमांसान्यायप्रकाश)

आश्रय लेने पर नञर्थ से धात्वर्थ का अन्वय नहीं होता[1]। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि विकल्प की प्रसक्ति 'नञर्थ से प्रत्ययार्थ' के अन्वय होने में बाधक है।

प्रसङ्ग—पूर्वपक्षी एक ऐसा दृष्टान्त उपस्थित करता है, जिसमें शास्त्रप्राप्त का अपर-शास्त्र द्वारा निषेध पाया जाता है। इसी आधार पर वह प्रकृत स्थल में भी शास्त्रप्राप्त का शास्त्रान्तर से निषेध स्वीकार कराना चाहता है, इस विभाग में उसका खण्डन किया जा रहा है।

८१. निरपेक्षयोः शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावः

न च 'पदे जुहोति' इति विशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोति' इति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेषु' इत्यनेन 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इत्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रसक्त्यर्थं यजतिषु ये यजामहम्, इत्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

अर्थ—और यह भी नहीं कहना चाहिये (इति न वाच्यम्) कि जैसे—पदे जुहोति (गाय के सप्तम पद-चिह्न पर हवन करे) इस विशेष शास्त्र के द्वारा आहवनीये जुहोति (आहवनीय नामक अग्नि में हवन करे) इस सामान्य शास्त्र का बाध हो जाता है, उसी तरह नानुयाजेषु इस विशेष शास्त्र के द्वारा यजतिषु ये यजामहं करोति इस सामान्यशास्त्र का बाध मान लिया जाना चाहिये। कारण, परस्पर साकाङ्क्ष न रहने वाले दो शास्त्रों में ही बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध होता है। पदशास्त्र (पदे जुहोति) को अपने अर्थ का विधान करने के लिये आहवनीयशास्त्र आहवनीये जुहोति की अपेक्षा नहीं रहती है; किन्तु प्रकृत स्थल में निषेधशास्त्र (नानुयाजेषु) को निषेध्य (ये यजामह मन्त्र) की प्राप्ति के लिये यजतिषु ये यजामहं करोति इस शास्त्र की अपेक्षा रहती है; अतएव नानुयाजेषु यह शास्त्र निरपेक्ष नहीं है। इसलिये प्रकृत स्थल में दोनों वाक्यों में बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**ननु यथा पदाधिकरणकहोमविधायकविशेषशास्त्रेण आहवनीयाधिकरणहोमविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः क्रियते, तथाऽनुयाजेषु येयजामहमन्त्रप्रतिषेधकरूपविशेषशास्त्रेण यागसामान्ये तन्मन्त्रविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। न च वाच्यमित्यत्र हेतुमाह—परस्परेति। शास्त्रयोरेकविषये बाध्यबाधकभावे परस्परनिरपेक्षत्वं हेतुः पदशास्त्रस्य पदाधिकरणकहोमरूपस्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रनिरपेक्षत्वादनुयाजेषु येयजामहमन्त्रप्रतिषेधकशास्त्रस्य तत्र प्रतिषेध्यमन्त्रप्रसक्त्यर्थं यजतिसामान्ये तादृशमन्त्रविधीयक-**

(मीमांसान्यायप्रकाश)

---

[1] पर्युदासः स विज्ञेयः यत्रोत्तरपदेन नञ्।

सामान्यशास्त्रसापेक्षत्वाच्चेति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं प्रदर्शयति—पदशास्त्रस्येत्यादिना। तथा च प्रतिषेधशास्त्रस्य विशेषविषयत्वेन प्रबलत्ववद्विधिशास्त्रस्याप्युपजीव्यत्वेन प्रबलत्वमस्तीति न प्रतिषेधशास्त्रेण विधिशास्त्रस्यात्यन्तबाधो युक्त इति विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात्, स च न युक्त इत्युपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीति भावः।

अर्थबोधिनी—पूर्वपक्षी ऐसे दो शास्त्रवाक्यों को दृष्टान्तरूप में उपस्थित करता है, जिसमें मीमांसक भी बाध्य-बाधकभाव सम्बन्ध मानता है। ये दो वाक्य हैं—**आहवनीये जुहोति** एवं **पदे जुहोति**। **पदे जुहोति** वाक्य का अर्थ है—गाय के सप्तम पदचिह्न पर हवन करे। **आहवनीये जुहोति** इस सामान्य शास्त्र का बाध **पदे जुहोति** इस विशेषशास्त्र से माना जाता है। इस प्रकार **पदे जुहोति** यह विशेषशास्त्र बाधक हुआ माना जाता है और **आहवनीये जुहोति** यह सामान्यशास्त्र बाध्य। पूर्वपक्षी की युक्ति है कि इसी प्रकार **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस सामान्य शास्त्र का बाध **नानुयाजेषु** इस विशेषशास्त्र से क्यों न मान लिया जाय अर्थात् **यजतिषु ये यजामहं करोति** को बाध्य एवं **नानुयाजेषु** को बाधक शास्त्र मान लिया जाय।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की उक्त युक्ति का खण्डन करते हुये कहता है कि दो शास्त्रवाक्यों में से कोई एक-दूसरे का बाध तभी कर सकता है जब दोनों निरपेक्ष हों—दोनों स्वतन्त्ररूपेण अपने विधेय का विधान कर सकें। अभिप्राय यह है कि परस्पर निरपेक्ष शास्त्रवाक्यों में ही बाध्य-बाधकभाव हो सकता है। यदि दो वाक्यों में से कोई एक वाक्य अपने अर्थबोध के हेतु दूसरे पर आश्रित रहता है तो उन दोनों वाक्यों में बाध्य-बाधकभाव नहीं हो सकता है अर्थात् दोनों वाक्यों में से कोई भी एक-दूसरे का बाध करने में समर्थ नहीं हो सकता।

पदशास्त्र अर्थात् **पदे जुहोति** एवं आहवनीय शास्त्र अर्थात् **आहवनीये जुहोति** दो सर्वथा स्वतन्त्र निरपेक्ष शास्त्र हैं; अपने अर्थबोध में कोई भी एक वाक्य दूसरे पर आश्रित नहीं रहता है। इसलिये **आहवनीये जुहोति** इस सामान्यशास्त्र का **पदे जुहोति** इस विशेष शास्त्र द्वारा बाध हुआ मान लिया जाता है; किन्तु **यजतिषु ये यजामहं करोति** एवं **नानुयाजेषु** इन दोनों वाक्यों में से एक—**नानुयाजेषु** यह निषेधशास्त्र अपने निषेध्य—**ये यजामह** मन्त्र की प्राप्ति के लिये **यजातिषु ये यजामहं करोति** इस शास्त्र पर आश्रित रहता है, क्योंकि अप्राप्त का निषेध ही नहीं हो सकता और प्रकृत स्थल में—अनुयाज में **ये यजामह** मन्त्र के पाठ की प्राप्ति **यजतिषु ये यजामहं करोति** इसी से होती है। फिर दोनों शास्त्र परस्पर निरपेक्ष कहाँ हुये। इसीलिये **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस शास्त्र का बाध 'नानुयाजेषु' अर्थात् **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** इस वाक्य से नहीं हुआ।

प्रसङ्ग—शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का शास्त्र द्वारा प्रतिषेध होने लगने पर 'नञर्थ' से

सुबन्त के 'अर्थ' का अन्वय होता है, न कि 'प्रत्ययार्थ' का; इसी विषय का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है—

८२. बाधायोगोपसंहारः

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रमाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु 'ये यजामहम्' इत्यस्यानुष्ठाने 'नानुयाजेषु' इत्यस्य प्रामाण्यं सम्भवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विर-दृष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्। अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किन्तु नञोऽनुयाजसम्बन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव। इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु 'ये यजामहे' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः, नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्ष-णिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये 'ये यजामहे' इति न विधीयते, 'यजतिषु ये यजामहम्' इत्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किन्तु सामान्यशास्त्रप्राप्त—ये यजामह इत्यस्यानुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्वं विधीयते। यत् यजतिषु ये यजामहं करोति' तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

अर्थ—अतएव जब एक शास्त्र के द्वारा विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र से प्रतिषेध (निषेध) होने लगता है तब वहाँ प्रतिषेध (निषेध) न मानकर विकल्प माना जाता है, किन्तु यहाँ विकल्प मानना भी समीचीन नहीं है। कारण, विकल्पस्थल में पाक्षिक अप्रामाण्य की आपत्ति होने लगती है। इसे इस प्रकार समझें—जब अनुयाजों में ये यजामह मन्त्र का अनुष्ठान किया जायेगा तब नानुयाजेषु यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार पाक्षिक (एक पक्ष में) अप्रामाण्य की आपत्ति होने लगती है, जैसे—व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा इस विकल्पस्थल में जब 'व्रीहि का अनुष्ठान किया जायेगा तब यवैर्वा यजेत' यह यवशास्त्र अप्रामाणिक होता है और यवानुष्ठान करने पर व्रीहिशास्त्र अप्रमाण होता है। इसके अतिरिक्त विकल्पस्थल में दो अदृष्टों की कल्पना करनी होती है, क्योंकि अनुष्ठानपक्ष में एक अदृष्ट मानना होता है और अननुष्ठानपक्ष में दूसरा अदृष्ट कारण। विधि एवं निषेध दोनों से ही पुरुषार्थ (अदृष्ट) उत्पन्न हुआ माना जाता है। अतएव यहाँ प्रतिषेध का आश्रय नहीं लिया जा सकता; अपितु 'नञ्' का अनुयाज से सम्बन्ध मानकर पर्युदास का ही आश्रय लिया जायेगा।

तब (पर्युदास का आश्रय लेने पर) यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु इस वाक्य का अर्थ होगा—अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहं इति मन्त्रं कुर्यात् (अनुयाज के अतिरिक्त सभी यागों में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ करना चाहिये)। यहाँ पर लक्षणा द्वारा 'नञ्' शब्द का अर्थ 'अनुयाज के अतिरिक्त' लिया जाता है। इस प्रकार नानुयाजेषु अथवा यों कहा जाय कि प्रकृत स्थल में विकल्प की आपत्ति नहीं होती।

अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति इस वाक्य में 'ये यजमाह' मन्त्र का विधान नहीं किया जाता; क्योंकि ये यजामह मन्त्र की प्राप्ति तो यजतिषु ये यजामहं करोति इसी वाक्य से हो जाती है। अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति इस वाक्य में 'ये यजामह' मन्त्र का तो अनुवादमात्र होता है, न कि विधान। विधान होता है—मन्त्र की अनुयाजातिरिक्तस्थलता का अर्थात् यागों में जो ये यजामह मन्त्र का पाठ कर्तव्य है, वह अनुयाज के अतिरिक्त यागों में ही कर्तव्य है। इस प्रकार यहाँ केवल उक्त मन्त्र का पाठानुष्ठान अनुयाजातिरिक्त यागों में कर्तव्य रूप से विहित होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—बाधायोगमुपसंहरति—तस्मादिति। मन्त्रविधायकशास्त्रस्य तत्प्रतिषेधकशास्त्रेण बाधायोगाद्विहितस्यापि तेन प्रतिषेधे विकल्प एव स्यान्न बाध इत्यर्थः। ननु भवतु विकल्प एव तेन किं हीयत इत्यत आह—स चेति। विकल्पस्यायुक्तत्वे हेतुमाह—विकल्प इति। ननु विकल्पस्वीकारे कथं पक्षे शास्त्रस्याप्रमाण्यापात इत्यत आह—न हीति। यथा व्रीहिभिर्यागानुष्ठानसमये यवशास्त्रस्य न प्रामाण्यं भवति, तथा विधायकशास्त्रानुसारेण 'येयजामह' इति मन्त्रस्यानुयाजेषूच्चारणानुष्ठानसमये न तत्प्रतिषेधकशास्त्रस्य प्रामाण्यं सम्भवतीत्यर्थः। किञ्च विकल्पपक्षे हि द्विरदृष्टकल्पनाप्रसङ्गोऽपि स्यात्, विधिशास्त्राद्ध्येवमवगम्यते यदनुयाजेषु 'येयजामह' इति मन्त्रस्य करणे कश्चनोपकारो भवतीति प्रतिषेधशास्त्रादपि तत्र तदकरणात्कश्चनोपरो भवति। दर्शपूर्णमासयोरनृतवदनाकरणादिजन्योपकारवदित्यवगम्यते, तच्चोपकारद्वयमदृष्टरूपमिति द्विरदृष्टकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—द्विरदृष्टकल्पना चेति। तत्र हेतुमाह—विधीति। पुरुषार्थत्वादिति। विधानवत्प्रतिषेधस्याप्यदृष्टपुरुषार्थसम्पादकत्वादित्यर्थः। तस्मान्नानुयाजेष्वित्यादौ प्रतिषेधस्वीकारे विकल्पादिदोषापत्तेर्नात्र प्रतिषेधः समाश्रीयते, किन्तु नञो नामसम्बन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैवाश्रयणं क्रियत इत्युपसंहरति—अत इति।

एवं च 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'त्यस्य वाक्यस्यार्थमाह—इत्थं चेति। अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण चेत्यर्थः। अत्र पर्युदासस्य तात्पर्यविषयत्वेन करोतेरवतारितस्य नञोऽनुयाजशब्देन सम्बन्धसिद्धौ चेति यावत्। तत्र हेतुमाह—नञ इति। अनुयाजव्यतिरिक्तेऽनुयाजत्वाभावस्य सत्त्वाच्छक्यसम्बन्धसम्भवेन लक्षणोपपत्तिरिति भावः। अत्र प्रतिषेधपक्षं परित्यज्य पर्युदासपक्षस्वीकारस्य फलमाह—एवं चेति। ननु 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'त्यत्र 'ये यजामह' इति मन्त्रविधौ तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयत्वविधौ च वाक्यभेदः स्यादित्यत आह—अत्र चेति। सामान्यशास्त्रेति। 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति यजिसामान्ये तद्विधायकशास्त्रप्राप्तमेव 'ये यजामह' इति मन्त्रमनूद्य 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोती'त्यत्र तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयता विधीयत इत्यर्थः। तथा च यजतिष्वित्यादिसामान्यशास्त्रस्य विशेषापेक्षिणो नानुयाजेष्वित्यादिविशेषशास्त्रेणानुयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणादनुयाजव्यतिरिक्तयागेषु 'येयजामह' इति मन्त्रः कर्तव्यतया प्राप्तः।

अनुयाजेषु तु तस्य कर्तव्यत्वेनाप्राप्तत्वादप्रतिषिद्धत्वाच्च नात्र विकल्पप्रसङ्गोऽपि सम्भवति। लक्षणयानुयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणाच्च न नानुयाजेष्वित्यादिवाक्यस्याप्रामाण्यमपि भवति। तस्मात्पर्युदासाश्रयणे बाधकाभावात् स एव स्वीकर्तव्य इति भावः।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि **यजतिषु ये यजामहं करोति** एवं **नानुयाजेषु** अर्थात् **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति**—ये दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं; अतएव इन दोनों में बाध्य-बाधकभाव नहीं है अर्थात् **अनुयाजेषु येयजामहं न करोति** इस शास्त्र के द्वारा **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस शास्त्र का बाध नहीं होता।

जब शास्त्रों (शास्त्रवाक्यों) में से एक शास्त्र (शास्त्रवाक्य) अपने अर्थबोध के लिये दूसरे शास्त्र पर आश्रित होता है तब निषेधशास्त्र आश्रयशास्त्र का प्रतिषेध नहीं करता है। इसीलिए तो ऐसे स्थलों पर प्रतिषेध नहीं माना जाता; अपितु विकल्प का आश्रय लिया जाता है; किन्तु सर्वत्र विकल्प का भी आश्रय लेना समीचीन नहीं है। कारण, विकल्प मानने पर अनुष्ठेय पदार्थबोधक शास्त्र का पाक्षिक अप्रामाण्य होता है। उदाहरण के लिए **व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा** इस वाक्यप्रयोगस्थल को लिया जा सकता है। यहाँ वैकल्पिक दो वाक्य इस प्रकार समझने चाहिये—**१. व्रीहिभिर्यजेत, २. यवैर्यजेत**। यहाँ दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष हैं। यदि बाध्य-बाधकभाव माना जाय तो कौन किसका बाधक होगा? यह निर्णय न होने के कारण सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों परस्पर बाधित होने लगेंगे, किन्तु ऐसा होना उचित नहीं है। इसलिए यहाँ विकल्प माना जाता है। विकल्प मानने पर अपने-अपने स्थान पर दोनों अनुष्ठित होने के कारण कथञ्चित् दोनों के प्रामाण्य की रक्षा हो पाती है; परन्तु जब **यवैर्यजेत** को प्रमाण मानकर 'यव' (जौ) द्वारा यागानुष्ठान किया जायेगा, उस पक्ष (स्थिति) में यवशास्त्र (**यवैर्यजेत**) प्रमाण होगा, किन्तु जब **व्रीहिभिर्यजेत** को प्रमाण मानकर 'व्रीहि' द्वारा यागानुष्ठान किया जायेगा तब इस पक्ष (स्थिति) में 'यव'-शास्त्र अप्रमाण होगा। इस प्रकार एक पक्ष में यवशास्त्र अप्रमाण होगा; फलतः एक पक्ष में यवशास्त्र (**यवैर्यजेत**) का प्रामाण्य सिद्ध होता है और दूसरे पक्ष में अप्रामाण्य। अर्थात् **व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा** इस विकल्पस्थल में शास्त्र की पाक्षिक अप्रामाणिकता आपन्न होती है; परन्तु अगत्या उसे सहन कर लिया जाता है; क्योंकि वहाँ कोई और उपाय ही नहीं है।

यजतिषु ये यजामहं करोति इस सामान्यशास्त्र से सामान्यरूपेण सभी यागों में ये यजामह मन्त्र के पाठ की प्राप्ति होती है। यागसामान्य के अन्तर्गत 'अनुयाज'-संज्ञक याग भी है। अतएव **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस वाक्य को प्रमाण मानकर जब अनुयाजसंज्ञक यागों में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ किया जायेगा तब इस पक्ष में नानुयाजेषु यह वाक्य अप्रामाणिक होने लगेगा; क्योंकि इस वाक्य के अनुसार अनुयाजों

में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार **नानुयाजेषु** को प्रमाण मानकर यदि अनुयाज में **ये यजामह** मन्त्र का पाठ नहीं किया जायेगा तो **यजतिषु ये यजामहं करोति** यह शास्त्र अप्रमाण होने लगेगा; क्योंकि वह सभी यागों में प्राप्त है। अतः अनुयाज में भी **ये यजामह** मन्त्र के पाठ का विधान करता है। अतः इस अप्रामाण्यापत्ति के भय से विकल्प की स्वीकृति उचित नहीं मानी जा सकती। **व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा** इस स्थल के समान यहाँ विकल्पप्रसक्तिरूप आपत्ति को सह्य नहीं माना जा सकता। कारण, यहाँ उपायान्तर से काम लिया जा सकता है। वह उपाय है—पर्युदास का आश्रयण।

विकल्पस्थल में एक दूसरा दोष यह है कि दो अदृष्टों की कल्पना करनी होती है, जिससे गौरव दोष आपन्न होता है। दो अदृष्टों की कल्पना इसलिए करनी होती है कि शास्त्रप्राप्त—**ये यजामह** मन्त्र के अनुष्ठान से एक प्रकार का अदृष्ट उत्पन्न हुआ माना जायेगा और शास्त्रप्राप्त—**ये यजामह** मन्त्र के पाठाभाव से दूसरे प्रकार का अदृष्ट माना जायेगा। कारण, विधि एवं प्रतिषेध दोनों पुरुषार्थ होते हैं—पुरुष के लिए होते हैं अर्थात् दोनों अदृष्टार्थक होते हैं।

सारांश यह है कि 'नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय' मानने पर अन्त में जब दोषद्वयगर्भित विकल्प आपन्न होता है तब विकल्प से मुक्ति पाने के लिए 'नञर्थ' का प्रत्ययार्थ से अन्वय न करके सुबन्त **अनुयाजेषु** के अर्थ से अन्वय किया जाता है। इसी को पर्युदास कहा जाता है।

वैसे 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' होता है, परन्तु जब नञर्थ से अनुयाजार्थ का अन्वय किया जाता है तब 'नञ्' शब्द का लक्षणा से 'तदतिरिक्त' अर्थ माना जाता है। ऐसी स्थिति में **यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु** वाक्य का अभिप्रेत अर्थ इस प्रकार होगा—**अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहं कुर्यात्** अर्थात् 'अनुयाज के अतिरिक्त अन्य सभी यागों में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ करे'। इस प्रकार पर्युदास का आश्रय लेने पर विकल्प की प्रसक्ति भी नहीं होती और परस्पर बाध्य-बाधकभाव भी नहीं होता। इसीलिये उक्त शास्त्रों में से कोई अप्रामाणिक भी नहीं होता।

ध्यान रहे **नानुयाजेषु** अर्थात् **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** इस वाक्य द्वारा 'ये यजामह' मन्त्र का विधान नहीं किया जाता, मन्त्र का विधान तो **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस वाक्य से किया जाता है। **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** इस वाक्य में **ये यजामह** मन्त्र का अनुवादमात्र है, जहाँ-जहाँ मन्त्र का पाठ अपेक्षित है, वहाँ-वहाँ के लिये ही उसका विधान होता है, अनुयाज के लिए नहीं अर्थात् प्रकृत वाक्य से मन्त्र के 'अनुयाज के अतिरिक्त अन्य सभी यागों में' पाठ किये जाने का विधान है अथवा यों कहा

जाय कि मन्त्र के अनुयाजव्यतिरिक्त विषयकत्व का विधान है। उस मन्त्र के पाठ में अनुयाजभिन्न यागस्थलीयत्व का विधान है। इससे यह बोध होता है कि मन्त्र 'अनुयाजव्यतिरिक्तविषयक' है। अभिप्राय यह है कि **यजतिषु ये यजामहं करोति** से जो यह विधान किया जाता है कि 'यागों में ये यजामह मन्त्र का पाठ करे' वह अनुयाज के अतिरिक्त (यागों) में है यहाँ 'अनुयाज के अतिरिक्त (याग) में' केवल इतने पदार्थ का विधान **नानुयाजेषु** अर्थात् **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति** इस वाक्य से होता है।

प्रसङ्ग—अब 'पर्युदास उपसंहार से भिन्न होता है', इस विषय का निरूपण किया जा रहा है—

८३. पर्युदासोपसंहारभेदनिरूपणम्

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपादुपसंहारात् पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेत्, न। उपसंहारो हि तन्मात्रसङ्कोचार्थः। यथा—'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इति सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इति विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे सङ्कोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति ततो भेदः।

अर्थ—सामान्यशास्त्र से प्रांप्त पदार्थ का विशेष क्षेत्र में जो सङ्कोच होता है, उसे ही उपसंहार कहते हैं और पर्युदास भी, फिर दोनों में क्या अन्तर है? यह कथन उपयुक्त नहीं है। कारण, उच्चरितमात्र में विहित पदार्थ के सङ्कोच को उपसंहार कहा जाता है। उदाहरण के लिए **पुरोडाशं चतुर्धा करोति** (पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस सामान्य शास्त्र के द्वारा 'पुरोडाश के चतुर्धाकरण' का विधान किया जाता है और **आग्नेयं चतुर्धा करोति** (आग्नेय पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस विशेषशास्त्र के द्वारा चतुर्धाकरण का आग्नेय पुरोडाशमात्र में सङ्कोच किया जाता है, इसीलिए यहाँ पर उपसंहार माना जाता है; किन्तु केवल 'शब्दनिर्दिष्ट के अतिरिक्त' विषय में होने वाले सङ्कोच को पर्युदास कहते हैं। यही तो उपसंहार और पर्युदास में अन्तर है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु पर्युदासाश्रयणपक्षे 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति सामान्यशास्त्रेण यागमात्रे प्राप्तस्य 'ये यजामह' इति मन्त्रस्य 'नानुयाजेषु येयजामहं करोती'ति विशेषशास्त्रेणानुयाजव्यतिरिक्तविषये यागविशेषे सङ्कोचनात् पर्युदासस्योपसंहा-रादभेदापत्तिः स्यात्। सामान्ये प्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचस्यैवोपसंहारपदार्थत्वात्। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'ति पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्धाकरणस्य 'आग्नेयं चतुर्धा करोती'त्याग्नेये विशेषे सङ्कोच इत्याशङ्कते—नन्वेवमिति। 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'त्यनेन पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्धाकरणस्य 'आग्नेयं चतुर्धा करोती'त्यनेन च पुरोडाश-विशेषमात्रे सङ्कोचः क्रियते। प्रकृते तु यजतिष्वित्यादिना यजतिसामान्ये प्राप्तस्य 'येय-जामह' इति मन्त्रस्य नानुयाजेष्वित्यादिना यजतिविशेषादनुयाजरूपादन्यमात्रे यजतिविशेषे

सङ्कोच इत्युपसंहारात् पर्युदासस्य भेदः स्पष्ट एवेति परिहरति—नेत्यादिना। तन्मात्रसङ्कोचार्थ इति। सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रसङ्कोचार्थ इत्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—यथेति। तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति। सामान्यप्राप्तस्य विशेषादन्यमात्रसङ्कोचार्थ इत्यर्थः। इति ततो भेदादिति। एवमुक्तप्रकारेणोपसंहारात् पर्युदासस्य भेदान्न तयोरभेदापत्तिरित्यर्थः। अपरे तूपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपो विधेर्व्यापारविशेषः, पर्युदासस्तु 'पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञि'त्यभियुक्तोक्त्या प्रत्ययातिरिक्तेन नाम्ना धातुना च नञः सम्बन्धरूपः। तस्मादनयोस्तावत्स्वरूपतः स्पष्ट एव भेद इति न तयोरभेदापत्तिरित्याहुः।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में पर्युदास का विवरण आ चुका है। यह शङ्का हो सकती है कि क्या पर्युदास और उपसंहार एक ही नहीं हैं? क्योंकि सामान्य शास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष में सङ्कोच ही उपसंहार होता है और पर्युदास भी। उदाहरण के लिए **यजतिषु ये यजामहं करोति** इस सामान्यशास्त्र से प्राप्त **येयजामह** मन्त्र का **नानुयाजेषु** इस शास्त्र से अनुयाजव्यतिरिक्त यागों में सङ्कोच हो जाता है, इसी को पर्युदास कहते हैं और उपसंहार-स्थल में भी सामान्यशास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष में सङ्कोच किया जाता है। इस प्रकार दोनों स्थलों में स्थानसङ्कोच होता है; फिर दोनों में भेद नहीं माना जाना चाहिए, जैसा कि माना जाता है। इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए—पर्युदास और उपसंहार दोनों को एक नहीं समझना चाहिए; कारण, तन्मात्रसङ्कोच को उपसंहार कहते हैं अर्थात् विधेय पदार्थ के शब्द द्वारा निर्दिष्ट विषयमात्र में होने वाले सङ्कोच को उपसंहार कहा जाता है। उपसंहार के स्वरूप का ज्ञान उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायेगा।

पुरोडाशं चतुर्धा करोति इस सामान्यशास्त्र के द्वारा पुरोडाश के चार भाग किये जाने (पुरोडाशचतुर्धाकरण) का विधान होता है, तब **आग्नेयं चतुर्धा करोति** इस विशेषशास्त्र के द्वारा पुरोडाशचतुर्धाकरण का सङ्कोच आग्नेय, अग्नीषोमीय एवं ऐन्द्राग्न—इन तीन प्रकार के पुरोडाशों में से केवल आग्नेय पुरोडाश में ही होता है। **आग्नेयं चतुर्धा करोति** वाक्य में **आग्नेयम्** पद सुना जाता है और चतुर्धाकरणरूप विधेय पदार्थ का सङ्कोच भी आग्नेय पुरोडाशमात्र में ही किया गया है अर्थात् यहाँ पर सङ्कोच श्रुत (आग्नेय) पुरोडाशमात्र के लिए ही विहित होता है। श्रुतार्थमात्र में होने वाले सङ्कोच को ही ग्रन्थकार ने **तन्मात्रसङ्कोचार्थः** कहा है।

पर्युदास का स्वरूप इससे भिन्न है। पर्युदासस्थल में तन्मात्रसङ्कोच न होकर तदन्यमात्र में सङ्कोच होता है अर्थात् पर्युदासस्थल में विधेय पदार्थ का सङ्कोच निर्दिष्ट से इतर विषय में होता है। उदाहरण के लिए **यजतिषु ये यजामहं करोति** वाक्य से 'ये यजामह' मन्त्र का विधान किया जाता है एवं **नानुयाज़ेषु** वाक्य से अनुयाजेतरमात्र यागों में उस मन्त्र का सङ्कोच होता है। इस प्रकार यहाँ निर्दिष्ट तो 'अनुयाज' है; किन्तु सङ्कोच होता है

अनुयाजेतरमात्र में। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उपसंहार और पर्युदास दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं।

सारांश यह है कि स्थानसङ्कोच पर्युदास और उपसंहार इन दोनों स्थलों में होता है सही; परन्तु दोनों स्थलों में महान् पार्थक्य यह होता है कि उपसंहारस्थल में जहाँ विधान का स्थान कम होता है अर्थात् विधानस्थान की सङ्ख्या कम होती है एवं निषेधस्थान की ही सङ्ख्या अधिक हो जाती है, वहीं पर्युदासस्थल में इसके विपरीत निषेधस्थान की सङ्ख्या कम होती है और विधानस्थान की सङ्ख्या अधिक होती है। **आग्नेयं चतुर्धा करोति** के द्वारा जबकि पुरोडाश का चतुर्धाकरण आग्नेयपुरोडाश का ही चतुर्धाकरण होकर रह जाता है तो अन्य सभी पुरोडाशसाध्य याग पुरोडाशगत चतुर्धाकरण से वञ्चित होते हैं। वे यागस्थलीय पुरोडाश चतुर्धाकृत नहीं होते हैं, केवल आग्नेयपुरोडाश का ही चतुर्धाकरण होता है। इसलिये विधेय चतुर्धाकरण का स्थान अविधेय चतुर्धाकरण के स्थान से अल्प होने लगता है और **यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु** यहाँ पर जबकि 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ अनुयाजव्यतिरिक्त सभी यागों के लिए विहित होता है तो **येयजामह** मन्त्र का पाठ केवल अनुयाज में नहीं होता है उस पाठ की अविधेयता केवल एक अनुयाजमात्र स्थान के लिए होती है; किन्तु विधेयता एक अनुयाज को छोड़कर सभी यागों के लिए निर्धारित होती है। इसलिए **ये यजामह** मन्त्र के पाठ के विधान का स्थान उक्त अनुयाजात्मक एकमात्र स्थान से कहीं अधिक निर्धारित होने लगता है। अभिप्राय यह है कि विधान का स्थान ही व ाँ अधिक होता है। इसलिये पर्युदास एवं उपसंहार में इस प्रकार महान् अन्तर पाया जाता है। अतः उक्त प्रश्न उचित नहीं है कि दोनों स्थलों में सङ्कोच होने के कारण इन दोनों को अलग क्यों माना जाय।

प्रसङ्ग—कहीं-कहीं विकल्पप्रसक्ति होने पर भी निषेध मानना पड़ता है, इसी विषय पर विचार किया जा रहा है।

८४. कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावपि प्रतिषेधाश्रयणम्

कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणीयम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद् विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असम्भवात्। तथा हि—यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्। स च न सम्भवति, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रपदार्थेनान्वयस्तदाति-रात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोऽपि न सम्भवति, तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

अर्थ—कहीं-कहीं पर विकल्पप्रसक्ति होने पर भी पर्युदास मानना असम्भव हो जाता है; अतएव कोई उपाय शेष न रह जाने पर निषेध स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** यह वाक्य है। इस वाक्य का अर्थ है—'अतिरात्र नामक सोमयाग में षोडशी'-नामक पात्र को नहीं ग्रहण करना चाहिए।' **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** इस शास्त्र से विहित षोडशिग्रहण का निषेध **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** इस शास्त्र से होने लगता है; फिर भी यहाँ पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता। कारण, यहाँ पर्युदास का स्वीकार किया जाना सर्वथा असम्भव है। इस विषय का स्पष्टीकरण निम्नलिखित पङ्क्तियों में किया जा रहा है—

यदि प्रकृति स्थल में नञर्थ का अन्वय षोडशी शब्द के अर्थ के साथ किया जायेगा तो **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** वाक्य का अर्थ होगा—**अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति** अर्थात् अतिरात्र में षोडशी के अतिरिक्त किसी का ग्रहण करे। किन्तु ऐसा होना असम्भव है; कारण, **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** विधि द्वारा अतिरात्र में 'षोडशिग्रहण' का विधान किया गया है, षोडशिव्यतिरिक्त का नहीं। यदि नञर्थ का अन्वय 'अतिरात्र' पद के अर्थ के साथ किया जाय तो **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** का अर्थ होगा—**अतिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति** अर्थात् 'अतिरात्र को छोड़कर अन्य यागों में षोडशी का ग्रहण करना चाहिये।' यह भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष विधि का विरोधी है। इस प्रकार अन्य कोई उपाय न होने के कारण षोडशिग्रहण का ही निषेध माना जाता है। यह कहना कि यहाँ भी 'विकल्पप्रसक्ति'रूप दोष है, उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ का विकल्प इष्ट है—अनुकूल है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**किञ्च यत्र तु पर्युदास आश्रयितुं न शक्यते तत्र विकल्पप्रसक्तावपि निषेध एवाश्रीयत इत्याह**—कुत्रचिदिति। अनन्यगत्येति। **प्रतिषेधादन्यगतिविशेषस्य पर्युदासस्यासम्भवेनेत्यर्थः।** तत्रोदाहरणमाह—यथेति। **नातिरात्र इत्यादिवाक्ये प्रतिषेध एवाश्रीयते, न तु पर्युदासः। अत्र चातिरात्र इत्यादिशास्त्रेण प्राप्तस्य षोडशिनामकपात्रविशेषग्रहणस्य प्रतिषेधाद्विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासाश्रयणासम्भवादित्याह**—अत्र हीत्यादिना।

अत्र पर्युदासाश्रयणासम्भवमुपपादयति—तथा हीत्यादिना। अत्रेति। **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्रेत्यर्थः।** षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वय इति। **अतिरात्रे न षोडशिनं गृह्णातीत्यन्वय इत्यर्थः। एतदन्वयपक्षे वाक्यार्थमाह**—तदेति। **एतादृशवाक्यार्थासम्भवे हेतुमाह**—अतिरात्रे षोडशिनमिति। **अत्र पर्युदासोपपत्तयेऽन्वयान्तरमाह**—यदीति। अन्वय इति। **नञर्थस्येति शेषः। निरुक्तान्वयानुरोधेन वाक्यार्थबोधासम्भवेऽपि हेतुमाह**—तद्विधिविरोधादिति। **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यतिरात्रयागे षोडशिग्रहणविधायकप्रत्यक्षविधिविरोधादित्यर्थः।** उपपादितमुपसंहरति—अत इति। **उक्तदोषप्रसङ्गादस्मिन्वाक्ये प्रतिषेधादन्यासम्भवेन प्रतिषेध एव स्वीक्रियत इत्यर्थः। अत्र प्रतिषेधे सिद्धान्तिते विकल्पप्रसङ्गमाशङ्क्येष्टापत्त्या परि-**

हरति—न चेत्यादिना। **अत्रेदं बोध्यम्—यत्र तस्य व्रतमित्याद्युपक्रमो नास्ति, विकल्पा-प्रसक्तिश्च तत्र प्रतिषेधो भवति, यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति। यत्र तु विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासो नाश्रयितुं शक्यते तत्र प्रतिषेध एव स्वीक्रियते यथा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति।**

अर्थबोधिनी—विभाग सङ्ख्या ७८ में यह बताया गया है कि नञर्थ के प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय होने में दो प्रकार के बाधक होते हैं—१. तस्यव्रतमित्युपक्रमः एवं २. विकल्पप्रसक्ति। इनमें से प्रथम बाधक का विवेचन विभागसङ्ख्या ७९ में किया गया है एवं द्वितीय विकल्पप्रसक्ति का विवरण उसके बाद वाले विभागों में किया गया है।

नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने पर जहाँ विकल्प होने लगता है, वहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जाता। इस विषय का विवेचन विभागसङ्ख्या ८०, ८१ और ८२ में मिलता है। विकल्प में दोष होते हैं, अतएव विकल्प से बचने के लिये नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं करना चाहिये। फिर नञर्थ का अन्वय किससे करना चाहिए? उत्तर है—अभिप्रेत सुबन्त पद के साथ। अर्थात् ऐसी स्थिति में पर्युदास का आश्रय लिया जाता है।

किन्तु प्रकृत विभाग में ग्रन्थकार एक उदाहरण देकर इस विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं कि किसी-किसी स्थल में पर्युदास की सम्भावना न होने पर विकल्प होता है और नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय भी होता है।[1] वहाँ विकल्पप्रसक्ति को नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में बाधक नहीं माना जाता अर्थात् विकल्पप्रसक्ति होने पर भी ऐसे स्थलों में अगत्या निषेध स्वीकार किया जाता है। विकल्प वहाँ दोषरूप में न रहकर स्वीकार्यरूप में रहता है।

नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति एक निषेधवाक्य है; इसका अर्थ है—अतिरात्र नामक सोमयाग में षोडशी नामक सोमपात्र को नहीं ग्रहण करना चाहिए। एक अन्य विधिवाक्य **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** द्वारा अतिरात्रसंज्ञक सोमयाग में षोडशी नामक सोमपात्र के ग्रहण का विधान किया जाता है।

अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति इस स्थल में नञर्थ का अन्वय 'प्रत्ययार्थ' से होता है। इस प्रकार अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का निषेध होता है। **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** द्वारा अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का विधान भी होता है। इस अतिरात्र याग में षोडशी के ग्रहण का विधान होने के कारण विधि एवं अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का निषेध होने के कारण निषेध भी है। अतएव एक ही अतिरात्र में षोडशी का विधान एवं निषेध—दोनों

१. अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेर्निषेध एव स्वीक्रियते, विकल्पोऽपि स्वीक्रियते। (मीमांसान्यायप्रकाश)

प्राप्त होने के कारण विकल्प की प्रसक्ति हुई। यद्यपि विकल्प का होना दोष है; किन्तु यहाँ का विकल्प अपेक्षणीय है; क्योंकि और कोई उपाय नहीं रहता है।

कारण, यदि विकल्पप्रसक्ति को दोष मानकर विकल्प से मुक्ति पाने के लिये पर्युदास का आश्रय लिया जायेगा तो **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** यहाँ 'नञर्थ' का अन्वय या तो 'षोडशी के अर्थ' के साथ करना होगा अथवा 'अतिरात्र के अर्थ' के साथ। यदि 'नञर्थ' का अन्वय 'षोडशी के अर्थ' के साथ होगा तो **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** का अर्थ **अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति** (अतिरात्र में षोडशी के अतिरिक्त का ग्रहण करना चाहिए) होगा। किन्तु इस अर्थ का **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** इस प्रत्यक्षविधिविहित अर्थ से विरोध हो जाता है, क्योंकि यह विधि अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण का विधान करती है। एक शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र द्वारा निषेध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि नञर्थ का अन्वय 'अतिरात्र' इस पद के अर्थ के साथ किया जायेगा तो **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** वाक्य का अर्थ **अतिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति** (अतिरात्र याग के अतिरिक्त अन्य यागों में षोडशी का ग्रहण करना चाहिये) होगा। किन्तु **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** यह प्रत्यक्ष विधि 'अतिरात्र' में षोडशी के ग्रहण का विधान करती है। इस प्रकार शास्त्रप्राप्त का अपरशास्त्र द्वारा निषेध होने लगता है। जैसा कि पूर्व में निर्देश किया जा चुका है कि जहाँ एक शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्र से निषेध होने लगता है, वहाँ निषेध न मानकर विकल्प माना जाता है।[1] यही कारण है कि प्रकृत स्थल में विकल्प मानना पड़ता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता (अनन्यगत्या)।

यद्यपि विकल्प होने में दोष हैं, किन्तु प्रकृत स्थल में विकल्प दोष न होकर इष्ट (स्वीकार्य) है अर्थात् अभिप्रेत अपूर्व का जनक है। कारण, ऐसे स्थलों में विधि एवं निषेध द्वारा क्रमशः विहित एवं निषिद्ध दोनों पदार्थ अदृष्ट के उत्पादक माने जाते हैं। अग्रिम विभाग में इस विषय पर विचार किया जायेगा।

प्रसङ्ग—विकल्पस्थलीय विधि एवं निषेध—दोनों के द्वारा याग का सम्पादन होता है अर्थात् दोनों याग के उपकारक होते हैं, कोई एक भी अनिष्ट को नहीं उत्पन्न करता।

८५. प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः, तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ कलञ्जभक्षणादेः। तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

१ तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। (विभागसङ्ख्या-८२)

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्वि-कल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः। तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वात्।

अर्थ—न कलञ्जं भक्षयेत् इस निषेधस्थल से प्रकृत विकल्पात्मक के निषेधस्थल में इतनी विशेषता रहती है कि यहाँ विकल्प से किसी पदार्थ (षोडशिग्रहण) का निषेध होने पर भी यदि निषेध्य पदार्थ (षोडशिग्रहण) का अनुष्ठान भी किया जाय तो उससे अनर्थ (अनिष्ट) की उत्पत्ति नहीं होती है। कारण, विधि एवं निषेध दोनों यज्ञ के उपकारक होते हैं। जहाँ पर विकल्प नहीं होता (जैसे **न कलञ्जं भक्षयेत्**—इस निषेधस्थल में), निषेध्य पदार्थ की प्राप्ति राग से होती है और निषेध्य पदार्थ (कलञ्जभक्षण) के निषेध से निवृत्तिशील पुरुष का हित होता है, वहाँ जिस पदार्थ का निषेध हो रहा हो, वह (अनुष्ठित होने पर) अनर्थ का कारण होता है। जैसे **न कलञ्जं भक्षयेत्** इत्यादि स्थल में 'कलञ्जभक्षण' आदि। कारण, वहाँ भक्षण के निषेध से ही पुरुषार्थ होता है।

यह कहना उचित नहीं कि 'यतः शास्त्र द्वारा विहित दान, होम आदि का निषेध **दीक्षितो न ददाति न जुहोति** (दीक्षित व्यक्ति न दान करे, न हवन करे) इत्यादि वाक्य के द्वारा किया जाता है, अतएव यहाँ भी विकल्पप्राप्ति माननी चाहिए'। कारण, यद्यपि अन्य स्थलों में दान, होम आदि स्वयं पुरुषार्थ-रूप हैं एवं दान-होम आदि का निषेध पुरुषार्थहीन; किन्तु निषिद्ध पदार्थ (जैसे दान, होम) प्रकृत यागस्थल में अनर्थ का कारण होता है। उदाहरण के लिए स्वपत्नीगमन पुरुषार्थ-रूप है; किन्तु याग में स्वपत्नीगमन भी अनर्थजनक है। स्वपत्नीगमन के निषेध से याग का उपकार होता है; किन्तु उससे (स्वपत्नीगमन से) याग में वैगुण्य (हीनत्व) आ जाता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्र विकल्पप्रसङ्गेऽपि यदि षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेध एव स्वीक्रियते तदा प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वस्वीकारात् षोडशिग्रहणस्यापि कलञ्जभक्षणादिवत्प्रतिषिध्यमानत्वेनानर्थहेतुत्वादर्थत्वबाधापत्तिरित्याशङ्क्याह—इयांस्त्वित्यादिना। प्रतिषिध्यमानयोरनर्थहेतुत्वतदभावरूपो विशेष इत्यर्थः। विकल्पादिति। यत्र प्रतिषेधस्य विकल्पापादकत्वं तत्रैकस्य प्रतिषेधेऽपि न प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—विधीति। रागत एवेत्येवकारेण षोडशिग्रहणादिवच्छास्त्रेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते। अत्र निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वे हेतुमाह—तत्रेति। षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोरपि क्रत्वर्थत्वात्तत्र प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्। अत्र तु कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वं न तु तदनुष्ठानस्येति प्रतिषिध्यमानस्य कलञ्जभक्षणब्राह्मणहननादेरनर्थहेतुत्वमेवेति भावः।

ननु यथा शास्त्रप्राप्तस्य षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेधे विकल्पः स्वीकृतः, तथा शास्त्रप्राप्तदानादीनामपि प्रतिषेधे विकल्पापत्तिः स्यादिति दृष्टान्ताभिप्रायेणातिप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। स्वत इति। स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां पुरुषार्थत्वेनैव शास्त्रप्राप्तिः, क्रत्वर्थत्वेनैव च प्रतिषेध इति षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोस्तुल्यर्थत्वाभावेन न विकल्पापत्तिः। किञ्च रागतः प्राप्तस्य पुरुषार्थत्वेन प्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानस्य कलञ्जभक्षणादिवदनर्थहेतुत्वस्वीकारान्न दानहोमादेः प्रतिषिध्यमानस्याप्यनर्थहेतुत्वं सम्भवति, तस्य रागतः प्राप्तत्वाभावात्, कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधवत्तत्प्रतिषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावाच्चेति भावः। अत्रेदं बोध्यम्—ज्योतिष्टोमे श्रूयते 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचती'ति। तत्र यद्दानादिकं पुरुषार्थः यच्च क्रत्वर्थं तत्राप्युपदिष्टमतिदिष्टं च तत्सर्वं प्रतिषिध्यते। कुतः? न ददातीत्यादिवचनस्य सामान्यरूपत्वादित्याद्यः पक्षः। अग्निहोत्रदानादेरुपदिष्टस्यापि प्रतिषेधे सत्युपदेशो व्यर्थः स्यादिति ततोऽतिदिष्टं पुमर्थं चेत्येतदुभयमेव प्रतिषिध्यते क्रत्वर्थत्वेनोपदिष्टं दानादिकमनुष्ठेयमिति मध्यमः पक्षः। नित्याग्निहोत्रदानादिकं पुरुषार्थत्वेन यत्प्रत्यक्षश्रुतावुपदिष्टं ज्योतिष्टोमकालेऽपि प्राप्तं यच्चातिदिष्टं दानादिकं तयोरुभयोर्मध्ये प्रत्यक्षोपदिष्टनिषेधस्योपदिष्टमेव सन्निहितमिति पुमर्थस्यैवात्र निषेधः। न च नित्याग्निहोत्रदानादौ विधिनिषेधयोः प्रवृत्त्या विकल्पः शङ्क्यः, भिन्नविषयत्वात्। क्रत्वर्थो निषेधः क्रतुकाले तदनुष्ठानं वारयति। पुरुषार्थस्तु विधिः कालान्तरे तदनुष्ठापयति तस्मात्पुमर्थस्य निषेध इति। यदि प्रतिषेधपक्षे वाक्यभेदः शङ्क्येत, तर्हि पुमर्थदानादिव्यतिरिक्तं क्रतुकालेऽनुष्ठेयमिति पर्युदासोऽस्तु। ननु यत्र रागतः प्राप्तस्य प्रतिषेधः पुरुषार्थो भवति, तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वं यथा कलञ्जभक्षणादेः, क्रतौ स्वस्त्रीगमनप्रतिषेधस्य तु पुरुषार्थत्वाभावात्तत्र निषिध्यमानस्य स्वस्त्रीगमनस्य कथमनर्थहेतुत्वमित्यत आह—निषेधस्येति। यद्वा—निषेधस्येत्यादिपूर्वमेवान्वेति तत्र प्रसिद्ध्यर्थं तु यथा क्रतावित्यादिकमेव भवति। तथा च स्वतः पुरुषार्थेत्यादेरयमर्थः—स्वत इति क्रत्वङ्गत्वोपाधिमन्तरेण केवलस्वरूपत एव पुमर्थभूतानां दानादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि क्रत्वर्थत्वसम्भवान्निषिध्यमानस्य दानादेः क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वेनानर्थहेतुत्वमिति योजना। तथा च तेषामनुष्ठानस्य स्वतः पुरुषार्थत्वेऽपि क्रत्वनुष्ठानकालेऽपुरुषार्थत्वात्तत्र तेषामनुष्ठानस्य भवत्यनर्थहेतुत्वमिति भावः। तस्येति। क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेरित्यर्थः। क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः कलञ्जभक्षणादिवदनर्थरूपनरकादिदुःखाहेतुत्वेऽपि क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वेनानर्थहेतुत्वसम्भवाद्भवत्यत्रापि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमिति भावः। तस्मान्निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैव पुरुषार्थानुबन्धित्वमिति सिद्धम्।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में यह बतलाया गया है कि अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति एवं नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति इन वाक्यों द्वारा क्रमशः अतिरात्र में षोडशी के

ग्रहण का विधान एवं षोडशी के ग्रहण का निषेध विकल्प से प्राप्त होता है। वहाँ विधि एवं निषेध वैकल्पिक हैं, इसलिए विधिपक्ष में प्रतिषिध्यमान 'षोडशी का ग्रहण' अनर्थ का कारण नहीं होता है, भले ही **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** इस वाक्य के द्वारा षोडशी के ग्रहण का निषेध किया जा रहा हो। कारण, ऐसे विकल्पस्थलों में विधि एवं निषेध दोनों के द्वारा याग की निष्पत्ति होती है। विधिपक्ष में विधेय के अनुष्ठान द्वारा याग का उपकार होता है, उस काल में निषेध्य वाक्य द्वारा यागानुष्ठान में कोई हानि नहीं होती है। वह वाक्य याग में वैगुण्य नहीं उत्पन्न करता अर्थात् उस काल में निषेध निष्क्रिय रहता है— विधि का विरोध नहीं करता। इसी प्रकार निषेधपक्ष में जब 'षोडशी के ग्रहण' का निषेध किया जाता है तब **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** यह वाक्य निषेधवाक्य का विरोध नहीं करता है। प्रत्येक पक्ष दूसरे का विरोध न करता हुआ यागानुष्ठान का उपकारी होता है (**विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्**)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** इस निषेधवाक्य के द्वारा प्रतिषिध्यमान 'षोडशी का ग्रहण' अनर्थ का कारण नहीं बनता है, किन्तु अन्य स्थलों में जैसे **न कलञ्जं भक्षयेत्** इस स्थल में प्रतिषिध्यमान 'कलञ्जभक्षण' अनर्थ (नरकप्राप्ति) का कारण माना जाता है अर्थात् विकल्पप्रतिषेधपक्ष की यह विशेषता है कि प्रतिषिध्यमान अनर्थ का कारण नहीं होता है (**इयांस्तु विशेषो यद् विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्**। 'कलञ्जभक्षण' की तरह 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण' अनर्थकारी नहीं है कि जिससे व्यक्ति की षोडशिग्रहण में प्रवृत्ति न हो।[1]

प्रतिषिध्यमान पदार्थ उस स्थल में अनर्थ का कारण होता है, जहाँ पर निम्नलिखित सभी विशेषतायें पाई जाती हों—१. विकल्प न होता हो, २. पदार्थ की प्राप्ति राग से होती हो और ३. निषेध ही पुरुष के लिए इष्ट होता हो। इसका उदाहरण **न कलञ्जं भक्षयेत्** यह निषेधस्थल है। यहाँ कलञ्जभक्षण वैकल्पिक नहीं है; यदि वैकल्पिक होता तो **कलञ्जं भक्षयेत्** जैसी कोई विधि प्राप्त होती, किन्तु ऐसी कोई विधि नहीं मिलती। 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति पुरुषराग द्वारा होती है अर्थात् रागवश होकर पुरुष कलञ्ज का भक्षण करना चाहता है। 'कलञ्जभक्षण' का निषेध पुरुषार्थ माना जाता है, क्योंकि 'कलञ्जभक्षण' न करने से पुरुष नरकरूप अनिष्ट से बच जाता है। यही कारण है कि **न कलञ्जं भक्षयेत्** इस स्थल में प्रतिषिध्यमान 'कलञ्जभक्षण' नरकरूप अनिष्ट का प्रापक माना जाता है[2]।

---

१. यद्येवं कलञ्जभक्षणनिषेधषोडशिग्रहणनिषेधयोस्साम्यं तर्हि अतिरात्राधिकरणकषोडशिग्रहणस्याप्यनर्थहेतुतापत्तौ कदाचिदपि तत्र पुरुषप्रवृत्तेरनुदयात् तद्विधिवैयर्थ्यापत्तिरित्यत आह एतावानिति। (सारविवेचिनी)

(सारविवेचिनी)

२. नरकादिरूपानिष्टजनकत्वमित्यर्थः।

सोमयागप्रकरण में **दीक्षितो न ददाति न जुहोति** (तैत्तिरीय संहिता १.२.३ एवं मैत्रायणी संहिता ३.६.५) यह विधि प्राप्त होती है। यह विधि सोमयाग में दीक्षाप्राप्त यजमान को याग में दान, होम आदि करने से रोकती है।[1] दान, होम आदि शास्त्रप्राप्त हैं अर्थात् शास्त्र में दान-होम आदि का विधान किया गया है। शास्त्रप्राप्त पदार्थ का शास्त्र द्वारा जब निषेध होने लगता है तब विकल्प माना जाता है[2] तो क्या क्रतु (याग) में दान, होम आदि का सम्पादन भी उसी तरह अनर्थ को उत्पन्न नहीं करता है, जिस प्रकार **नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** वाक्य द्वारा षोडशी के ग्रहण के निषेध होने पर भी षोडशी का ग्रहण अनर्थ नहीं उत्पन्न करता है[3]?

यद्यपि दान, होम आदि का विधान शास्त्र द्वारा किया जाता है, फिर भी मीमांसक याग में इनका विकल्प स्वीकार नहीं करता। कारण, **दीक्षितो न ददाति न जुहोति** इस निषेध-वाक्य द्वारा प्रतिषिध्यमान दान, होम क्रतु (याग) में अनर्थ उत्पन्न करते हैं—वैगुण्य उत्पन्न करते हैं एवं इनके निषेध से क्रतु बिना किसी न्यूनता के सम्पन्न हो जाते हैं। वैसे शास्त्र द्वारा दान, होम आदि का विधान किया जाता है; अतएव वे अदृष्टजनक होते हैं, किन्तु क्रतु में उनका सम्पादन अनर्थकारी होता है। इस विषय को स्पष्टरूपेण एक-दूसरे उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। स्वस्त्रीगमन पुरुषार्थ है, रागप्राप्त है, शास्त्रप्राप्त भी है; फिर भी **न स्त्रियमुपेयात्** यह दर्शपूर्णमास प्रकरणपठित निषेधवाक्य क्रतु (याग) में स्वस्त्रीगमन का निषेध करता है। क्रतु में स्वस्त्रीगमन अनर्थ—वैगुण्य को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्रतु में स्त्रीगमन के बारे में विकल्प नहीं माना जा सकता। इसी तरह क्रतु में दान, होम आदि भी वैकल्पिक नहीं हैं।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि दान, होम आदि पुरुषार्थ हैं; जबकि दान, होम आदि का निषेध क्रत्वर्थ।

निषेधप्रकरण समाप्त

●

---

१. सौमिकीं दीक्षां प्राप्तो यजमानः यावद्दीक्षाविमोकं पुरुषार्थदानानि क्रतुमध्यपतितानि न कुर्यात्, एवं पुरुषार्थहोमाग्निहोत्रादीन्न कुर्यादित्यर्थः। (सारविवेचिनी)
२. तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। (विभागसङ्ख्या-६२)
३. देखिये—विभागसङ्ख्या-८५

(च) अर्थवादप्रकरणम्

प्रसङ्ग—विभाग संख्या १२ में वेद के पाँच प्रभेद—१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध एवं ५. अर्थवाद बतलाये गये हैं। इनमें से पूर्व चार प्रभेदों पर अभी तक विचार किया जा चुका है। अब अन्तिम प्रभेद—अर्थवाद का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

८६. अर्थवादलक्षणम्

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथाहि—अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

अर्थ—प्रशंसापरक अथवा निन्दापरक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद को लक्षणा द्वारा धर्मपरक माना जाता है। धर्म प्रयोजनवान् पदार्थ होता है[1]। अभिप्राय यह है कि अर्थवादवाक्य का अपने मुख्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रहता है, अतएव अर्थवादवाक्य लक्षणा द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेध्य पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। यदि अर्थवादवाक्य का अभिप्राय उसके अपने मुख्यार्थ में ही माना जायेगा तो अर्थवादवाक्य के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा। कारण, सम्पूर्ण वेद (आम्नाय) क्रियापरक होता है। अर्थवाद-वाक्य के व्यर्थ होने की आपत्ति को इष्ट (इष्टापत्ति) नहीं माना जा सकता। कारण, **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** यह अध्ययनविधि सूचित करती है कि १. सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए, २. सम्पूर्ण वेद का अभिप्राय प्रयोजनवान् अर्थ—धर्म में ही है और ३. अर्थवाद भी वेदगत होने के कारण क्रियापरक-रूप में स्वीकृत (उपात्त) होता है, अतएव अर्थवाद व्यर्थ नहीं होता है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—इदानीं सर्वार्थवादसाधारण्येनार्थवादरूपवेदभागस्य लक्षणमाह—प्राशस्त्येति। ननु 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेरर्थवादवाक्यात् प्राशस्त्यादेरप्रतीयमानत्वान्न तस्य प्राशस्त्यादिपरत्वं ततश्चासम्भाविलक्षणमिदमित्यत आह—तस्येति। तस्यार्थवादस्य लक्षणया प्राशस्त्यनिन्दान्यतरप्रतिपादकत्वसम्भवेन नेदं लक्षणमसम्भवीत्यर्थः। अर्थवादवाक्सं कर्तुः अर्थवादस्य फलवदर्थपर्यवसानमेवोपपादयति—तथा हीत्यादिना।

१. यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। (विभागसङ्ख्या-४)

प्राशस्त्यनिन्दितत्वे द्वे प्रतिपादयतीत्यन्वयः। नन्वर्थवादस्य स्वार्थमात्रपरत्वे कथमानर्थक्य-प्रसङ्गो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादेरर्थवादवाक्यात् क्षिप्रगामिवायुदेवतारूपार्थस्य प्रतीयमानत्वा-दित्यत आह—आम्नायस्येति। समस्तवेदस्य क्रियाप्रतिपादकत्वस्वीकारेण नास्य सिद्धा-र्थप्रतिपादकस्य स्वार्थमात्रपरत्वे सार्थक्यमुपपद्यत इति भावः। अर्थवादवाक्यानामनर्थक-त्वस्येष्टत्वामाशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—विधिवाक्य जिस पदार्थ का विधान करता है, उसे विधेय कहा जाता है और निषेधवाक्य जिस पदार्थ का निषेध करता है, उसे निषेध्य कहा जाता है। अर्थवाद वाक्य विधेय पदार्थ की प्रशंसा करता है और निषेध्य पदार्थ की निन्दा। अर्थवाद वाक्य का वाच्यार्थ विधेय की प्रशंसा अथवा निषेध्य की निन्दा नहीं होता। यह अर्थ तो लक्षणा द्वारा समझा जाता है।

अर्थवाद-वाक्य का अपने वाच्यार्थ में प्रयोजन नहीं रहा करता। उदाहरण के लिए **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** (वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है) इस अर्थवाद वाक्य पर विचार किया जा रहा है। इस अर्थवाद का अभिप्राय 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' इस अर्थ में नहीं होता; क्योंकि अर्थवाद वाक्य वेद का एक भाग है[१], सम्पूर्ण वेद अर्थात् विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद वेद के इन पाँचों भागों का तात्पर्य धर्म में रहता है। ये सभी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादन करते हैं[२] (**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**)। **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** यह अध्ययनविधि भी विधान करती है कि वेद का अध्ययन करना चाहिए अर्थात् वेद का अध्ययन सप्रयोजन है। वेद धर्म का प्रतिपादन करता है और धर्मानुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति होती है। यही वेद की प्रयोजनवत्ता है। अर्थवाद भी वेद के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार अर्थवाद को भी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादक होना चाहिए, अतएव अर्थवाद-वाक्य अभिधा द्वारा न तो स्वार्थपरक होता है और न ही क्रियापरक, किन्तु वहाँ लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करते हैं। विहित एवं निषिद्ध क्रियायें होती हैं अथवा क्रियाओं के अङ्गभूत अन्य पदार्थ। इस प्रकार अर्थवादवाक्य परम्परया क्रियापरक ही होते हैं अर्थात् धर्मपरक ही होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित एवं निषेध-निषिद्ध पदार्थों की क्रमशः प्रशंसा एवं निन्दा करते हैं ताकि श्रोता व्यक्ति विहित के सम्पादन से इष्ट की प्राप्ति कर सके एवं निषिद्ध से निवृत्त होकर अनिष्ट से बच सके। यही कारण है कि

---

१. अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः। (विभागसङ्ख्या-१२)

२. वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्। (विभागसङ्ख्या-५)

र्थवाद-वाक्य को निरर्थक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार उसकी निरर्थकता की पत्ति को इष्ट भी नहीं मान सकते।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार अर्थवाद के प्रभेदों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

८७. अर्थवादस्य द्वैविध्यम्

स द्विविधः, विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' त्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादेर्विधेयार्थप्राशत्यबोधकत-र्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इत्यादिनिषेधशेषस्य 'सोऽरोदीत्, यद् अरोदीत् द् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च शस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्। आलस्यादिव-ादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

अर्थ—अर्थवाद के दो प्रभेद हैं—१. विधिशेष एवं २. निषेधशेष। **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** यह एक विधिवाक्य है। इसका वाच्यार्थ है—ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति यु देवता के लिये सफेद पशु का आलभन करे। इस 'विधि का शेष' अर्थात् 'अर्थवाद' क्य है—**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**। इस अर्थवादवाक्य का वाच्यार्थ है—वायु सबसे धिक शीघ्रगामी देवता है। प्रकृत अर्थवादवाक्य की सार्थकता यह है कि वह उक्त विधि द्वारा विहित क्रिया की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार **बर्हिषि रजतं न देयम्** (याग में ांदी की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए) इस निषेधवाक्य का शेष अर्थात् अर्थवादवाक्य है—**सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्** (वह रोया और जो वह रोया वही तो रुद्र की रुद्रता अर्थात् इसीलिये तो रुद्र को 'रुद्र'—'रोने वाला' कहा जाता है)। इस निषेधशेष र्थवाद की यही सार्थकता है कि यह उक्त निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा का न कराता है। यह कहना भी उचित नहीं है कि 'प्रशंसा आदि का ज्ञान व्यर्थ होता है; सलिये अर्थवाद का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है। कारण, आलस्य आदि के प्रभाव से जो व्यक्ति यागादि में प्रवृत्त नहीं होता है, उसमें यागादि के प्रति प्रवृत्ति की उत्पत्ति विधेयार्थ की प्रशंसा के ज्ञान से होती है, इसीलिये अर्थवाद प्रयोजनहीन नहीं होते हैं। निषेध्य पदार्थ की निन्दा के ज्ञान से व्यक्ति में अनर्थमूलक क्रिया के प्रति निवृत्ति की उत्पत्ति होती है, इसलिए भी अर्थवाद (निषेधशेष) प्रयोजनहीन नहीं होते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**अर्थवादं विभजते**—स द्विविध इति। विधिशेष इत्यादि। सोऽपि चतुर्विधः—**प्रशंसा-निन्दा-परकृति-पुराकल्पभेदात्**। तत्र प्रशंसार्थवादो हि 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' इत्यादिः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादिर्मूलोदाहृतश्च। निन्दार्थवादस्तु 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्' 'अयुजं हि रजतं यो बर्हिषि ददाती'त्यादिः, सोऽरोदीदित्यादिर्मूलो-दाहृतश्च भवति। परेणेदं महता पुरुषेण कर्म कृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिरित्यु-

प्राशस्त्यनिन्दितत्वे द्वे प्रतिपादयतीत्यन्वयः। नन्वर्थवादस्य स्वार्थमात्रपरत्वे कथमानर्थक्य-प्रसङ्गो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादेरर्थवादवाक्यात् क्षिप्रगामिवायुदेवतारूपार्थस्य प्रतीयमानत्वादित्यत आह—आम्नायस्येति। समस्तवेदस्य क्रियाप्रतिपादकत्वस्वीकारेण नास्य सिद्धार्थप्रतिपादकस्य स्वार्थमात्रपरत्वे सार्थक्यमुपपद्यत इति भावः। अर्थवादवाक्यानामनर्थकत्वस्येष्टत्वामाशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना।

अर्थबोधिनी—विधिवाक्य जिस पदार्थ का विधान करता है, उसे विधेय कहा जाता है और निषेधवाक्य जिस पदार्थ का निषेध करता है, उसे निषेध्य कहा जाता है। अर्थवाद वाक्य विधेय पदार्थ की प्रशंसा करता है और निषेध्य पदार्थ की निन्दा। अर्थवाद वाक्य का वाच्यार्थ विधेय की प्रशंसा अथवा निषेध्य की निन्दा नहीं होता। यह अर्थ तो लक्षणा द्वारा समझा जाता है।

अर्थवाद-वाक्य का अपने वाच्यार्थ में प्रयोजन नहीं रहा करता। उदाहरण के लिए **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** (वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है) इस अर्थवाद वाक्य पर विचार किया जा रहा है। इस अर्थवाद का अभिप्राय 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है' इस अर्थ में नहीं होता; क्योंकि अर्थवाद वाक्य वेद का एक भाग है[1], सम्पूर्ण वेद अर्थात् विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद वेद के इन पाँचों भागों का तात्पर्य धर्म में रहता है। ये सभी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादन करते हैं[2] (**आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्**)। **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** यह अध्ययनविधि भी विधान करती है कि वेद का अध्ययन करना चाहिए अर्थात् वेद का अध्ययन सप्रयोजन है। वेद धर्म का प्रतिपादन करता है और धर्मानुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति होती है। यही वेद की प्रयोजनवत्ता है। अर्थवाद भी वेद के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार अर्थवाद को भी धर्म-यागादि क्रिया का प्रतिपादक होना चाहिए, अतएव अर्थवाद-वाक्य अभिधा द्वारा न तो स्वार्थपरक होता है और न ही क्रियापरक, किन्तु वहाँ लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करते हैं। विहित एवं निषिद्ध क्रियायें होती हैं अथवा क्रियाओं के अङ्गभूत अन्य पदार्थ। इस प्रकार अर्थवादवाक्य परम्परया क्रियापरक ही होते हैं अर्थात् धर्मपरक ही होते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि अर्थवादवाक्य विधिविहित एवं निषेध-निषिद्ध पदार्थों की क्रमशः प्रशंसा एवं निन्दा करते हैं ताकि श्रोता व्यक्ति विहित के सम्पादन से इष्ट की प्राप्ति कर सके एवं निषिद्ध से निवृत्त होकर अनिष्ट से बच सके। यही कारण है कि

---

१. अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः। (विभागसङ्ख्या-१२)

२. वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्। (विभागसङ्ख्या-५)

अर्थवाद-वाक्य को निरर्थक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार उसकी निरर्थकता की आपत्ति को इष्ट भी नहीं मान सकते।

प्रसङ्ग—अब ग्रन्थकार अर्थवाद के प्रभेदों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

८७. अर्थवादस्य द्वैविध्यम्

स द्विविधः, विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादेर्विधेयार्थप्राशत्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इत्यादिनिषेधशेषस्य 'सोऽरोदीत्, यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इत्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्। आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

अर्थ—अर्थवाद के दो प्रभेद हैं—१. विधिशेष एवं २. निषेधशेष। **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** यह एक विधिवाक्य है। इसका वाच्यार्थ है—ऐश्वर्यप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति वायु देवता के लिये सफेद पशु का आलभन करे। इस 'विधि का शेष' अर्थात् 'अर्थवाद' वाक्य है—**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता**। इस अर्थवादवाक्य का वाच्यार्थ है—वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है। प्रकृत अर्थवादवाक्य की सार्थकता यह है कि वह उक्त विधि के द्वारा विहित क्रिया की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार **बर्हिषि रजतं न देयम्** (याग में चाँदी की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए) इस निषेधवाक्य का शेष अर्थात् अर्थवादवाक्य है—**सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्** (वह रोया और जो वह रोया वही तो रुद्र की रुद्रता है अर्थात् इसीलिये तो रुद्र को 'रुद्र'—'रोने वाला' कहा जाता है)। इस निषेधशेष अर्थवाद की यही सार्थकता है कि यह उक्त निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा का ज्ञान कराता है। यह कहना भी उचित नहीं है कि प्रशंसा आदि का ज्ञान व्यर्थ होता है; इसलिये अर्थवाद का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है। कारण, आलस्य आदि के प्रभाव से जो व्यक्ति यागादि में प्रवृत्त नहीं होता है, उसमें यागादि के प्रति प्रवृत्ति की उत्पत्ति विधेयार्थ की प्रशंसा के ज्ञान से होती है, इसीलिये अर्थवाद प्रयोजनहीन नहीं होते हैं। निषेध्य पदार्थ की निन्दा के ज्ञान से व्यक्ति में अनर्थमूलक क्रिया के प्रति निवृत्ति की उत्पत्ति होती है, इसलिए भी अर्थवाद (निषेधशेष) प्रयोजनहीन नहीं होते हैं।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—**अर्थवादं विभजते**—स द्विविध इति। विधिशेष इत्यादि। **सोऽपि चतुर्विधः—प्रशंसा-निन्दा-परकृति-पुराकल्पभेदात्। तत्र प्रशंसार्थवादो हि 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' इत्यादिः, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'त्यादिर्मूलोदाहृतश्च। निन्दार्थवादस्तु 'असत्रं वा एतद्यदच्छन्दोमम्' 'अयुजं हि रजतं यो बर्हिषि ददाती'त्यादिः, सोऽरोदीदित्यादिर्मूलोदाहृतश्च भवति। परेणेदं महता पुरुषेण कर्म कृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिरित्यु-**

च्यते, यथा 'अग्निर्वा अकामयते'त्यादिः। परवक्तुकार्थादिप्रतिपादकोऽर्थवादः पुराकल्प इत्युच्यते। यथा 'तमशयद्धिया धियात्वावध्यासु'रित्यादिरिति। विधेयार्थप्राशस्त्येति। वायुः क्षिप्रगामित्वादतीव प्रशस्ता देवता भवत्यतस्तद्देवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयकर्मदेवतागतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्त्वमित्यर्थः। निषेध्येति। निषेध्यरजतनिन्दाप्रतिपादनद्वारा रजतनिषेधप्राशस्त्यपरत्वेन निषेधैकवाक्यत्वादर्थवत्त्वमित्यर्थः। एवम् 'अग्निर्वा अकामयते'त्यादेरप्यग्निदेवत्यो यागः पूर्वकालेऽग्निना कृतत्वात्प्रशस्तोऽत आधिक्यादिदानीन्तनैरप्यन्यैर्यजमानैरवश्यं कर्तव्यमिति विधेयकर्मगतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्त्वं बोध्यम्। एवमन्यत्रापि तत्तद्विधेयकर्मप्राशस्त्यादिप्रतिपादनद्वारेण तत्तद्विध्याद्येकवाक्यत्वेनार्थवत्त्वं विभावनीयम्। क्वचिदर्थवादस्य सन्दिग्धार्थनिर्णायकत्वेन प्रामाण्यं स्वीकृतम्। यथा 'अक्ताः शर्करा उपदध्या'दिति विधावुक्ता इति पदेन द्रवद्रव्यसामान्यं प्रतीयते। तच्च द्रव्यं किमिति सन्देहे 'तजो वै घृत'मित्यर्थवादरूपाद्वाक्यशेषाद्धृतमिति निश्चीयत इति। ननु विधेयकर्मप्राशस्त्यादिबोधस्य सुखदुःखाभावान्यतरविलक्षणत्वेन नार्थवादस्य तत्प्रतिपादनेनार्थवत्त्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्य परिहरति—न चेत्यादिना। तद्बोधस्योपयोगादिति। अर्थवादजन्यप्राशस्त्यादिबोधस्य विधेयकर्मानुष्ठानादावुपयोगादर्थवादस्यार्थवत्त्वमुपपद्यतइत्यर्थः।

अर्थबोधिनी—प्रकृतस्थल में ग्रन्थकार ने विशेष दृष्टिकोण से अर्थवाद के दो प्रभेद—१. विधिशेष एवं २. निषेधशेष बतलाया है। अगले विभाग में अर्थवाद के अन्य दृष्टिकोण से तीन प्रभेद बतलाये जायेंगे।

अर्थवाद के प्रथम प्रभेद का नाम 'विधिशेष' है। इसे विधिशेष इसलिये कहा जाता है कि यह विधेय की प्रशंसा द्वारा विधिवाक्य का पूरक होता है। विधि एवं अर्थवाद में एकवाक्यता होती है अर्थात् दोनों मिलकर एक पूर्ण वाक्य होते हैं।[1] विधि के द्वारा विधेय का विधान होता है; अतएव विधि मुख्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अर्थवादवाक्य विधिरूप मुख्य वाक्य का एक अवशिष्ट भाग ही है। इसलिये अर्थवाद को 'विधि का अवशिष्ट भाग' अर्थात् 'विधिशेष' कहते हैं। इसी प्रकार निषेधवाक्य की पूर्णता के लिए भी अर्थवाद की अपेक्षा होती है। इसलिये निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाले अर्थवाद को 'निषेधशेष' कहते हैं।

विधिशेष अर्थवाद का एक उदाहरण है—**वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** अर्थात् 'वायु सर्वाधिक शीघ्रगामी देवता है' यह वाक्य। इस अर्थवाद को **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** इस विधि का शेष (पूरक) वाक्य माना जाता है। **वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः** इस वाक्य का वाच्यार्थ यह है कि 'ऐश्वर्य को चाहने वाला व्यक्ति वायु देवता के लिये श्वेत पशु

१. विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। (जैमिनिसूत्र-१.२.७)

का आलभन करे' अर्थात् इस विधि के द्वारा वायु देवता के लिये 'श्वेतपशु के आलभन' का विधान किया जाता है। हो सकता है कि विधि को सुनने वाला व्यक्ति प्रमादवश उक्त विधेय के अनुष्ठान में प्रवृत्त न हो; अतएव विधेय में प्रवृत्त कराने के लिए **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** इस अर्थवाद वाक्य द्वारा विधेय की प्रशंसा की जाती है। वायुदेवता क्षेपिष्ठा है—शीघ्रगामी है, अतएव वह विधेय के अनुष्ठाता व्यक्ति को भूमि (ऐश्वर्य) भी शीघ्र प्रदान करता है। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद से विधेय की प्रशंसा की जाती है। विधेय की प्रशंसा द्वारा व्यक्ति को विधेयानुष्ठान में प्रवृत्त कराना विधिशेष का प्रयोजन है। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद का प्रयोजन विधेय की प्रशंसा के ज्ञान के द्वारा विधेय क्रिया में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त कराना है (**विधिशेषस्य विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्**)। विधेय की प्रशंसा को सुनकर आलस्ययुक्त व्यक्ति भी विधेयभूत यागादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है। अतएव विधेय के प्राशस्त्य का ज्ञान एवं ज्ञापन व्यर्थ नहीं होता है।

निषेधशेष-संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ को निन्दा का बोध कराना है (**निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्**)।

यहाँ निषेधवाक्य का उदाहरण **बर्हिषि रजतं न देयम्** है। इसका अर्थ यह है कि—'याग[1] में चाँदी (रजत) की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए'। निषेध्य—'रजतदान' की निन्दा इस निषेधशेष अर्थवाद से की जाती है—**सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्**। इस अर्थवाद के द्वारा यह ज्ञात होता है कि रोने से जो आँसू गिरे, वही रजत है, इसलिये यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा। इस प्रकार इस अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिद्ध—'रजतदान' की निन्दा होने पर निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित होती है।[2] यही कारण है कि प्रकृत अर्थवाद को विधिशेष कहते हैं।

सोऽरोदीत् इत्यादि वाक्य के अर्थ को ठीक तरह से समझने के लिये तैत्तिरीय संहितागत एक कथा का उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।[3] एक बार देवासुर संग्राम छिड़ा। देवताओं ने जब युद्ध के लिए प्रस्थान किया तब अपनी-अपनी बहुमूल्य

१. बर्हिश्शब्देन तद्विशिष्टो यागो लक्ष्यते। बर्हिषि यागे रजतं दक्षिणात्वेन न देयमित्यर्थः। (सारविवेचिनी)

२. सोऽरोदीत् इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद्रजतदाने गृहेऽपि रोदनप्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम्। (ऋग्वेदभाष्यभूमिका)

३. पुरा कदाचिद् देवासुराणां युद्धं प्रावर्तत। तत्र युद्धार्थं गच्छन्तो देवाः स्वीयमनर्घं रमणीयञ्च वस्तुजातमग्निसमीपेऽस्थापयन् यदि कदाचिदस्मानसुराः पराजयेयुः तदिदमस्माकं लोकयात्रार्थं भविष्यतीति। दृष्ट्वा च तदतिसुन्दरमूल्यं च वस्तुजातं लोभाकृष्टचित्तोऽग्निः तद् गृहीत्वा पलायत। ते च देवा असुरान् जित्वा प्रतिनिवृत्ताः यदा पलायितमग्निमन्वागच्छन् तदा, तमन्विष्य तत् सर्वमपि धनं बलादाच्छिन्दन्। तादृशधनवियोगजं दुःखमसहमानोऽग्निररुदत्। त एव घनीभूता रजतत्वमापन्नाः। (सारविवेचिनी)

वस्तुओं को अग्नि के पास न्यासरूप में यह सोचकर रख दिया कि यदि कदाचित् असुर विजयी हो जायँ तो इन वस्तुओं से लोकयात्रा का निर्वाह हो सकेगा; किन्तु उन बहुमूल्य सुन्दर वस्तुओं को देखकर अग्नि को लोभ आ गया और वह उन सभी वस्तुओं को लेकर भाग निकला। असुरों पर विजय प्राप्त करके जब देवता लौटकर आये तो क्या देखते हैं कि अग्नि सारी वस्तुओं को लिए भागा जा रहा है। देवताओं ने अग्नि का पीछा किया और उसे पकड़कर सारा सामान जबरदस्ती छीन लिया। उस सारी सामग्री के छिन जाने पर अग्नि को बड़ा आघात पहुँचा और वह रो पड़ा। रोते समय अग्नि (रुद्र) की आँखों से आँसू के जो बूँद टपके, वे ही घनीभूत होकर रजत के रूप में परिणत हो गये।

निषेधशेष अर्थवाद से निषेध वाक्य द्वारा निषिध्यमान रजतदान आदि पदार्थ की निन्दा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भी उपयोगी है; क्योंकि ऐसा बोध होने पर व्यक्ति निषिध्यमान-रजतदानादि से निवृत्त होकर रजतदानजन्य रोदनादि-रूप अनिष्टप्रसङ्ग से बच जाता है।

प्रसङ्ग—अब दूसरे दृष्टिकोण से अर्थवाद के अन्य प्रभेद किये जाते हैं।

८८. अर्थवादस्य त्रैविध्यम्

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः।। इति।

अस्यार्थः—प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूपः' इत्यादि। यूपा आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इति। अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादिः।

अर्थ—अर्थवाद के तीन प्रभेद होते हैं—१. गुणवाद, २. अनुवाद एवं ३. भूतार्थवाद। इन तीनों का लक्षण निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार पाया जाता है—

विरोधे गुणवादस्स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः।।

अर्थात् (अर्थवाद तीन प्रकार का होता है, अन्य प्रमाण से विरोध होने पर 'गुणवाद', अन्यप्रमाण से ज्ञात होने पर 'अनुवाद' एवं प्रमाणान्तरविरोध और प्रमाणान्तरप्राप्ति इन दोनों के अभाव[1] होने पर भूतार्थवाद होता है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जिस

१. तयोर्हानं तद्धानं तस्मादिति विग्रहः। प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोर्हानादित्यर्थः। (कौमुदी)

अर्थवाद का दूसरे प्रमाण से विरोध होता है, उसे 'गुणवाद' कहते हैं, जैसे—आदित्यो यूपः। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आदित्य एवं यूप के एक होने का बाध होता है, अतएव यहाँ लक्षणा के द्वारा यूप आदित्य के समान उज्ज्वल है—इस प्रकार उज्ज्वलत्व-रूप गुण का प्रतिपादन किया जाता है। 'अनुवाद' उस अर्थवाद को कहते हैं, जिसके अर्थ का ज्ञान अन्य प्रमाण से ही हुआ रहता है, यथा—**अग्निर्हिमस्य भेषजम्** (अग्नि सर्दी की दवा है) यह वाक्य। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व से ही यह सिद्ध हुआ रहता है कि अग्नि हिम का विरोधी है। 'भूतार्थवाद' उस अर्थवाद को कहते हैं, जिसका दूसरे प्रमाण से विरोध भी न हो रहा हो और जिसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ बोध अन्य प्रमाण से भी सम्भव न हो, जैसे **इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्** (इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र उठा लिया)। यह भूतार्थवाद का उदाहरण है।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—स पुनरर्थवादो गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति त्रिधा भवतीति पुनरपि तं त्रेधा विभजते—पुनस्त्रेधेति। तस्य त्रिविधत्वे वृद्धसम्मतिमुदाहरति—तदुक्तमिति। तद्धानादिति। तयोर्हानं तद्धानं तस्मादिति विग्रहः। प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोर्हानादित्यर्थः। समुदाहृतवृद्धसम्मतिं व्याचष्टे—अस्यार्थ इत्यादिना। इन्द्रो वृत्रायेति। अस्य वृत्रं प्रतीन्द्रवज्रोद्यमनीभावावगाहिप्रमाणान्तरस्यादर्शनान्न तद्बोधने प्रमाणान्तरेण विरोधः, नापि प्रमाणान्तरागवतार्थप्रतिपादकत्वं वृत्रं प्रतीन्द्रवज्रोद्यमनप्रतिपादकप्रमाणान्तरस्यादर्शनादिति भावः।

अर्थबोधिनी—पिछले विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन हुआ था, उसका आधार अर्थवाद का विधि एवं निषेध से सम्बन्धख्यापन था। जो अर्थवाद विधिविहित की प्रशंसा करता है, उसे 'विधिशेष' एवं जो निषेध—निषिध्य अर्थ की निन्दा का ख्यापन करता है, उसे 'निषेधशेष' कहा जाता है। प्रकृत विभाग में अर्थवाद का जो विभाजन प्राप्त होता है, उसका आधार यह है कि अर्थवाद के प्रतिपाद्य विषय की अन्य प्रमाणों से सिद्धि होती है या नहीं।

इस विभाग में अर्थवाद के तीन प्रभेद किये गये हैं—१. गुणवाद, २. अनुवाद एवं ३. भूतार्थवाद। जिस अर्थवाद के अभिधेय अर्थ का अन्य किसी प्रमाण से विरोध उत्पन्न हो रहा हो और इस प्रकार अर्थवाद के मुख्यार्थ के बाध हो जाने के कारण गुणरूप लाक्षणिक अर्थ लिया जा रहा हो, उस अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है। इसलिए श्लोक में गुणवाद का लक्षण **विरोधे गुणवादः स्यात्** किया गया है। 'गुणवाद' अर्थवाद का उदाहरण **आदित्यो यूपः** (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१.५.२) है। **आदित्यो यूपः** का वाच्यार्थ यह है कि यूप अर्थात् यज्ञस्तभ आदित्य है, किन्तु सभी व्यक्ति जानते हैं कि यूप आदित्य नहीं हो सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर **आदित्यो यूपः** का अर्थ

लक्षणा द्वारा 'यूप आदित्य के समान उज्ज्वल है' होता है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा यहाँ उज्ज्वलत्वरूप गुण विवक्षित है। इस रूप में गुण का 'कथन' (वाद) होने के कारण प्रकृत अर्थवाद को 'गुणवाद' कहा जाता है।

उस अर्थवाद को 'अनुवाद' कहा जाता है, जिसका प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से भी अवधारित अर्थात् निश्चित (ज्ञात) रहता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'अनुवाद' का लक्षण करते हुए कहा है—**प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः** अर्थात् अन्य प्रमाण या प्रमाणों से ज्ञात (अवगत) अर्थ का ज्ञान कराने वाले अर्थवाद को 'अनुवाद' कहते हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ अनुवाद के उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय संहिता (७.४.१८.२) प्राप्त **अग्निर्हिमस्य भेषजम्** वाक्य को उद्धृत किया गया है। 'अग्नि शैत्य की दवा है' अर्थात् शैत्य का विनाश करने के कारण अग्नि शैत्य का विरोधी है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से पहिले ही ज्ञात हुई रहती है, उसी ज्ञात विषय का ज्ञापन कराने के कारण **अग्निर्हिमस्य भेषजम्** वाक्य को अनुवाद कहा जाता है।

अर्थवाद का तीसरा प्रभेद है—भूतार्थवाद। 'भूतार्थवाद' शब्द का अर्थ है—यथाभूतवस्तु अर्थात् यथार्थ का अभिधान करने वाला वाक्य। जिस अर्थवादस्थल में न तो गुणवादस्थल की भाँति प्रमाणान्तरविरोध होता है अर्थात् जहाँ प्रमाणान्तरविरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण—इन दोनों का अभाव होता है, वहाँ 'भूतार्थवाद'-संज्ञक अर्थवाद माना जाता है (**प्रमाणान्तर-विरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः**)। श्लोक में 'भूतार्थवाद' का लक्षण **तद्धानात्** किया गया है। **तद्धानात्** का विग्रह **तयोर्हानात्** होगा और 'तयोः' का अर्थ **प्रमान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयोः** होता है। 'भूतार्थवाद' अर्थवाद का उदाहरण है—**इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्** (शतपथ ब्राह्मण-१.२.३.३)। इसका अर्थ यह है कि 'इन्द्र ने वृत्र का वध करने के लिए वज्र को उठा लिया। इस स्थल में न तो कोई ऐसा प्रमाण ही प्राप्त होता है, जो 'वृत्र का वध करने के लिए इन्द्र के वज्र उठाने' का विरोध कर सके और न ऐसा ही कोई प्रमाण प्राप्त होता है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र को उठाया'। उक्त प्रकार से यहाँ 'प्रमाणान्तरविरोध' एवं 'प्रमाणान्तरावधारण' दोनों का अभाव होने के कारण **इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्** को 'भूतार्थवाद' अर्थवाद का उदाहरण माना जाता है।

इस प्रकार अर्थवादविषयक विचार समाप्त हुआ।

●

(छ) उपसंहारः

प्रसङ्ग—धर्मभूत याग के प्रतिपादक वेद के पाँचों प्रभेदों—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद का विवेचन पूर्ण होने के पश्चात् अब ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

८९. उपसंहारः

एवं च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि निखिलवेदस्य साक्षात् परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।

इति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात् इति शिवम्।

अर्थ—इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि समस्त वेद साक्षात् अथवा परम्परया याग आदि धर्म का प्रतिपादक है। यागरूप धर्म का विधान जिस उद्देश्य से किया जाता है, यदि उसी उद्देश्य से उसका अनुष्ठान भी होता है तो उस अनुष्ठान से उद्दिष्ट फल की प्राप्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान के विधान होने में कोई प्रमाण नहीं है।' कारण, 'हे अर्जुन! जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' इस प्रकार श्रीमद् भगवद् गीतास्मृति (९.२७) ही इस विषय में प्रमाण है। जैमिनि ने प्रथम अध्याय के तृतीय पाद (स्मृतिचरण) में सिद्ध किया है कि वेदमूलक होने के कारण स्मृति भी प्रमाण होती है। इति शिवम्।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—एवमुपपादितं विध्यर्थवादादिरूपस्य पञ्चविधवेदस्य साक्षात्परम्परया यागादिधर्मप्रतिपादकत्वेनार्थवत्वमुपसंहरति—एवं चेति। उक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः। योऽयं यागादिरूपो धर्मो यत्स्वर्गादिफलमुद्दिश्य विहितः सोऽयं तादृशफलोद्देशेनानुष्ठीयमान एव तस्य फलस्य हेतुर्भवति, परमेश्वरसमर्पणमनीषयाऽनुष्ठीयमानस्तु विविदिषाश्रुतिचित्तशुद्धितत्त्वज्ञानप्राप्तिद्वारा परम्परया मोक्षहेतुरिति धर्मानुष्ठानस्य विविदिषाश्रुतिप्रामाण्यात् संयोगपृथक्त्वन्यायमाश्रित्य परमपुरुषार्थपर्यवसायित्वमुपक्षिपति—सोऽयमित्यादि। धर्मस्य परमेश्वरसमर्पणबुद्ध्यनुष्ठाने प्रमाणाभावमाशङ्क्य तत्र भगवद्वाक्यं

प्रमाणयति—न चेत्यादिना। न च तस्याः स्मृतेरप्रामाण्यमाशङ्क्यम्। तन्त्रे स्मृतिपादे स्थितम् 'अष्टकाः कर्तव्या' इत्यादिस्मृतिवाक्यं न धर्मे प्रमाणं पौरुषेयवाक्यत्वे सति मूलप्रमाणरहितत्वाद्विप्रलम्भकवाक्यवत्। अथ मूलप्रमाणवत्त्वात् वेदार्थ एव स्मृतिभिरुच्यत इति मन्येथाः तर्हि वेदेनैव तदर्थस्यावगतत्वादियं स्मृतिरनर्थिका स्यात्, तदानीमनुवादकत्वादप्रामाण्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—विमता स्मृतिर्वेदमूला वैदिकमन्वादिप्रणीतस्मृतित्वात् उपनयनाध्ययनादिस्मृतिवत्। न च वैयर्थ्यं शङ्कनीयम्। अस्मदादीनां प्रत्यक्षेषु नानावेदेषु विप्रकीर्णस्यार्थस्यैकत्र संक्षिप्यमाणत्वात्, तस्मादियं स्मृतिर्धर्मे प्रमाणमिति।

अर्थबोधिनी—वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद—इन पाँचों प्रभेदों का सम्पूर्ण विवेचन पिछले विभागों में किया जा चुका है। इस विभाग में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का उपसंहार किया है।

ग्रन्थकार ने उपसंहार में प्रायः उसी शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसका आपदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' में। आपदेव के शब्द ये हैं—

सोऽयं धर्मो यदुद्देशेन विहितः तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्या तदनुष्ठाने प्रमाणाभावः।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
तत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। इति स्मृतेः[१]।

यजेत स्वर्गकामः आदि विधियाँ मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद—ये सभी वेदभाग साक्षात् अथवा परम्परया यागरूप धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, सभी धर्मपरक हैं[२]। **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** यह विधि स्वर्ग को उद्देश्य करके 'ज्योतिष्टोम' यागरूप धर्म का विधान करती है। अतएव यदि ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान स्वर्ग के उद्देश्य से किया जाता है तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह मीमांसा का परम्परागत सर्वविदित सिद्धान्त है। इसी प्रकार अन्य यागों के अनुष्ठान के विषय में भी समझना चाहिए; किन्तु यदि किसी याग का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कोई व्यक्ति यह प्रश्न कर सकता है कि ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है—इस विषय में क्या प्रमाण है? इस स्थल पर प्रमाणरूप में गीता का **यत्करोषि यदश्नासि** इत्यादि श्लोक प्रस्तुत किया गया है। फिर प्रश्न यह किया जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता तो स्मृति है, किन्तु श्रौत यागों में श्रुतिवाक्य होते हैं, स्मृतिवाक्य नहीं; फिर स्मृति को यहाँ क्यों प्रमाण माना गया है? ग्रन्थकार का उत्तर है कि

---

१. मीमांसान्यायप्रकाश।
२. देखिये—विभागसङ्ख्या-५

स्मृति को श्रुतिमूलक होने के कारण प्रमाण माना गया है। जैमिनि ने प्रथम अध्याय के तृतीय पाद (स्मृतिचरण) में श्रुतिमूलक होने के कारण स्मृति को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन न तो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता रहा है और न ही निष्काम कर्म एवं मोक्ष में। निष्काम कर्म एवं मोक्ष आदि की धारणायें अपेक्षाकृत परवर्ती हैं। इस प्रकार निरीश्वर मीमांसा दर्शन भी परवर्ती विचारों से प्रभावित होकर सेश्वर हो गया। मङ्गलाचरण एवं उपसंहार के अतिरिक्त ग्रन्थ का कोई भी विवेचन सेश्वरता से प्रभावित नहीं है। इस प्रकार ग्रन्थ का विवेचन परम्परागत मीमांसा के सिद्धान्तों पर आधारित शुद्ध विवेचन है तथा मङ्गलाचरण एवं उपसंहार में सेश्वरता का पुट चढ़ा दिया गया है।

'इति' शब्द ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है और 'शिवम्' शब्द ग्रन्थ के रचयिता, पाठक आदि सबके लिए मङ्गलकामना व्यक्त करता है।

प्रसङ्ग—अन्त में ग्रन्थकार ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन बतलाते हैं—

९०. अर्थसंग्रहरचनाप्रयोजनम्

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्करविरचितपूर्वमीमांसार्थ-संग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्

●

अर्थ—अत्यन्त मेधावी लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनीय दर्शन के 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना इसलिए की कि बालकों (अल्पज्ञों) को भी सरलता से कर्ममीमांसा दर्शन का ज्ञान हो सके।

मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी—ननु किमनेन संग्रहनिरूपणेन विस्तृतभाष्यादिग्रन्थैरेव जैमिनीयन्यायार्थबोधसम्भवादित्याशङ्क्य संग्रहनिरूपणे स्वप्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्शयति—बालानामिति। तेषां विस्तृतत्वेन दुःखग्राह्यत्वान्न तैर्बालशब्दितपूर्वमीमांसासंस्कारशून्यानां जैमिनीयन्यायार्थबोधः सम्भवति। अनेन तु तत्तद्विस्तृतशास्त्रप्रवेशद्वारा सम्भवत्येव स इति भावः।

टीकाविहीने तु कृता हि टीका पूर्वे तु तन्त्रे खलु संग्रहेऽस्मिन्।
दुर्बोधशास्त्रे किमु मादृशानां दृष्ट्वापि दोषं न सहन्ति धीराः।।१।।
यदाज्ञया बन्धविमोक्षणं विना स्वधर्मसेवा फलहेतुतां गता।
प्रणौमि सोमं मृडमादिकारणं किमन्यदेवैर्जनफल्गुहेतुभिः।।२।।
मदीययत्नः शिवपादसेवया गुरोः कटाक्षैकलवेन लब्धया।
प्रयुज्यमानः शिवपादपङ्कजे स्वयं तु भूयान्मृडतोषकारणम्।।३।।

सुजनपदविनीतो दुर्जनाद् दूरनिष्ठो गुरुतरशिवभक्तस्तेन लब्धागमेक्षः।
श्रुतिमणिपदनिष्ठो भिक्षुरामेश्वराख्यः सुजननयनिवेशाय प्रबन्धं चकार।।४।।
गुणगणमणिसिन्धुः शम्भुपादैकभक्तो निगमशिरसि निष्ठो जातवैराग्यचित्तः।
श्रुतिनलिनविकासे भानुभावो य ईशस्तमिह महिमपूज्यं नौमि गोपं यतीन्द्रम्।।५।।

तस्मादेव गुरुवरादभीष्टलब्धं गोपालाश्रमपदगीयमानदैवात्।
येनोमाधवचरणाब्जसेविनात्र तं वन्दे महिमगुरुं विशालबुद्धिम्।।६।।
या काशी निखिलगुरोर्महेश्वरस्य प्राणान्ते सकलशिवप्रदा प्रसिद्धा।
यत्राहं सकलसुरेशलब्धतत्त्वस्तत्रेयं सुजनहितप्रदा निबद्धा।।७।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालेन्द्र(गोपालाश्रम)सरस्वती-श्रीपूज्यपादशिष्यश्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीशिष्येण श्रीरामेश्वर-शिवयोगिभिक्षुणा विरचिता 'मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी' चरमवर्णध्वंसमगात्

●

अर्थबोधिनी—लौगाक्षिभास्कर के समय में कर्ममीमांसा दर्शन ह्रासोन्मुख हो चला था। कर्ममीमांसा के बृहत्काय ग्रन्थों का अध्ययन एवं अध्यापन सामान्य रूप से कठिन हो रहा था, अतएव आवश्यकता इस बात की थी कि कर्ममीमांसा दर्शन का एक लघुकाय ग्रन्थ होता, जिसमें कर्ममीमांसा के पदार्थों का संक्षिप्त एवं सरल विवेचन होता और जिसको छात्र सरलता से समझ सकते। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की।

इस प्रकार महामहोपाध्याय लौगाक्षिभास्कर के द्वारा रचित पूर्वमीमांसा दर्शन का 'अर्थसंग्रह' नामक प्रकरणग्रन्थ समाप्त हुआ।

●

'अर्थबोधिनी' व्याख्या समाप्त

अर्थसंग्रहशब्दार्थकोष

(अङ्क द्वारा विभाग का निर्देश किया गया है। जिन शब्दों का अर्थ नहीं दिया गया है, उनका अर्थ प्रासङ्गिक विभागों में देखना चाहिए)।

अग्निमत्ता—अग्नि से युक्त होना, ६०

अग्निहोत्र—यागविशेष का नाम, १३, २०, २१, ५२, ७१

अग्नीषोमीय—पशुविशेष (४४, ४५), यागविशेष (५३, ५४)

अङ्ग—२२, ३४, ३७, ३८, ४०, ४३, ४५, ४७, ४८, ५०, ५५, ५६, ५७

अङ्गजात—अङ्गसमूह, ११

अङ्गत्व—अङ्ग होना, २३, २५-२९, ३१-३५, ३७, ४६, ५२

अतिदेश—प्रकृति याग के समान विकृति याग के सम्पादन करने का विधायक लौकिक 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' यह वाक्य ३०, ३६

अतिरात्र—यागविशेष का नाम, ८४

अतिव्याप्ति—लक्षण के तीन दोषों में से एक दोष, ४

अदृष्ट—४८, ६१

अदृष्टार्थ—४८, ६१

अदृष्टार्थत्व—५२

अधिकार—५८

अधिकारावधि—चार विधियों में से एक विधिविशेष, १७-१९, ५८

अध्ययनविधि—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य, ३, ६०, ८६

अध्ययनविधिसिद्धा—६०

अध्वर्यु—यजुर्वेद से सम्बद्ध ऋत्विक्, ४६

अनन्यगत्या—अन्य उपाय न होने के कारण, ६६, ८४

अनर्थ—अनिष्ट, ४, ७५

अनर्थहेतुत्व—अनर्थ का कारण होना, ८५

अनारभ्याधीत—३३

अनीक्षण—न देखना, ७९

अनीक्षणसङ्कल्प—न देखने का सङ्कल्प, ७९

अनुकूल—जनक, सहायक, ७, ८

अनुबन्ध्य—पशुविशेष, ५४

अनुयाज—विशेष यागों का नाम, ८०-८२

कल्प्यते—कल्पना की जाती है, ३०

कुत्रचित्—कहीं पर, ८४

क्रतु—याग, ६०, ८५

क्रत्वर्थत्व—याग के लिये उपयोगी होना, ८५

क्रम—स्थान, ४१, ४२। पूर्वापरभाव (५०, ५१, ५३, ५५)

क्रियमाण—अनुष्ठित किया जाता हुआ, ८९

क्रियार्थत्व—क्रियापरक होना, ८६

क्लृप्त—निश्चित, ५२

गम्य—बोध्य, समझे जाने योग्य, ९

गम्यत्व—समझे जाने योग्य होना

गार्हपत्य—एक प्रकार की अग्नि, ३०

गुण—अङ्ग, १४, १७, ३९, ६९-७१। देवता-रूप अङ्ग ७४। विशेषता, ८८

गुणवाद—अर्थवाद का एक प्रभेद, ८८

गुणविधि—विधि का एक प्रभेद, २२, ७१

चतुर्धाकरण—चार भागों में विभक्त करना, ८३

चित्रा—यागविशेष का नाम, ७०

चोदक—अतिदेशवाक्य, ३३, ५४

चोदना—५

जुहू—पात्रविशेष, ३३, ३८

जैमिनि—मीमांसासूत्रकार का नाम, २

जैमिनिन्य–मीमांसादर्शन, १

जैमिनीय—जैमिनिसम्बन्धी, ९०

ज्ञापक—बोधक, ९

ज्ञाप्य—बोध्य, ९

ज्योतिष्टोम—१७, १८, ५४

तत्प्रख्यशास्त्र—गुणख्यापक शास्त्र, २१

तत्प्रख्यशास्त्र—किसी शब्द के नामधेय होने में चार निमित्तों में से एक निमित्तविशेष, ६८, ७१, ७२, ७४

तद्व्यपदेश—६८, ७३

तस्य व्रतम्—उस ब्रह्मचारी का कर्तव्य, ७८, ७९

त्रिधा—तीन प्रकार का, ८८

त्रिविधा—तीन प्रभेदों वाली, २५

अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ